प्रेमीजीने बदरीनाथ धाम, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर एवं द्वारकापुरी आदि तीर्थ-स्थानों का विस्तृत-विवरण दिया है। इसके साथ ही इन तीर्थ-स्थानों की प्रमुख चट्टियों, कुण्डों, मठों, तालाबों, मन्दिरों का भी संक्षेप में वर्णन किया गया है। यह पुस्तक तीर्थ-स्थलों की ऐतिहासिक सूचनाएँ ही अधिक देती है। साहित्यिक यात्राएँ इसमें नहीं हैं। चित्रों के कारण यह सुन्दर बन पड़ी है। इसका एक उद्धरण दृष्टव्य होगा—

"चक्रतीर्थ या धर्मतीर्थ दर्भ शयन के निकट सेतु के तट पर, महेन्द्र पर्वत के निकट हैं। समुद्र पार करने के पूर्व यहीं राम-सेना टिकी थी। यहीं पर विभीषण की राम से प्रथम भेंट हुई थी। यहीं गालव ऋषि ने भगवान विष्णु के चक्र द्वारा राक्षस से छुटकारा पाया था"[1]

श्री यशपाल जैन

जीवनी—श्री यशपाल जैन का जन्म जिला अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) के विजयगढ़ नामक कस्बे में १ सितम्बर, सन् १९१२ ई० को हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा अपने कस्बे में ही हुई। अनन्तर प्रयाग विश्वविद्यालय से सन् १९३५ ई० में बी० ए० और सन् १९३७ ई० में एल-एल० बी० पास किया। लिखने की ओर रुचि सन् १९३१ ई० से ही उत्पन्न हो गई थी। सबसे पहली कहानी सन् १९३४ ई० में 'हंस' (बनारस) में छपी थी। उससे पूर्व एक सामाजिक उपन्यास लिखा, जिसकी पाण्डुलिपि खो गई। विश्वविद्यालय छोड़ने तक अनेक कहानियाँ, गद्यगीत तथा कविताएँ विभिन्न पत्रों में प्रकाशित हो चुकी थीं।

वकालत पास तो की, पर उस ओर रुचि न थी, अतः पत्रकारिता के क्षेत्र में आ गए। सन् १९३७ ई० में दिल्ली से प्रकाशित मासिक-पत्र 'जीवन-सुधा' का सम्पादन किया, जिसमें कहानियों एवं कविताओं के अतिरिक्त 'निराश्रिता' नामक उनका उपन्यास धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। सन् १९३८ ई० में प्रथम कहानी-संग्रह 'नव-प्रसून' के नाम से निकला। पत्र का 'लेखकांक' निकाला जो अपने ढंग का निराला था। कुछ काल तक 'सस्ता साहित्य-मंडल' के कार्य में योग देकर सन् १९४० ई० में 'मधुकर' पाक्षिक पत्र का सम्पादन करने टीकमगढ़ (विन्ध्य-प्रदेश) चले गए। वहाँ रहकर सम्पादन-कार्य करते हुए साढ़े आठ-सौ पृष्ठों का 'प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ' निकाला और उसके द्वारा अभिनन्दन-ग्रन्थों की प्रचलित परम्परा को नया मोड़ दिया। उस ग्रन्थ के अतिरिक्त श्री नाथूरामजी प्रेमी के दिवंगत पुत्र हेमचन्द्र मोदी के विभिन्न व्यक्तियों से संस्मरण लिखवाकर उनका संग्रह प्रकाशित करवाया। स्टिफन ज्विग के 'विराट' नामक उपन्यास का अनुवाद किया।

सन् १९४६ ई० में पुनः दिल्ली लौट आए। दिल्ली आकर फिर 'मंडल' में कार्य करने लगे। सन् १९५१ ई० में दूसरा कहानी-संग्रह 'मैं मरूँगा नहीं' हिन्दी-

---

१. प्रमुख भारतीय तीर्थस्थान—लक्ष्मीनारायण टण्डन 'प्रेमी', पृ० ३०

ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ। इन्होंने दो-ढाई सौ कहानियाँ लिखी हैं, अनेक व्यक्तियों के रेखाचित्र। आजकल आप सस्ता साहित्य-मण्डल, दिल्ली में ही कार्य कर रहे हैं।[1] जैनजी को हिन्दी से विशेष प्रेम है। ये बहुत-सी साहित्यिक संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। जैनजी सदैव इस बात के अभिलाषी रहते हैं कि उनके द्वारा समाज को कुछ-न-कुछ लाभ पहुँचता रहे। यशपालजी सिद्धहस्त लेखक हैं। साहित्य-सेवा के लिए ही उन्होंने अपना जीवन अर्पण किया है।

कृतियाँ—*स्वभाव से घुमक्कड़ होने के कारण जैनजी ने यात्रा-साहित्य पर भी* कुछ रचना प्रारम्भ कर दी हैं। अभी तक यात्रा-साहित्य पर आपके दो ग्रन्थ प्रकाशित हो सके हैं—'जय अमरनाथ' (१९५५) और 'उत्तराखण्ड के पथ पर' (१९५८)। इसके अतिरिक्त आपकी विदेशों के संस्मरणों की दो पुस्तकें 'रूस में पैंतालिस दिन' तथा 'यूरोप की परिक्रमा' शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली हैं।[2]

जय अमरनाथ—जैनजी की यह पुस्तक सस्ता साहित्य-मण्डल, दिल्ली से सन् १९५५ ई० म प्रकाशित हुई थी। ११८ पृष्ठों की इस पुस्तक में जैनजी ने दिल्ली से श्रीनगर, श्रीनगर से चन्दनपाड़ी, कुट्टाघाटी, शेषनाग, वायुजन होते हुए काश्मीर-स्थित सुविख्यात तीर्थ अमरनाथ की यात्रा का सम्पूर्ण वर्णन दिया है। मैदान, बन-पर्वत की चढ़ाई के साथ-साथ वहाँ के भव्य और निराले हिममण्डित दृश्यों एवं यात्रा-मार्ग की कठिनाइयों के रोमांचकारी अनुभवों का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। अन्त में अमरनाथ के धार्मिक महत्व पर भी प्रकाश डाला गया है। श्रीनगर के सौन्दर्य पर मुग्ध हो आप लिखते हैं—

"प्रकृति रानी ने अपना सब-कुछ यहाँ की भूमि और उसपर बसनेवाले नर-नारियों पर न्योछावर कर दिया है। यहाँ की नदियों, घाटियों, झरनों, झीलों, बाग-बगीचों आदि ने इसे वह रूप प्रदान किया है, जो विश्व में अनूठा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टिकर्ता ने किसी बहुत ही उदात्त क्षण में इस भू-प्रदेश का निर्माण किया होगा। प्रकृति सौन्दर्य की वह खान है।"[3]

उत्तराखण्ड के पथ पर—इस दूसरी पुस्तक का प्रकाशन भी सस्ता साहित्य-मण्डल, दिल्ली से सन् १९५८ ई० में हुआ था। ११५ पृष्ठों में यशपालजी ने हिमालय में स्थित भारत के दो प्रसिद्ध तीर्थों, केदार-बदरी की यात्रा का रोचक और सजीव वर्णन किया है। यात्रा के प्रथम-चरण में ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, देवप्रयाग, गुप्त काशी, गौरीकुण्ड और त्रियुगीनारायण तक ये गए। यात्रा के द्वितीय चरण में तुंग-नाथ, गोपेश्वर, बदरीनाथ आदि की यात्रा की है। इनका उद्देश्य न केवल धर्मचर्चा

---

१. लेखक के नाम आए यशपाल जैनजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. लेखक के नाम आए यशपाल जैनजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

३. जय अमरनाथ—यशपाल जन, पृ०१०८

है, वरन् पुरुष प्रकृति के सान्निध्य में क्या पा सकता है, यह बताने का उन्होंने बड़ा सफल प्रयत्न किया है। अनेक रोचक एवं रोमांचकारी संस्मरणों से पुस्तक भरी पड़ी है। बीहड़ मार्गों पर चलते हुए भी ऐसा लगता है जैसे प्रपातों का कलकल निनाद घर बैठे ही कानों में अमृत बरसा रहा हो। प्रकृति की छटा और महिमा के दर्शन करने को मन लालायित हो उठता है। इसमें यशपालजी ने २५ दिन तक बराबर पर्वतों, बनों, नदियों, प्रपातों तथा देश के विभिन्न भागों के सहस्रों यात्रियों के साथ यात्रा करने के बाद अपने हृदय पर पड़ी हुई यात्रा की छाप को भी अंकित करने का प्रयास किया है। पुस्तक के परिशिष्ट अंश में मोटर एवं पैदल यात्रा के मार्गों का भी निर्देश किया गया है तथा साथ ही पर्वतीय चट्टियों की जानकारी भी दी गई है। शंकराचार्य की साधना-स्थली की लावण्यमयी सुन्दरता को अंकित करते हुए जैनजी ने लिखा है—

"कहीं हरियाली अपनी शोभा दिखाती है तो कहीं नदी अपनी छटा से यात्रियों को मुग्ध करती है, कहीं पर्वत अपनी विशालता से लोगों को अपनी ओर खींचते हैं तो कहीं निर्झर अपना कल-कल निनाद सुनाते हैं, कहीं पक्षियों की चहचहाहट कानों में अमृत बरसाती है तो कहीं फूलों की मुस्कराहट दिल में गुदगुदी पैदा करती है। निहारे जाओ प्रकृति को, सराहे जाओ उसकी कला को।"[1]

श्री भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन'

जीवनी—आपका जन्म बिहार प्रान्त के हज़ारीबाग शहर में ४ अक्तूबर, सन् १९१२ ई० को हुआ था। आप कायस्थ हैं। आपका घर हज़ारीबाग जिले के बेहराडीह ग्राम में हैं। इनके पूज्य-पिता मुंशी चण्डीप्रसाद हज़ारीबाग सेण्ट कोलम्बस कालेजियेट स्कूल में शिक्षक थे। इनके जन्म के कुछ ही दिन बाद इनके पिताजी की बदली 'चतरा' हो गई, अतएव भुवनजी की बाल्यावस्था वहीं व्यतीत हुई। सन् १९२१ ई० के राष्ट्रीय आन्दोलन में इनके पिता ने नौकरी छोड़ दी और वे स्थानीय नेशनल हाई स्कूल में शिक्षक हो गए। कुछ दिनों बाद मुंशी चण्डीप्रसादजी ने अपनी बदली गिरीडीह नेशनल स्कूल में करवा ली, परन्तु वह स्कूल बहुत दिनों तक न चल सका और इस प्रकार भुवनजी के पिताजी की नौकरी जाती रही। पिताजी के साथ ही भुवनजी भी गिरीडीह चले आए थे और वहीं पढ़ रहे थे। पिताजी की नौकरी छूट जाने के कारण इनकी पढ़ाई भी ठीक न चल रही थी, अतएव सन् १९२२ में आप अपने चाचाजी के पास राँची जिले के खूँटी नामक स्थान पर चले गए। खूँटी में ही आपकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई और वहीं से इन्होंने इंगलिश मिडिल की परीक्षा पास की। इसके बाद पढ़ने के लिए राँची चले आए। रांची से ही इन्होंने मैट्रिक तथा इन्टर की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। बी० ए० की शिक्षा के लिए आपको

१. उत्तराखण्ड के पथ पर—यशपाल जैन, पृ० १०३

पटना जाना पड़ा। पटना में ही सन् १९३२ ई० में इनका विवाह मुंगेर जिले के श्री चतुर्भुजसहायजी की द्वितीय पुत्री श्रीमती कैलाशकुमारी देवी के साथ हुआ। १९३४ में आपने बी० ए० पास किया। बी० ए० उत्तीर्ण करने के पश्चात् कुछ दिन एकाउण्टेण्ट जनरल बिहार और उड़ीसा के कार्यालय में अपर डिवीज़न क्लर्क का कार्य किया। सन् १९४४ ई० में इन्होंने सबारडीनेट एकाउण्टस् सर्विस की परीक्षा उत्तीर्ण की। उस समय इस परीक्षा में बहुत कम लोग उत्तीर्ण होते थे। परीक्षा पास करने बाद आप २०० रुपए मासिक पर आफिस सुपरिण्टेण्डेण्ट हो गए। दो वर्ष तक आपने आडिट के सम्बन्ध में सारे बिहार का दौरा किया। सन् १९५० ई० में आप कण्ट्रोलर एवं आडिटर जनरल आफ इण्डिया द्वारा इंसपैक्शन एकाउण्टेण्ट के पद पर नियुक्त किए गए। इस पद पर भारत के विभिन्न एकाउन्टेन्ट जनरल के दफ्तरों की जाँच के लिए आपको उड़ीसा, नागपुर तथा भोपाल आदि का भ्रमण करना पड़ा। इसके पश्चात् आप पुनः राँची आए। सन् १९५२ में ६ महीने की पी० डब्ल्यू० डी० की ट्रेनिंग के लिए आप देहरी आनसोन भेजे गए। ट्रेनिंग से लौटने पर आप दामोदर उपत्यका निगम में असिस्टेन्ट एकाउन्टस् आफिसर बनाकर पंचेत डैम भेजे गए। एक वर्ष कार्य करने के बाद वे इसी डैम में एडीशनल एकाउन्टस् आफिसर हो गए। दामोदर उपत्यका निगम में तीन वर्ष कार्य करने के पश्चात् आपने ६ माह राँची में काम किया। राँची से आप जनवरी १९५७ में सिन्दरी खाद कारखाने के रेसिडेण्ट आडिट आफिसर होकर आए, जहाँ वे अभी तक हैं।[1]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़ने की भुवनजी की विशेष रुचि है। इसी कारण आपने पाँच महीने की छुट्टी लेकर योरुप का भ्रमण किया था। हिन्दी-साहित्य के आप अनन्य प्रेमी हैं। कहानी लिखने का आपको कालेज के दिनों से ही शौक था। इनकी कुछ कहानियाँ सामयिक पत्रों में निकली थीं। मई १९३५ में 'जीवन की झलक' नामक कहानी प्रेमचन्दजी ने हंस में छापी थी। मई '३५ के बाद प्रेमचन्दजी जब तक जीवित रहे तब तक हस की प्रतियाँ इनके पास निःशुल्क भेजते रहे।[2] हिन्दी यात्रा-साहित्य में भुवनजी की 'आँखोंदेखा यूरोप' नामक पुस्तक है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५८ ई० में सिन्दरी (बिहार) से हुआ है। २३२ पृष्ठों की इस पुस्तक में भुवनजी द्वारा यूरोप-यात्रा बड़े रोचक ढग से वर्णित की गई है। पाँच माह की छुट्टी लेकर यह यूरोप की यात्रा की गई है। इसमें आपने इंगलैण्ड, फ्रांस, स्विटज़रलैण्ड, आस्ट्रिया, इटली, नार्वे, डेनमार्क, स्विडन तथा फिनलैण्ड की यात्रा विशेष रूप से वर्णित की है। इस यात्रा-ग्रन्थ में आपने इंगलैण्ड के मौसम की अस्थिरता, लन्दन में भोजन-प्रबन्ध, मशीन की करामात तथा पार्लियामैण्ट भवन, गिरजाघर, सिनेमा, थिएटर, अजायबघर, विण्डसर का महल आदि का बहुत सुन्दर वर्णन प्रस्तुत

१. लेखक के नाम आए श्री भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन' के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. वही—लेखक

किया है। इस पुस्तक का कुछ अंश आपने अपने प्रवास में ही लिखा था। यात्रा-सम्बन्धी इनके कुछ अंग्रेजी लेख 'ए लीफ फ्राम माई यूरोपियन टूर डायरी' शीर्षक से 'सिन्दरी न्यूज' नामक मासिक पत्रिका में (सितम्बर, नवम्बर एवं दिसम्बर, १९५७ ई० में) प्रकाशित हुए थे। एक लेख उन्हीं दिनों 'सर्च लाइट' नामक दैनिक पत्रिका के मैगजीन खण्ड में भी प्रकाशित हुआ था।[1] वेनिस के सम्बन्ध में भुवनजी ने लिखा है :—

"वेनिस की सुन्दरता प्रकृति की देन नहीं है। यहाँ न तुषारमण्डित मनोमुग्धकारी पर्वत-प्रदेश ही है, न आकर्षक समुद्र तट। लहराती नदियों का सौन्दर्य भी इसके पास नहीं है। इनकी सारी सुन्दरता मनुष्य के बाहुबल द्वारा अर्जित है। विघ्न-बाधाओं से लड़ते हुए यहाँ के निवासियों ने कला और सौन्दर्य से परिपूर्ण एक ऐसा नगर निर्माण किया है जिसके जोड़ का नगर संसार में दूसरा कोई नहीं है। इसकी ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ, इसके अजायबघर तथा इसके नक्काशी के काम देखते ही बनते हैं।"[2]

श्री रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर

जीवनी—आपका जन्म काशी में सन् १९१४ ई० के अप्रैल मास में हुआ था। आपके पूज्य-पिता पंडित रघुनाथहरि खाडिलकरजी थे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा महाराष्ट्र विद्यालय, काशी में सन् १९१९ ई० से सन् १९२४ ई० तक हुई। माध्यमिक शिक्षा सन् '२४ से १९३१ तक हरिश्चन्द्र कालेज में हुई। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी से सन् १९३५ ई० में आपने बी० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की थी।

काशी के दैनिक 'आज' पत्रकारिता का कार्य खाडिलकरजी ने सितम्बर, १९३५ ई० से प्रारम्भ किया था। जनवरी, १९३६ ई० में सम्पादकीय विभाग में आपकी नियमित नियुक्ति भी हो गई। अगस्त सन् '४२ ई० में 'आज' के बन्द होने पर नए दैनिक पत्र 'खबर' का सितम्बर से दिसम्बर, १९४२ ई० तक आपने सम्पादन किया। इसके बाद नए दैनिक 'संसार' का भी सन् १९४३ से आपने सम्पादकत्व ग्रहण किया। आप अक्तूबर १९४३ ई० से जुलाई १९४४ ई० तक बम्बई में साप्ताहिक 'संसार' के सम्पादक और प्रेस के मैनेजर पद पर आसीन रहे। भारत-रक्षा कानून में आपको ३०० रु० का अर्थदण्ड भी देना पड़ा था। अगस्त, १९४४ ई० से जुलाई १९४५ तक एक वर्ष 'संसार' द्वारा लिए गए लखनऊ के हिन्दी दैनिक 'अधिकार' का भी सम्पादन आपके द्वारा हुआ। इसके अनन्तर संसार के कार्य-हेतु आप काशी वापस आए। इसके बाद ही सन् १९४७ ई० के सितम्बर मास में 'नेशनल

---

१. लेखक के नाम आए श्री भुवनजी के १७-९-५९ के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

२. आँखोंदेखा योरुप—भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन', पृ० १३७

हैराल्ड' के प्रबन्धकों द्वारा प्रकाशित नए हिन्दी दैनिक 'नव जीवन' के सम्पादकीय विभाग का संघटन करने के लिए आपको लखनऊ आना पड़ा। परन्तु सन् १६४८ ई० के अप्रैल मास में आप 'आज' में सहायक सम्पादक के पद पर पुनः वापस आ गए। जनवरी, १६५५ ई० में 'आज' के सम्पादक श्री पराड़करजी की मृत्यु होने पर उसके सम्पादक पद पर आपकी नियुक्ति हुई। फरवरी, १६५६ ई० से 'आज' की प्रकाशक समिति-ज्ञानमण्डल लिमिटेड के डाइरेक्टर भी आप ही हैं, साथ ही जनवरी १६५७ ई० से अब तक ज्ञानमण्डल के अध्यक्ष पद पर भी आप सुशोभित थे। 'आज' से त्यागपत्र देकर आप काशीवास कर रहे हैं।

आपने १६४५ ई० तक कई प्रमुख अंग्रेजी पत्रों में बनारस के संवाददाता का कार्य किया था। कुछ समय तक नागपुर के अंग्रेजी दैनिक 'नागपुर टाइम्स' में भी आपने कार्य किया था। सन् १६५३ ई० में काशी पत्रकार-संघ के आप अध्यक्ष रहे। सन् १६५४ ई० में उत्तरप्रदेशीय श्रमजीवी पत्रकार यूनियन के उपाध्यक्ष पद पर भी आप रह चुके हैं। १६५३ से आप उत्तरप्रदेशीय अर्द्धसरकारी प्रेस सलाहकार समिति में हैं। सन् '५४ से अखिल भारतीय सम्पादक सम्मेलन की स्थायी समिति और उसकी परराष्ट्र सम्बन्धी उपसमिति के भी आप सदस्य हैं। सन् '५४ से ही रेडियो पर सामयिक समाचारों के समीक्षक भी आप है। सन् १६५६ एवं १६५७ में क्रमशः आप पूर्वी उत्तरप्रदेश (प्रथम एवं द्वितीय) पत्रकार सम्मेलन बलिया, आजमगढ़ के अध्यक्ष थे।[1] हिन्दी के प्रति आपको अनन्य प्रेम है और इसी कारण हिन्दी पत्रकारिता में आप सराहनीय कार्य कर रहे है।

कृतियाँ—साहित्य के क्षेत्र में अभी तक आपके परमाणु बम, रेडियो, कीमती आँसू, कल की दुनियाँ, गांधी हत्याकाण्ड, हाइड्रोजन बम, आधुनिक पत्रकार कला, गंगा की आधुनिक कहानी, हालैंड में पचीस दिन और बदलते रूस में नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से केवल 'हालैंड में पचीस दिन' तथा 'बदलते रूस में' यात्रा-विवरण हैं।

हालैण्ड में पचीस दिन—१५६ पृष्ठों की पुस्तक है, जो ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी से सन् १६५४ ई० में प्रकाशित हुई थी। उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा यह पुरस्कृत भी हो चुकी है। इसमें खाडिलकरजी ने डच सरकार द्वारा दिए गए निमन्त्रण पर की गई यात्रा का विवरण दिया है। यह यात्रा इन्होंने भारतीय पत्रकार दल के साथ की थी। इस यात्रा के लिए इन्हें ३१ मार्च सन् १६५४ ई० को वाराणसी से कलकत्ता के लिए प्रस्थान करना पड़ा था। वहाँ से आम्सटर्डम होते हुए आप हालैण्ड गए थे। हालैण्ड में यात्रा के लिए निकलने पर देखे और समझे हुए विभिन्न चित्रों और तथ्यों को यथाक्रम पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। विशेष रूप

---

१. लेखक के नाम आए खाडिलकरजी के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

से यूट्रेक्ट औद्योगिक मेले, सार्वजनिक समारोह, सुन्दरतम शहर राटरडम, विद्या-केन्द्र लायडन, रेडियो नगरी हिल्वर सम, आर्न हेम, जाइडर बाँध, सबसे बड़ा नगर आम्सटर्डम, फूलों की नगरी कुकेनहाफ, ग्राइण्डहावन का वर्णन किया गया है। फूलों की नगरी कुकेनहाफ का वर्णन प्रस्तुत करते हुए खाडिलकरजी ने लिखा है—

"आज दिन भर घने बादल छाए रहे। वर्षा भी बीच-बीच में हो जाती थी—पर फूलों के बगीचे के बीच मन वर्षा से अप्रसन्न नहीं था। सावन का असली मज़ा आज हमें आया। कुकेनहाफ का पुष्प-सौन्दर्य सचमुच देखनेवाली चीज़ है, पर यह सौन्दर्य देखकर मन में हज़ारों तरह के विचार भी उठे। मनुष्य ने फूलों के बीजों पर हज़ार तरह के प्रयोग कर और उनमें संकर कर यह सौन्दर्य पैदा किया। इसमें काले इलियों का भी सौन्दर्य था और श्वेत शुभ्र ट्यूलियों का भी था। विचार आया कि सौन्दर्य क्या संकर में ही हो सकता है? इस संकर सौन्दर्य से प्रकृति का सौन्दर्य कम ही कहना होगा।"[1]

बदलते रूस में—पुस्तक का प्रकाशन ज्ञानमण्डल, वाराणसी से सन् १९५८ ई० में हुआ है। १४४ पृष्ठों की इस पुस्तक में खाडिलकरजी ने अपनी रूस-यात्रा का वर्णन किया है। यह रूस की यात्रा केवल आठ दिन के लिए ही की गई थी। पुस्तक दो खण्डों में विभाजित की गई है। प्रथम खण्ड में यात्रा का वर्णन है और दूसरे खण्ड में रूस के पिछले ४० वर्षों का इतिहास देने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक रोचक है, पर अधिक साहित्यिक नहीं। भारत और रूस के बदलते सम्बन्ध के विषय में उन्होंने लिखा है—

"सम्पन्न अमेरिका रूस से वैसे ही डर रहा था जैसे कोई रईस रातभर तस्करों के भय से जागता ही रहता है। कम्युनिज्म का होना उसे दिन-रात डरा रहा था। जो भी पंचाक्षरी कहता है कि हम इस भूत को भगा सकते हैं उसको वह अपना डालर मुक्त हस्त से लुटाने लगा। पर एशिया अफ्रीका के गरीब देशों की तरफ डालर इस तरह फेंकने लगा जैसे कोई चिड़ियों के झुंड के सामने दाना फेंकता है।"[2]

श्री राजवल्लभ ओझा

जीवनी—आपका जन्म सन् १९१६ ई० में उत्तरप्रदेश के पूर्वी सीमान्त के निकट बलिया जिले में हल्दी थाने के अन्तर्गत गंगा तट पर स्थित हुलास छपरा नामक छोटे-से ग्राम के एक सम्पन्न एवं विनम्र सरयूपारीण ब्राह्मण-परिवार में होलिकोत्सव के दिन हुआ था। आपके पूज्य पिता का नाम पंडित रामप्रसाद ओझा

---

१. हालैंड में पचीस दिन—रा० र० खाडिलकर, पृ० ७७
२. बदलते रूस में—रा० र० खाडिलकर, पृ० ८५

और पूज्य माता का नाम शिवा था। पिताजी पुलिस-विभाग के कार्यकर्ता होने के साथ-साथ ईमानदार, कर्त्तव्यपरायण और मानवीय गुणों को ग्रहण करनेवाले व्यक्ति थे। उनके इन गुणों का पूर्ण प्रभाव ओझाजी पर भी पड़ा है। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा ग्रामीण पाठशाला में ही हुई। हिन्दी और अंग्रेजी मिडिल की सातवीं कक्षा के विद्यार्थी जीवन-काल में ही क्रमशः आपके माता-पिता का हैजा और मियादी ज्वर में देहावसान हो गया। पिताजी द्वारा दत्त आदर्श के कारण ही आप जनकवि तुलसीदास तथा जन-साहित्य में विशेष रुचि ले सके। बाल्यकाल (१९२०-२१ ई०) से ही ये राष्ट्रीय आन्दालनों से प्रभावित हुए और उसीके फलस्वरूप (१९३०-३१ ई०) के आन्दोलन में नेताओं के भाषण सुनने के लिए छात्रावास छोड़कर जाने लगे। कई अवसरों पर हड़ताल कराने के आरोप में बलिया के राजकीय हाई स्कूल से इन्हें निष्कासित भी किया गया। इन घटनाओं से देशभक्ति की भावना अधिक पुष्ट हुई। परिवार के सदस्य यही सोचते थे कि गांधी के आन्दोलन से लड़का हाथ से निकल गया, क्योंकि उनकी इच्छा इन्हें एक अधिकारी पद पर देखने की थी। ओझाजी ने बलिया से इलाहाबाद आकर डी० ए० वी० स्कूल में अध्ययन शुरू किया। वहीं आर्य-समाज के सुधार-सम्बन्धी कार्यों से प्रभावित होकर इन्होंने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध साहस के साथ-साथ स्पष्ट मत व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। हाई स्कूल के अध्ययन-काल में ये पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा अन्य देशों के स्वाधीनता-संघर्षों की कथा एवं सुलभ सोवियत साहित्य पढ़ा करते थे। द्वितीय श्रेणी में हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने पर घरवालों को बड़ी निराशा हुई। इस समय तक ये स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लगे थे। परिवार के कई युवा सदस्यों की मृत्यु के कारण इनकी आर्थिक स्थिति खराब हो चली थी। ऐसे समय में इनके स्वर्गीय ज्येष्ठ बन्धु पं० जनन्नाथ ओझा और चचेरे बड़े भाई पंडित केदारनाथ ओझा ने यह सोचकर कि कहीं यह पूर्णतया आन्दोलनकारी न बन जाय, इन्टर की शिक्षा के लिए इनका नाम क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद में लिखवा दिया। वहाँ भी इन्होंने शिक्षकों का अपार स्नेह प्राप्त किया। उस समय ये आलोचनात्मक निबन्ध और कविताएँ भी लिखते थे, ये विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। कालेज-जीवन में इन्होंने पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा साहित्य और राजनीति का व्यापक अध्ययन करने का प्रयास किया। मार्क्सवादी साहित्य से ये अधिक प्रभावित हुए और इन्होंने अपना यह मत बना लिया कि समाजवादी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही आधारभूत मानवीय अधिकारों की रक्षा सम्भव है। राजनीतिक उथल-पुथल से सम्बन्धित साहित्य पढ़ने के साथ ही कई क्रान्तिकारियों से भी इनका सम्बन्ध स्थापित हुआ। १९३६ ई० में किसी प्रकार इन्होंने इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे पढ़ने के लिए प्रयत्नशील हुए परन्तु पुनः क्रान्तिकारी मित्रों के प्रभाव में आ पढ़ाई छोड़ बंगाल-भ्रमण करने चले गए। इसी बीच इन्हें दैवी प्रकोपों से ग्रसित होना पड़ा और गाँव में आग लग जाने से घर की सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई, बाद में बाढ़ के फलस्वरूप घर एवं जमीन गंगा के गर्भ में समाहित हो गई। ऐसी स्थिति में

शिक्षा का क्रम टूट गया, पर स्वाध्याय का क्रम बराबर चलता रहा। इसके पश्चात् ओझाजी ने बंगाल एवं उत्तरप्रदेश में अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। कुछ वर्ष आप राज्य के शिक्षा-विभाग में भी कार्य कर चुके हैं। सन् १९४५ ई० से इन्होंने विधिवत् पत्रकारिता को अपनाया। इससे पूर्व भी कई पत्रों से इनका सम्पर्क था। श्रमजीवी पत्रकारों के आन्दोलन को संगठित करने में इनका विशेष योगदान रहा। आप उत्तरप्रदेशीय श्रमजीवी पत्रकार यूनियन के तीन वर्ष तक महामन्त्री भी रह चुके हैं और इस समय तीसरी बार प्रादेशिक संघटन के अध्यक्ष हैं। आजकल आप लखनऊ से प्रकाशित होनेवाले दैनिक पत्र 'नव जीवन' के सह-सम्पादक पद पर सुशोभित हैं। ओझाजी हिन्दी के अनन्य उपासक एवं बड़े ही सहृदय तथा सरल व्यक्ति हैं। मिठास इनके एक-एक शब्द से टपकती है।[1]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य में ओझाजी की एक पुस्तक 'बदलते दृश्य' नाम से प्रकाशित हुई है। इसका प्रकाशन सन् १९५४ ई० में हिन्दी भवन, इलाहाबाद से हुआ था। २६४ पृष्ठों की इस पुस्तक में ओझाजी की २२ अप्रैल, १९५१ से लेकर १ जून, १९५१ अर्थात् ४१ दिनों की विदेश-यात्रा डायरी-शैली में वर्णित की गई है। लेखक ने ब्रिटिश सरकार के आमन्त्रण पर उत्तरप्रदेशीय श्रमजीवी पत्रकार यूनियन के प्रतिनिधि रूप में यात्रा की थी। ब्रिटेन तक ही सीमित न रहकर वे पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों में भी गए। अपने इस भ्रमण में उन्होंने जो कुछ देखा-सुना, जो कुछ अनुभव किया उसे बड़े ही रोचक एवं सजीव चित्रों सहित यात्रा-संस्मरण के रूप में 'बदलते दृश्य' में पिरोहा है। बदलते दृश्य अर्थात् भावना और यथार्थ, काव्य और विज्ञान का मणिकांचन संयोग, दृश्य का प्राबल्य, शब्दचित्र की शोख शाब्दिक चटक-मटक और रंगीनियों में अपना सानी नहीं रखता। पेरिस, स्विटज़रलण्ड, इंग्लैण्ड तथा स्काटलैण्ड का कोई सौन्दर्य-स्थल, सांस्कृतिक स्मारक, पुस्तकालय, अजायबघर, इमारत तथा कारखाना नहीं छूटा जो कि दर्शनीय होने पर भी ओझाजी ने न देखा हो। उनकी स्पन्दनशील आत्मीयता, दिल की धड़कन, उसकी गति, कलाकार की द्रवणशीलता, उदारता, जीवन्त चेतन' का निदर्शन होकर उनके चित्रों के वर्णन में मनोहारी और हृदयहारी हो उठी है दृश्यविधानों के सूक्ष्म परिवेक्षण एवं सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालने के साथ ही ओझाजी ने जीवन के खतरनाक चौराहे पर खड़े पश्चिमी यूरोप के जन-जीवन के त्रास, दैन्य, विवशता और निर्लज्जता के परिपार्श्व में पड़ी साम्राज्यशाही की ऊँघती, घटती मदहोशी का सजीव चित्र अंकित किया है। वास्तविकता इसकी प्रमुख विशेषता है। उपन्यास की-सी कुतूहलता के साथ अनेक स्थलों पर काव्य का-सा आनन्द भी मिलता है। स्विटजरलैण्ड की टुन झील का थोड़े-से शब्दों में कितना सुन्दर वर्णन है :—

---

१. लेखक द्वारा लिखे गए व्यक्तिगत इन्टरव्यू के आधार पर

"जब टन झील के किनारे पहुँचे, तो वहाँ ऐसा प्रतीत हुआ जैसे प्रकृति एक प्रेमिका के रूप में पुष्पों का शृंगार किए पर्यटकों के स्वागतार्थ खड़ी है। हवा के कारण बलखाती हुई झील की लहरें उठ-उठकर उन नौ बर्फीली चोटियों की ओर संकेत कर रही थीं, जिनकी शृंखलाएँ इनके बाएँ और दाएँ फैली हुई हैं।"[1]

श्री अमृतलाल नागर

जीवनी—आपका जन्म १७ अगस्त, सन् १९१६ ई० को लखनऊ के चौक मोहल्ले में हुआ था। इनके पूर्वज प्रयाग के रहनेवाले थे, सन् १८९५ ई० में अमृतलालजी के पितामह पंडित शिवरामजी लखनऊ आए। ये पंडित मदनमोहन मालवीय के बाल-मित्र थे ; साथ ही इलाहाबाद बैंक के संस्थापकों में से एक। नागरजी के पूज्य पिता पंडित राजाराम नागर, पी० एम० जी० कार्यालय में कार्य करते थे। ये नाटक लिखने एवं अभिनय करने में निपुण थे। पंडित माधव शुक्ल (सन् १९१२) के साथ इनको नाटक खेलने का चस्का लगा हुआ था।

नागरजी की शिक्षा स्थानीय (लखनऊ) कालीचरन कालेज में हुई। अपने शिक्षण-काल (सन् १९३१) में ही नागरजी का विवाह आगरा में श्रीमती सावित्रीदेवी से हुआ। सन् १९२८ ई० में आए साइमन कमीशन का इन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और ये साहित्यकार बन गए। सन् १९३४ में आपने हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे की शिक्षा के लिए इन्होंने लखनऊ क्रिश्चियन कालेज में शरण ली, परन्तु १९३५ ई० में पूज्य पिता की मृत्यु के कारण शिक्षा का क्रम टूट गया, पर स्वाध्याय का क्रम चलता रहा। साहित्यकारों में प्रत्यक्ष रूप से पं० रूपनारायण पाण्डे तथा महाकवि निराला से, तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रसाद, शरद तथा प्रेमचन्द से आप प्रभावित हुए हैं। आपने १९ अप्रैल, १९४० से २० अक्तूबर, १९४७ तक सिनेमा-संसार में रहकर क्वारा बाप, मीरा, कल्पना, राजा, किसी से न कहना, पराया धन, आगे कदम, उलझन एवं संगम आदि विभिन्न फिल्मों में कथाकार एवं संवाद-लेखक के रूप में कार्य किया। नागरजी को अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती, तामिल का अच्छा ज्ञान है। ७ दिसम्बर, १९५३ से ३१ मई, १९५६ तक आप ए० आई० आर० में ड्रामा प्रोड्यूसर भी रह चुके हैं। गप्पें मारना, नाटक करना, शाम को बूटी छानना, लम्बी सैर को जाना एवं बटेरबाजी इनके शौक हैं। इन्हीं कारणों से मित्र-मण्डली इन्हें विचित्राध्यक्ष कहती है। प्रातः ६ बजे से उठकर १ घण्टे मालिश कराना, साढे सात से १२ तक लेखक को बोलकर लिखाना, २ घण्टे आराम करना, ढाई बजे से ५ बजे तक नोट्स लेना और साढ़े पाँच से मित्र-मण्डली में चले जाना ही इनका नित्य का कार्य है। निद्रा के आलिंगन से पूर्व जासूसी उपन्यास पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। स्वभाव से आप हँसमुख और विनोदी व्यक्ति हैं। आजकल लखनऊ में ही रहते हैं।[2]

---

१. बदलते दृश्य—राजबल्लभ ओझा, पृ० २१८

२. लेखक द्वारा लिये गए व्यक्तिगत इन्टरव्यू के आधार पर

कृतियाँ—हिन्दी उपन्यास और कहानी-क्षेत्र में नागरजी की अनेकों कृतियाँ हैं। परन्तु यात्रा-साहित्य पर नागरजी की केवल दो पुस्तकें हैं। एक मूल रूप से यात्रा पर लिखी गई है, दूसरी अनुवादित है।

१. गदर के फूल
२. आँखोंदेखा गदर (अनुवादित)।

गदर के फूल—नागरजी की यह यात्रा-पुस्तक १९५९ ई० में सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश से प्रकाशित हुई थी। इसमें नागरजी ने अपने उपन्यास की सच्ची ऐतिहासिक सामग्री का भ्रमण करके संकलन किया है। इनकी यह यात्रा ४ जून से १९ जुलाई, १९५७ तक रही। सन् १८५७ ई० की राज्य-क्रान्ति सम्बन्धी सामग्री के लिए आपने अवध-क्षेत्र में यात्राएँ की थी और गदर सम्बन्धी रोचक महत्त्वपूर्ण अंशों, किंवदंतियों को एकत्रित कर ऐतिहासिक उपन्यास का रूप दिया। नागरजी की अवध प्रान्तीय यही यात्रा 'गदर के फूल' के रूप में प्रकाश में आई। २९२ पृष्ठों की इस पुस्तक में आपने बाराबंकी, दरियाबाद, भयारा, जहाँगीराबाद, कुर्सी, महादेवा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, गोंडा, बहराइच, नेपालगंज, दुविधापुर, सीतापुर, मितौली, खैराबाद, नेमिषारण्य, रायबरेली, उलमऊ, मीरागोविन्दपुर, शंकरपुर, हरदोई, उन्नाव, लखनऊ आदि स्थानों की ऐतिहासिक यात्रा का विवरण दिया है। अवध प्रदेश की इस ऐतिहासिक यात्रा में नागरजी ने हर जगह पहुँचकर वहाँ के अधिक-से-अधिक आयु-वाले व्यक्तियों से वहाँ के गदर के समाचार लिए और उन वृद्धों की स्मृतियों को अपने इस ग्रन्थ के पृष्ठों पर अंकित किया है। भ्रमणार्थ गए हुए सभी स्थानों का नागरजी ने बहुत सुन्दर वर्णन वर्णित किया है। पुस्तक ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण है; साथ ही यात्रा के वर्णन बड़े रोचक बन पड़े है। इसका कारण नागरजी की अपनी विशिष्ट शैली और विवरण प्रस्तुत करने का चुभता हुआ ढंग है, जो हिन्दी साहित्य में अपना अलग सम्माननीय स्थान रखता है। नेमिषारण्य के पण्डों का वर्णन करते हुए नागरजी ने लिखा है—

"काशी, अयोध्या, मथुरा, मदुरा, चिदम्बरम्, कन्याकुमारी—कोई जगह हो, पण्डे गन्दगी फैलानेवाली बरसाती मक्खियों की तरह बुरे लगते हैं। ब्राह्मणवाद इन पण्डे-पुरोहितों के स्वार्थवश होकर घृणित और जघन्य हो गया है। अन्ध-निष्ठा इस देश के लिए कालकूट विष के समान रही है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन सभी धर्मों के पोपों ने इस देश के ज्ञान पर अच्छी झाड़ू फेरी है।[1]"

आँखोंदेखा गदर—इस मराठी पुस्तक के मूल लेखक विष्णु भट्ट गोडशे वरसईकर थे। 'माझा प्रवास'—नामक इस पुस्तक का नागरजी ने हिन्दी में अनुवाद किया है। इस अनुवादित ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९४८ ई० में नागरजी द्वारा प्रकाशित हुआ था। परन्तु जनता की माँग और गदर शताब्दि के अवसर पर इस ऐतिहासिक यात्रा-ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण सन् १९५७ ई० में पुस्तक-निकुंज,

१. गदर के फूल—अमृतलाल नागर, पृ० १७०

लखनऊ से प्रकाशित हुआ। १७६ पृष्ठों की इस पुस्तक में वरसईकर का आँखोंदेखा गदर का वृत्तान्त वर्णित है। वेदशास्त्र सम्पन्न गोडशे भिक्षुक ब्राह्मण थे। गरीबी और कर्ज से मजबूर हो ग्वालियर की रानी द्वारा मथुरा में आयोजित एक महायज्ञ में भाग लेकर मोटी दक्षिणा पाने के लोभ से गोडशे शास्त्री ने इतनी लम्बी यात्रा की थी। किन्तु उनके दुर्दैव से इस यात्रा में उन्हें सन् सत्तावन के सैनिक विद्रोह का अनुभव ही दान-दक्षिणा के रूप में मिला और गोडशे खाली हाथ ही घर लौटे। १९०७ ई० में मराठी में इसका प्रकाशन चित्रशाला प्रेस, पूना से हुआ था। इस यात्रा-ग्रन्थ में इतिहास की अमूल्य सामग्री, प्रत्यक्ष अनुभव बड़ी कुशलता के साथ लिपिबद्ध किए गए हैं। द्रव्यार्जन की लालसा से गदर ही के क्षेत्र में उन्हें पैदल यात्रा करनी पड़ती है। गदर के लुटेरों से बार-बार उनका साक्षात्कार हुआ है। मानवता और दानवता के दृश्य उनके जीवन में साथ-साथ ही आए हैं। इन तमाम थकानेवाले दृश्यों के बाद भी उनमें भ्रमण-तीर्थाटन की इच्छा बराबर तीव्र ही बनी रही, भ्रमण की उत्कट अभिलाषा ज़रा भी कम न हो सकी।

पुस्तक एक सूत्र में बँधी आगे बढ़ती है। प्रत्येक घटना और दृश्य का वर्णन बड़ा ही सजीव और मार्मिक तथा आकर्षक है। मूल पुस्तक की भाषा बड़ी सरल और लच्छेदार थी। इस पुस्तक को नागरजी ने बड़ी सरल हिन्दी और विशिष्ट शैली में अनुवादित किया है।

श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'

जीवनी—आपका जन्म सन् १९१८ ई० आषाढ़ पूर्णिमा को मलाही, चम्पारन (बिहार) में हुआ था। नारायणजी ने भारतेन्दुजी के समान आठ वर्ष की आयु में ही (अपनी मातृभाषा भोजपुरी में) एक पद्य रचकर परिवार और पाठशाला के गुरुजनों पर प्रकट कर दिया था कि उनके संस्कारों में काव्यात्मा का प्रकाश और धमनियों में साहित्य का रक्त है। तभी से वे कविजी कहे जाने लगे। फिर शिक्षा-दीक्षा हुई, देशाटन तथा विविध व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव। शक्ति बढ़ती गई, प्रतिभा निखरती गई। लाहौर में आपकी बी० ए० तक शिक्षा हुई। आप भूतपूर्व महिला कालेज, गुजरानवाला (पंजाब) में प्रोफेसर-पद पर भी रह चुके हैं। प्रोफेसरी छोड़ ये पत्रकारिता की ओर बढ़े। नारायणजी का पत्रकार जीवन लाहौर से प्रारम्भ हुआ था। सर्वप्रथम वे पंजाब की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'शान्ति' के प्रधान सम्पादक हुए थे जिसमें वे 'कवि कलन्दर की कलम' से स्तम्भ के अन्तर्गत हास्य और व्यंग्य की सामग्री देते थे। बाद में उन्होंने लाहौर से ही निकलनेवाले दैनिक 'हिन्दी-मिलाप' के सम्पादकीय विभाग में भी कार्य किया था। लाहौर से बम्बई बुलाए जाकर उन्होंने सन् १९४४ ई० से सन् १९४६ ई० तक वहाँ के सुप्रसिद्ध हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' के उपसम्पादक के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। बम्बई के पाठकों को प्रतिदिन कालम 'वक्र-दृष्टि' नामक स्तम्भ में लिखे गए 'श्री नेत्र' के व्यंग्य नहीं भूल सकते। यह 'त्रिनेत्र' श्री नारायणजी ही थे। सन् १९४४ ई० में कलकत्ता के 'लोकमान्य' के

सम्पादकीय विभाग में रहकर भी इन्होंने प्रतिदिन 'हजामत' नामक स्तम्भ में 'उल्टा उस्तरा' के नाम से जो व्यंग्य-बाण बरसाए थे, वे चिरस्मरणीय हैं। आजकल नारायणजी बिहार सरकार के समाज-शिक्षा बोर्ड द्वारा प्रकाशित 'जन-जीवन' पत्र का सम्पादन करते हैं।[1]

कृतियाँ—श्री ब्रजकिशोर 'नारायणजी' हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। हिन्दी के प्रति इन्हें अनन्य प्रेम है। उपन्यास, कथा, नाटक एवं बाल-साहित्य और यात्रा-साहित्य को भी इन्होंने मूल्यवान् देन दी है। हिन्दी बाल-साहित्य के कवि और लेखक के रूप में भी ये अत्यधिक सफल सिद्ध हुए हैं। 'आ री निंदिया', हँसी-खुशी, गोप-गपोड़े, ताक धिनाधिन और पेटू पांडे नामक पुस्तकें बाल-जगत् में बहुत अधिक लोकप्रिय हुई हैं। 'हँसी-खुशी' पर इन्हें भारत सरकार द्वारा ५०० रुपये का पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। ये अपनी अनेकों कृतियों से हिन्दी के कुशल कवि, कथा, उपन्यासकार, व्यंग्य लेखक एवं सम्पादक के रूप में सुपरिचित हैं। सन् १९३५-३६ ई० में इनकी कविताएँ, लेख आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे, किन्तु पुस्तकाकार कविता-संग्रह 'सिंहनाद' हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा १९४० ई० में लाहौर से निकला था। इनकी पुस्तकें यशस्विनी, आज का प्रेम एवं नारायणी हैं। हाल ही में 'राष्ट्र के लिए' एवं 'रीता' उपन्यास भी प्रकाशित हुआ है। इनकी सम्पादित पुस्तकें भी ११-१२ के लगभग हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य पर नारायणजी ने तीन ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु अभी तक प्रकाशित केवल एक ही हो सका है। ये तीन ग्रन्थ 'नन्दन से लन्दन', 'सात समुन्दर पार', 'यूरोप कुछ ऐसे, कुछ वैसे' हैं। ये तीनों ग्रन्थ अपनी यूरोप-यात्रा पर ही लिखे गए हैं। इनमें से 'नन्दन से लन्दन' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हो चुका है परन्तु दूसरे अन्य ग्रन्थ अभी अप्रकाशित ही हैं।

नंदन से लंदन—ब्रजकिशोर 'नारायण'जी का १९८ पृष्ठों का यह ग्रन्थ सन् १९५७ ई० में हिन्दी प्रचारक पुस्तालय, काशी से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में नारायणजी के विदेश (यूरोप) भ्रमण का सरल वृत्तान्त है। नारायणजी अपनी यूरोप-यात्रा के लिए ६ मई, १९५५ ई० को पटना से प्रस्थित हुए और १५ जून, १९५५ ई० को बम्बई से उनका जल-जहाज खुला। करांची, अदन, स्वेज, काहिरा, पोर्ट सईद और जिब्राल्टर होते हुए वे ३ जुलाई, १९५५ ई० को लंदन पहुँचे। स्वर्गादपि गरीयसी जन्म-भूमि भारत से लंदन तक की यह यात्रा-पुस्तक नंदन से लंदन इन्हीं १९ दिनों की डायरी है। 'सपना साकार हुआ' शीर्षक भूमिका में नारायणजी ने इस भ्रमण के सांस्कृतिक उद्देश्य, आर्थिक व्यवस्था, मतलबी यारों की पलायन वृत्ति, मित्रों के सहयोग, सरकारी अफसरों की साहबी मनोवृत्ति, राजनीतिक व्यक्तियों की स्वार्थपरक मनोभावना, जहाज में जगह का उपबन्ध आदि बातों का बहुत ही निर्भीक और रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। 'नंदन से लंदन' नामक प्रथम यात्रा-ग्रन्थ में उनकी कर्ज लेकर की गई यात्रा का ऐसा रोचक और मनोरंजक वर्णन है, जिसको

---

१. लेखक के नाम आए श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'जी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति को एक जीवन्त-प्रेरणा प्राप्त होती है। नारायणजी की भूमिका पुस्तक की खूबी में चार चाँद लगा देती है। हिन्दी के यात्रा-साहित्य की ही नहीं प्रत्युत भारतीय यात्रा की यह प्रथम पुस्तक है जिसमें जहाजी जीवन के प्रत्येक पक्ष पर दृष्टि डाली गई है। जहाज के व्यक्तियों, कार्रवाइयों, कार्य-क्रमों और खूबियों, खराबियों का ऐसा विशद और हृदयहारी वर्णन किया गया है कि एक ही साँस में पुस्तक समाप्त हो जाती है। चित्रों से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। पुस्तक में सुबह के नाश्ते से लेकर बालडान्स तक की एक-एक बात और घटना का जो निरीक्षण किया गया है वह सर्वथा अछूता, अनूठा और अद्भुत है। नंदन से लंदन का वातावरण अधिकतर जहाज में ही केन्द्रीभूत है, इसलिए वहाँ के जीवन का वर्णन पढ़कर पाठक उसके सूक्ष्म रहस्यों से अवगत हो जाता है। साथम्पटन से लंदन की यात्रा का वर्णन करते हुए नारायणजी ने लिखा है—

"केबिन की खिड़की से कुहासे और बादलों भरे आसमान को देखकर इंग्लैण्ड के मौसम की सारी अफवाहें सच साबित हो रही हैं।...चैनल में छोटे-बड़े जहाजों, समुद्री वायुयानों और मोटर-किश्तियों का ताँता लगा हुआ है। धुँधलके और वर्षा की हल्की फुहारों से पुलकित होकर हमारा जहाज मन्दगामी हो रहा है। यात्री गर्म सूट पर बरसाती पहन-पहनकर चहलकदमी करने लगे हैं। इंग्लैण्ड में चल रही रेलवे हड़ताल की आशंका से सभी यात्रियों की हालत पतली है।[१]"

सात समुन्दर पार—ब्रजकिशोर 'नारायण'जी की यह पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हो सकी है परन्तु लेखक के नाम आए श्री 'नारायण'जी के व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार से यह ज्ञात हो सका है कि यह पुस्तक 'सात समुन्दर पार' कला-निकेतन पटना—४ द्वारा इस वर्ष के अन्त तक छप छाएगी।[२] परन्तु १६-८-५६ के पत्र में नारायणजी ने यह सूचित किया है कि यह पुस्तक सात समुन्दर पार प्रेस में चली गई है, और इसी वर्ष प्रकाशित हो जाएगी, ऐसी आशा है।[३]

यूरोप कुछ ऐसे, कुछ वैसे—नारायणजी की यह पुस्तक भी अभी प्रकाशित नहीं हो सकी है। परन्तु लेखक के नाम आए व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार से यह स्पष्ट ज्ञात हो सका है कि यह पुस्तक यूरोप 'कुछ ऐसे कुछ वैसे' अभिज्ञान प्रकाशन, रांची (बिहार) द्वारा इस वर्ष के अन्त तक छप छाएगी।[४] परन्तु १६-८-५६ के पत्र में नारायणजी ने यह सूचित किया है कि यूरोप 'कुछ ऐसे, कुछ वैसे' छप रही है। एक-दो फर्मे छप भी चुके हैं। वह भी तीन-चार महीनों में बाजार में आ जाएगी। आते ही आपको भेजूँगा।[५]

---

१. नंदन से लंदन—ब्रजकिशोर 'नारायण', पृ० १६१

२. एवं ४—लेखक के नाम आए श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'जी के २-८-५८ के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

३. एवं ५—लेखक के नाम आए श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'जी के १६-८-५६ के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

श्री रामआसरे

जीवनी—आपका जन्म कानपुर के एक गरीब परिवार में १६ दिसम्बर, सन् १९२३ ई० में हुआ था। हाई स्कूल की विद्यार्थी अवस्था से ही राजनीतिक जीवन के कार्यकर्त्ता होने के कारण आपकी शिक्षा-दीक्षा अधिक न हो सकी। प्रारम्भ में आप कानपुर विद्यार्थी संघ (स्टूडेन्ट्स यूनियन) के और बाद में प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय विद्यार्थी फेडरेशन के मन्त्री भी रहे हैं। सन् १९४६ ई० से आप ट्रेड यूनियन में सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं। सन् १९५४ ई० में प्रथम भारतीय ट्रेड यूनियन डेलीगेशन के साथ रामआसरेजी ने चीन और हांगकांग की यात्रा की। सन् १९५४ ई० में कानपुर के सूती उद्योग के श्रमिकों की एकता के सक्रिय सहायक के रूप में आप कार्य करते रहे। सन् १९५५ ई० में कानपुर की सूती मिल मजदूर सभा द्वारा संचालित ८२ दिन की आम हड़ताल के एक संगठनकर्त्ता थे। सन् १९५४ ई० से १९५७ ई० तक आप सूती मिल मजदूर सभा के प्रधानमन्त्री भी रहे। लेखक और अनुवादक आप साथ-साथ हैं। आप सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं प्रादेशिक कम्युनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरियेट के सदस्य भी हैं। आजकल आप आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की उत्तरप्रदेशीय शाखा उत्तरप्रदेशीय ट्रड यूनियन कांग्रेस के प्रधान मन्त्री हैं।[1] आजकल भी आप कानपुर में ही रह रहे हैं। आप सक्रिय समाजसेवक हैं। मजदूरों की सेवा में आप विशेष कुशल कार्यकर्त्ता हैं और उसीमें दिन-रात रत रहते हैं।

कृतियाँ—रामआसरेजी ने अधिक साहित्यिक ग्रन्थ नहीं लिखे हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य में रामआसरेजी की एक पुस्तक 'माओ के देश में' नाम से है। १३६ पृष्ठों की यह पुस्तक सन् १९५२ ई० में करेन्ट पब्लिशर्स, कानपुर के द्वारा प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक डायरी-शैली में लिखी गई है। रामआसरेजी ने इसमें माओ के देश का जो वर्णन किया है वह सुन्दर बन पड़ा है। उन्होंने वहाँ जो कुछ देखा, जो कुछ सुना और उससे उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसीको डायरी-शैली में लिखा गया है। यह यात्रा इन्हें अपने देश से "मई दिवस" के अवसर पर बीस ट्रेड यूनियन कार्यकर्त्ता अखिल चीनी मजदूर फेडरेशन के बुलाने पर अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के उपसभापति कामरेड संतसिंह यूसुफ के साथ करनी पड़ी थी। वायुयान, जहाज, रेल, मोटर, बोट सभीके द्वारा किए गए भ्रमण का सुन्दर वर्णन रामदुलारे जी की हिन्दी को देन है। कैंटन-हैंकाऊ ट्रेन से यात्रा करते समय देखे गए दृश्यों का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सवेरे बहुत तीखी ठंडी हवा ने नींद खोल दी। आँखें खुलीं तो बड़ा सुहावना दृश्य। ऊँचे-नीचे पहाड़ों की दूर तक कहीं-कहीं आसमान को चूमनेवाली लम्बी कतार, आकर्षक हरियाली से ढका हुआ हर हिस्सा। हमारी गाड़ी तेजी से चली जा

---

१. लेखक के नाम आए श्री रामआसरेजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

रही थी। यहाँ भी आसमान कहीं काले गहरे कहीं हल्के बादलों से ढका हुआ था। कभी फुहार पड़ती और कभी खुल जाती। गाड़ी पास ही हवा में हिलकोरे भरती, पहाड़ों को चीरती लाँघती व्रू नदी बह रही थी।"[१]

श्रीमती विमला कपूर

जीवनी—आपका जन्म शिमला में फरवरी सन् १९२३ ई० में हुआ था। आपका प्रारम्भिक जीवन शिमला की पहाड़ियों में ही बीता है। विवाह के पश्चात् कानपुर आकर आपने हाई स्कूल से लेकर एम० ए० तक की शिक्षा पूरी की। इनका एवं इनके पति का अध्ययन लगभग साथ-साथ ही चलता रहा। पढ़ने-लिखने की रुचि इन्हें प्रारम्भ से ही थी। अध्ययन एवं लेखन की प्रेरणा इन्हें अपने पिता, ताऊ आदि से ही मिली थी। हिन्दी में एम० ए० करने के पश्चात् आजकल आप डी० ए० वी० कालेज, कानपुर से समाज-शास्त्र में एम० ए० कर रही हैं।[२] हिन्दी साहित्य से आपको विशेष प्रेम है। हिन्दी की साहित्यरत्न और प्रभाकर परीक्षाएँ भी आपने उत्तीर्ण की है। आप भारतीय महिला समाज, कानपुर की सेविका भी हैं। आपको यात्रा-साहित्य पर लिखने की प्रेरणा राहुलजी एवं माखनलाल चतुर्वेदीजी से मिली है।

कृतियाँ—अजाने देशों में—११८ पृष्ठों की यह पुस्तक साधना प्रकाशन, कानपुर से सन् १९५५ ई० में प्रकाशित हुई थी। विमलाजी की हिन्दी साहित्य में यह प्रथम पुस्तक है। इसमें उन्होंने अपनी यूरोप यात्रा का सम्पूर्ण विवरण पत्रों के रूप में संगृहीत किया है। पत्रों के रूप में उनका यह यात्रा-विवरण अनजाने सुन्दर-सुन्दर देशों के अनेक दृश्यों को मूर्त रूप मे ला खड़ा करता है। यह यात्रा जहाज द्वारा की गई थी। इसमें इटली, लन्दन, स्विटज़रलैण्ड, जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड, वारसा आदि स्थानों की यात्रा का वर्णन दिया गया है। जहाजी यात्रा का यह सुन्दर वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। कहीं-कहीं पर उनका यह वर्णन कविता का रूप ले लेता है। विमलाजी की लेखन शैली अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण है। देशों का भ्रमण करते हुए उन्होंने साहस, निष्ठा एवं कर्त्तव्यपूर्ण जीवन की मनोरम कल्पनाओं के साथ उन्हें लिपिबद्ध किया है। उनकी अभिव्यंजना में नारी-हृदय साकार दृष्टिगत होता है। सरल और स्पष्ट शैली में लिखी गई यह पुस्तक अच्छी बन पड़ी है। हिन्दी यात्रा-साहित्य में महिलाओं के द्वारा रचित यात्रा-ग्रन्थों का अभाव है, इस दृष्टि से भी यह विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें से कतिपय लेख जब विमलाजी विदेश में ही थीं तभी विभिन्न भारतीय पत्रों—रामराज्य, कर्मवीर, सिटीजन, हंस, धर्मयुग, विश्वमित्र, बाल-भारती, सुमित्रा आदि में प्रकाशित हुए थे। यह यात्रा इन्होंने सन् १९५१ ई० में बर्लिन सम्मेलन के उत्सव के समय की थी। इसमें उन्होंने बर्लिन उत्सव के समय वहाँ देखी

---

१. माओ के देश में—रामआसरे, पृ० १५

२५. लेखक के नाम आप श्रीमती विमला कर के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

हुई घटनाओं का वर्णन किया है। प्रकृति के क्षण-क्षण में परिवर्तित होते हुए दृश्य को देखकर वे लिखती हैं—

"हल्की सुनहरी रश्मियाँ चोटियों पर बिखरे हिमकणों से क्रीड़ा करने लगीं। प्रकृति का यह क्षण-क्षण परिवर्तित होता हुआ रूप इस समय बहुत ही रमणीय प्रतीत हो रहा था। जिस स्विटज़रलैंड की सौम्य वसुन्धरा अब तक हमारे लिए कल्पना-लोक का विषय बनी हुई थी उसीकी गोद में आज अपने को देख हृदय नव-नूतन भावनाओं से बना हुआ आलोड़ित हो उठा था।[1]

श्री मोहन राकेश, एम० ए०

जीवनी—मोहन राकेशजी का जन्म ८ जनवरी, सन् १९२५ ई० को अमृतसर में हुआ था। आप हिन्दी-संस्कृत में एम० ए० हैं और आजीविका के लिए लेखन के साथ-साथ अध्यापन-कार्य भी करते हैं।[2] मोटे चश्मे के भीतर से झाँकती छोटी-छोटी आँखें, गम्भीर और सौम्य स्वभाव, पर समय पर मुक्त हास्य, मध्यम कद और साधारण स्वास्थ्य—यह है श्री मोहन राकेशजी की तस्वीर जो नई कहानी तथा नाटक के क्षेत्र में न भुलाई जा सकनेवाली कीर्ति अर्जित कर चुके हैं।

कृतियाँ—साहित्यिक क्षेत्र में अभी तक आपके इन्सान के खण्डहर (१९५०), आखिरी चट्टान तक (१९५३), नये बादल (१९५७), जानवर और जानवर (१९५८), और आषाढ का एक दिन (१९५८) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से 'आखिरी चट्टान तक' यात्रा-विवरण है, शेष सभी कहानी-संग्रह।

आखिरी चट्टान तक—१५२ पृष्ठों की पुस्तक है, जो प्रगति प्रकाशन, दिल्ली से जुलाई सन् १९५३ में प्रकाशित हुई थी। राकेशजी ने इस पुस्तक में यात्रा के लिए निकलने पर देखे और समझे हुए जीवन के विभिन्न चित्रों और सत्यों को यथाक्रम रोचक और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। मलयालम भाषी प्रदेश की राकेशजी ने खूब यात्रा की है। इनकी यह यात्रा पैदल, मोटर, रेल और जहाज द्वारा पूर्ण हुई है। राकेशजी की कहानियों की तरह उनका यह यात्रा-विवरण भी साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण और अविस्मरणीय योग है। इनके एक दृश्य का वर्णन देखिए—

"तट के साथ-साथ सूखी पहाड़ियों की शृंखला थी, जो सामने फैली हुई रेत के कारण और भी वीरान लग रही थी। रेत सूर्यास्त काल की सुनहरी आभा में इस तरह चमक रही थी जैसे, उसके निर्माण के समय का रंग अभी ताजा हो। उस भूमि और उस वातावरण में एक आवेशको जन्म देनेवाली मासूमियत थी।[3]

---

१. अजाने देशों में—श्रीमती विमला कपूर, पृ० ७५

२. लेखक के नाम आए श्री मोहन राकेशजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

३. आखिरी चट्टान तक—मोहन राकेशजी, पृ० १४८

श्री गोविन्दसिंह

जीवनी—गोविन्दसिंहजी का जन्म सन् १९३० ई० के दिसम्बर मास की ३० तारीख को हुआ था। अपने जन्म-स्थान का पता ये स्वयं ही नहीं जानते हैं। इनके जन्म के बाद ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया था। पिताजी ने इन्हें पाला-पोसा था और उन्हींके लाड़-प्यार के कारण ये केवल हाई स्कूल तक ही शिक्षा प्राप्त कर सके। सन् १९५० ई० में पूज्य पिता की मृत्यु के कारण इन्हें वाराणसी आना पड़ा और तब से आज तक आप काशी में ही वास कर रहे हैं।[1] साहित्य की ओर इन्हें बचपन से ही रुचि थी। कथा-साहित्य गोविन्दसिंहजी ने खूब लिखा है। इनके १२० से अधिक लिखे उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, लिखना ही इनकी जीविका का आधार है। घर से कई बार भाग निकलने के कारण इनकी रुचि भ्रमण की ओर बढ़ी और महलों से फुटपाथों तक पर इन्होंने जीवन के क्षण व्यतीत किए। ये स्वभाव के मिलनसार एवं मित्रों के प्रति स्नेहभाव रखनेवाले हैं।[2]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनकी एक पुस्तक 'भारत में बुलगानिन' नाम से है। यह पुस्तक प्रकाश-गृह, वाराणसी से प्रकाशित हुई है। २०८ पृष्ठों की इस पुस्तक में गोविन्दसिंहजी ने मार्शल बुलगानिन और निकिता ख्रुश्चेव की भारत यात्रा का आँखोंदेखा कथात्मक यात्रा-विवरण प्रस्तुत किया है। एक प्रकार से यह कथात्मक विवरण, तीन घंटे की न्यूज रील के समान दिखाई देता है, जिसमें सोवियत नेताओं का भव्य स्वागत, उनके भाषण, भारत-भ्रमण के पूरे, शाब्दिक, क्षण-क्षण में बदलनेवाले चलचित्र सम्मुख आते हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य में यह अपने ढंग का पहला ही कथात्मक यात्रा-विवरण है, जो आद्योपान्त बड़ा ही साहित्यिक और मनोरंजक है। एक उद्धरण देखिए :—

"६ बजकर ३५ मिनट।

घर्र-घर्र—ररर्र—जहाज की पंखी घूमी। उड़ा जहाज। विदा। भाखड़ा-नंगल बाँध विदा। तुम भारत की जनता की समृद्धि में सहायक बनो।

जहाज और ऊपर उठ रहा है। हिमालय की ओर बढ़ रहा है। हिमालय, हिमाच्छादित पर्वत—सफेद—चमकदार—सूर्य की किरणें पड़ रही हैं। चमक रहा है एकदम चाँदी-सा। लगता है, चाँदी की परतें-ही-परतें बिछी हैं।[3]"

---

१. लेखक नाम आए श्री गोविन्दसिंहजी के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

२. श्री गोविन्दसिंहजी के व्यक्तिगत सम्पर्क से—लेखक

३. भारत में बुलगानिन—गोविन्दसिंह, पृ० ९२

: ५ :

हिन्दी यात्रा-साहित्य के अप्राप्य जीवनीवाले लेखकों की कृतियों का प्रकाशन : क्रमानुसार संक्षिप्त परिचय

लेखक ने अप्राप्य जीवनीवाले लेखकों के युग का ग्रन्थों के प्रकाशन क्रमानुसार ही विस्तार दिखलाया है। उसके अनुसार यह युग सन् १८८३ ई० से प्रारम्भ होता है और क्रमशः सन् १६५८ ई० तक आता है। इस युग-विस्तार में ऐसे लेखक जिनकी जीवनी अप्राप्य है, लगभग तीन दर्जन हैं। जीवनी प्राप्त न हो सकने के कई कारण हैं, इनमें से कुछ का मैं उल्लेख करना चाहूँगा—

१. सबसे पहला कारण सामग्री की अति प्राचीनता है। वे कृतियाँ ही अपने सुरक्षित रूप में हमें प्राप्त नहीं हो सकीं, इससे लेखकों के परिचय आदि से सम्बन्धित जानकारी भी प्राप्त न हो सकी। अनेक दिवंगत लेखकों की जीवनी के सम्बन्ध में कोई भी सूचना प्राप्त न हो सकी।

२. दूसरा कारण यह है कि अनेक जीवित लेखकों की उदासीनता के फलस्वरूप हम अनेक आवश्यक सूचनाएँ भी प्राप्त नहीं कर सके। लेखक के व्यक्तिगत प्रयत्नों, यात्राओं और निवेदनों का ऐसे लेखकों ने कोई मूल्य नहीं समझा, कुछ ने गर्व के कारण और कुछ ने अपनी स्वाभाविक उपेक्षात्मक प्रवृत्ति के परिणामतः अपना परिचय नहीं दिया। नवोदित लेखकों का इस दिशा में तो उत्साह दिखलाई पड़ा परन्तु, उनमें से भी लेशमात्र अनुभव रखनेवाले उपर्युक्त बातों के शिकार दिखलाई पड़े।

इन अप्राप्य जीवनीवाले लेखकों के नाम उनके ग्रन्थों के प्रकाशन क्रमानुसार इस प्रकार हैं—

हरदेवी (१८८३), भगवानदास वर्मा (१८८४), दामोदर शास्त्री (१८८५), लाला कल्याणचन्द्र (१८६०), साधुचरण प्रसाद (१८६१), पं० विग्न मिश्र (१८६४), पं० श्रीराम शर्मा (जन्मकाल १८६५), पंडित रामशंकर व्यास (१६०७), घनपति लाल (१६१२), वेणी शुक्ल (१६२६), मेहता जैमिनी (१६२७), मंगलानन्द पुरी संन्यासी (१६२८), श्री गोपाल नेवटिया (१६३०), कृपानाथ मिश्र (१६३२), हरिकृष्ण झाझड़िया (१६३४), सत्येन्द्र नारायण (१६३५), धर्मचन्द सरावगी (१६३६), प० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त' (१६४१), रामचन्द्र शर्मा (१६४१), स्वामी प्रणवानन्द (१६४३), चक्रधर 'हंस' (१६४६), स्वामी रामानन्द

ब्रह्मचारी (१९४६), जी० डी० जोशी (१९४९), श्रीमती सत्यवती मलिक (१९५०), महेशप्रसाद श्रीवास्तव (१९५१), स्वामी स्वतन्त्रानन्द (१९५१), नवलकिशोर अग्रवाल (१९५२), डा० मुनिकान्त सागर (१९५३), श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार (१९५३), महावीरप्रसाद पोद्दार (१९५४), डा० जगदीशशरण वर्मा (१९५७), डा० परमेश्वरदीन शुक्ल (१९५७), रामकृष्ण बजाज (१९५७), प्रभाकर द्विवेदी (१९५८) आदि। इन लेखकों के ग्रन्थों का परिचयात्मक विवरण आगे दिया जाएगा।

सम्मिलित रूप से इन लेखकों के साहित्य में कुछ ऐसी बातें प्राप्त होती हैं जिनसे ज्ञानवर्द्धन के अतिरिक्त साहित्यगत विलक्षणता के भी संकेत प्राप्त होते हैं। देश दर्शन की अभिलाषा अनेक रूपों में यात्रा-साहित्य के कलेवर की सज्जा, अछूते विषयों का साहित्य में आगमन, विभिन्न समाजों की संस्कृति, प्रकृति के स्वाभाविक मनोमुग्धकारी चित्र और इन सबके अतिरिक्त विभिन्न लेखकों का अपना व्यक्तित्व दृष्टव्य है।

श्रीमती हरदेवी

हरदेवी की यात्रा सम्बन्धी 'लन्दन-यात्रा' नामक एक पुस्तक है। इसका प्रकाशन सन् १८८३ई० में ओरिएन्टल प्रेस, लाहौर से हुआ था। १२७ पृष्ठों की इस पुस्तक में हरदेवीजी ने अपनी लन्दन-यात्रा का सांगोपांग विस्तृत वर्णन दिया है। लाहौर से बम्बई और बम्बई से लन्दन किस प्रकार जहाज पहुँचा तथा रास्ते में उन्होंने जो कुछ देखा सभीका वर्णन इसमें दिया गया है। सूर्यास्त के समय का एक उद्धरण देखिए—

"अब सूर्य अस्त होने के निकट था। वृक्षों के जाल में सुनहरी किरणें फूल रही थीं। ऊपर चारों ओर से पक्षी अनेक भाँति की बोली बोल उड़-उड़कर अपने-अपने स्थान अर्थात् वृक्षों की शाखाओं में बैठते जाते है।"[1]

श्री भगवानदास वर्मा

ये कानपुर निवासी थे। यात्रा-साहित्य पर इनकी एक पुस्तक 'लन्दन का यात्री' है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १८८४ ई० में हरिप्रकाश यन्त्रालय से हुआ था। यह केवल २६ पृष्ठों की पुस्तक है। इस पुस्तक में लेखक ने अपनी लन्दन-यात्रा के साथ-साथ यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि कोई देश कैसा भी सभ्य क्यों न हो परन्तु प्रकृति सम्बन्धी व्यापार वहाँ भी वैसे ही होंगे जैसे किसी असभ्य देश में। इन्होंने लन्दन का वर्णन करते हुए लिखा है—

"जिस प्रकार हमारे लखनऊ के बड़े-बड़े अमीरों और वसीकेदारों की सवारी में सड़कों पर हटो-बचो का गुल मचता है जिससे विदेशी मनुष्य को भी यह

---

१. लन्दन-यात्रा—हरदेवी, पृ० ५३

ज्ञात हो जाता है कि यह भी धनवान और बड़े आदमी हैं, वैसे ही इस देश में भी अधिकतर ढंग इसके दिखलाने के हैं कि हम भी अमीर हैं।"[1]

पं० दामोदर शास्त्री

शास्त्रीजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य से सम्बन्धित दो पुस्तकें 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा' (१८८५), और 'मेरी दक्षिण दिग्यात्रा' नाम से हैं। ये दोनों पुस्तकें बहुत प्राचीन हैं।

मेरी पूर्व दिग्यात्रा—शास्त्रीजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १८८५ ई० में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से हुआ था। इस पुस्तक में आपने अपनी पूर्वी स्थानों की यात्रा का विवरण दिया है। अजमेर की यात्रा का भी इसमें वर्णन किया गया है। अलीगढ़ की यात्रा में बाबू तोतारामजी से आपकी भेंट हुई थी। साहित्यिकों की इस भेंट का भी पुस्तक में विवरण दिया गया है। कानपुर की यात्रा में कान्यकुब्जों के गाँव कुकुरादेव का भी वर्णन है। पुस्तक कुल ५५ पृष्ठों की है। इसके अन्त में कुछ पद्य भी दिए गए हैं, जिनकी भाषा खड़ीबोली ही है; यद्यपि ब्रज से अधिक प्रभावित है।

मेरी दक्षिण दिग्यात्रा—शास्त्रीजी की यह पुस्तक भी खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से ही सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुई थी। १०८ पृष्ठों की इस पुस्तक में शास्त्रीजी ने अपनी दक्षिण भारत की यात्रा का सम्पूर्ण विवरण दिया है। यह यात्रा-वर्णन प्रथम हिन्दी में है, फिर संस्कृत में तथा पुनः हिन्दी में पत्रों के रूप में दिया गया है। रामेश्वर मन्दिर, व्यंकटगिरि आदि की यात्राओं का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है।

लाला कल्याणचन्द्र

आप सनातनधर्म के बड़े श्रद्धालु और कानपुर के अमीरों में बड़े प्रतिष्ठित पुरुष थे।[2] आपने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'बदरीकेदार-यात्रा' नाम से सन् १८५६ ई० में लिखी थी। इसका प्रकाशन ब्रजभूषणलाल गुप्त (मैनेजर, ब्राह्मण पत्रिका, कानपुर) द्वारा भारत जीवन प्रेस, काशी से सन् १८९० ई० में हुआ था। इसमें कल्याणचन्द्रजी ने पहले केदारनाथ की यात्रा का वर्णन दिया है, फिर बदरीनाथ का। १८ पृष्ठों की इस पुस्तक की सारी यात्रा पद्यमय है, जो दोहा, जैकरी छन्द, चौपाई और सोरठे में लिपिबद्ध है। गणपति की वन्दना से पुस्तक आरम्भ करके सारे तीर्थों की क्रम से यात्रा वर्णित की गई है। पुस्तक बड़ी ही सरल और सरस शैली में

---

१. लन्दन का यात्री—भगवानदास वर्मा, पृ० ८

२. बदरीकेदार यात्रा—(भूमिका से) ले० ब्रजभूषणलाल गुप्त

लिखी गई है। यहाँ पर एक उद्धरण दृष्टव्य होगा जिसमें विभिन्न गंगाओं की यात्रा का वर्णन चौपाई में दिया गया है—

करि असनान दरस शिव केरा। छेत्रपाल चट्टी में डेरा॥
चलि फिरि बीर गंगा में न्हाए। अलखनन्दा को संगम पाए॥
पुनि आगे मुसुंडि गंगा है। दरसन किये पाप भंगा है॥
अलकनन्दा के पार सहावन। नारायण कोटी है पावन॥
लक्ष्मीनारायण जहँ राजै। विल्ववृक्ष निःकंटक छाजै॥
पीपलकोटी में करि डेरा। आगे चलिए होत सवेरा॥
पुनि श्री गरुड़ गंग में न्हैए। फिरि पाताल गंग में जैए॥[1]

बाबू साधुचरण प्रसाद

कृतियाँ—बाबू साधुचरण प्रसादजी ने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर 'भारत-भ्रमण' नामक एक अमूल्य ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रथम बार काशी से हुआ था, परन्तु प्रकाशन-सन् अज्ञात है। इसका प्राप्त संस्करण सम्वत् १९६६, शके १८३१ में खेमराज श्रीकृष्णदास ने श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से मुद्रित कर प्रकाशित किया था। इसमें भारतवर्ष के तीर्थ, शहर और अन्य प्रसिद्ध स्थानों के भूतकालिक और वर्तमानकालिक वृत्तान्त पूर्ण रीति से लिखे गए हैं। साधुचरणजी ने जिस क्रम से भारतवर्ष में भ्रमण किया उसी क्रम से पाँचों खण्ड विभाजित हैं।

पहली यात्रा सन् १८९१-९२ ई०
दूसरी यात्रा सन् १८९२ ई०
तीसरी यात्रा सन् १८९२-९३ ई०
चौथी यात्रा सन् १८९३ ई०
पाँचवीं यात्रा सन् १८९६ ई०

इसके प्रत्येक खण्ड में विस्तृत रूप से यात्राएँ वर्णित की गई हैं। इन यात्राओं के वर्णन के साथ-साथ प्रसंगवश आए चारों वेद, अठारहों पुराण, मनु आदि महर्षियों के धर्म-शास्त्र और महाभारत के उदाहरणों सहित वर्णनों को सम्पूर्ण किया गया है। पाँचों खण्डों की यात्रा का परिचय इस प्रकार है—

प्रथम खण्ड में—पश्चिमोत्तर देश का भाग, मध्यभारत, राजपूताना, अजमेर और मध्यप्रदेश के भागों की यात्राओं का वर्णन है।

द्वितीय खण्ड में—पश्चिमोत्तर देश का भाग, अवध, पंजाब, काश्मीर और सिन्ध देश की यात्राओं का वर्णन है।

---

१. बदरीकेदार-यात्रा—लाला कल्याणचन्द्र, पृ० ११

तृतीय खण्ड में—बंगाल के चारों सूबे अर्थात् बिहार, बंगाल, उड़ीसा, छोटा नागपुर, स्वतन्त्र राज्य, नैपाल तथा भूटान और आसाम की यात्राओं का वर्णन है।

चतुर्थ खण्ड में—मध्य देश का भाग, बरार, बम्बई, मद्रास, हैदराबाद का राज्य मैसूर, कुर्ग आदि की यात्राओं का वर्णन इसमें दिया गया है।

पंचम खण्ड में—पश्चिमोत्तर देश के बदरिकाश्रम इत्यादि पहाड़ी देशों के वृत्तान्त लिखे गए हैं।

पुस्तक अत्यन्त विशाल तथा सामान्य ज्ञान की बातों से परिपूर्ण है।

पंडित विगू मिश्र उपनाम वेणीमाधव कवि

वेणीमाधव कवि की यात्रा-साहित्य पर 'ब्रजयात्रा' नामक एक काव्य-पुस्तक सन् १८९४ ई० में बिहार-बन्धु छापाखाना, बाँकीपुर से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में केवल ३२ पृष्ठ हैं। इन पृष्ठों में कविजी ने मधुवन, ललिताकुण्ड, मानसी-गंगा, विलक्षण बन, नन्दघाट, चीरघाट आदि का ब्रजभाषा के माध्यम से कवित्त, दोहा, सोरठा, छप्पय, सवैया, चौपाई में वर्णन किया है। वर्णन काव्यमय होने के कारण सुन्दर बन पड़ा है। देखिए कुछ पंक्तियों की बानगी—

एक दिवस मम धाम में, इष्ट-मित्र सब आय।
देस-देस के तीर्थ को, चरचा कियो सुभाय॥
तामें चोवा राम वो, साहनाम जहँगीर।
कह्यो चलो यात्रा करें, मथुरा को धरि धीर॥
सुनि गुनि मन आनन्द भए घरी न घर ठहरात।
करि सलाह तीनों सुजन, चल्यो धाम तजि प्रात॥[1]

पण्डित श्रीराम शर्मा

पण्डित श्रीराम शर्मा बी० ए० का जन्म सन् १८९५ ई० में हुआ था। आप प्रसिद्ध और सिद्ध अचूक निशाना लगानेवाले शिकारी हैं। आपके लेखों का निशाना भी सीधा पाठकों के हृदयों पर जाकर बैठता है। अपने ढंग के आप एक ही लेखक हैं। आपका जीवन बड़ा संघर्षमय रहा है। आजकल आप हिन्दी के प्रमुख मासिक पत्र 'विशाल भारत' के सम्पादक पद पर हैं, और बल्का बस्ती आगरा में ही रहते हैं। बिगड़े स्वास्थ्य और हृदयरोग के साथ-साथ आपकी आँख भी खराब हो गई हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप 'विशाल-भारत' को बोलकर लिखाते हैं।[2] आप बड़े ही उदारहृदय और हिन्दी सेवी हैं। 'सैनिक' और 'प्रताप' का भी सम्पादन आप कर चुके हैं। हिन्दी में शर्माजी ने शिकार-सम्बन्धी साहसिक और रोमांचकारी यात्रा-साहित्य

---

१. ब्रजयात्रा—पं० विगू मिश्र, पृ० १
२. लेखक के नाम आए पं० श्रीरामशर्माजी के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

का सर्वथा नवीन निर्माण कर, हिन्दी गद्य में ओजपूर्ण भाषा-शैली की प्रतिष्ठा की है। प्रभावोत्पादक घटना के वर्णनों के साथ-साथ दार्शनिक विवेचना आपकी लेखन शैली की विशेषता है। भाव-विश्लेषण मनोविज्ञान-सम्मत और भाषा विषयानुरूप होती है।

कृतियाँ—शिकारी यात्राओं से सम्बन्धित इनकी दो पुस्तकें अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। 'शिकार' और 'प्राणों का सौदा'।

शिकार—'शिकार' नामक पुस्तक साहित्य सदन, किरथरा (मैनपुरी) से सन् १६३२ ई० में प्रकाशित हुई थी। २६६ पृष्ठों की इस पुस्तक में आपने शिकार के सम्बन्ध में की गई यात्राओं एवं व्यक्तिगत अनुभवों की मनोहर और रोमाचकारी गाथाएँ लिखी हैं। शिकार अपनी इसी लोकप्रियता के कारण गुजराती और बंगला में भी अनुवादित हो चुका है। एक उद्धरण देखिए—

"मन की ऐसी ही परिस्थिति में कल्पना-पर्वत के उच्चतम शिखर पर जब भावनाएँ सुकुमार विचारों का एक ताना-बाना पूर रही थीं और जब आशा और निराशा वायु के झकोरे उन विचारों को हिला से रहे थे, तब मन का पेण्डुलम जगत्-जन्य ग्लानि की ओर बढ़ा और वे सुकुमार विचार ऐसे विलीन हो गए, जैसे नदी में बहता हुआ घड़ा पत्थर की चोट से टूटकर डूब गया हो।"[1]

प्राणों का सौदा—इस ग्रन्थ में शर्माजी ने देशी-विदेशी सच्ची साहसिक घटनाओं को मौलिक यात्रा-कथाओं का रूप देकर रुचिरता प्रदान की है। पुस्तक में प्रमुख रूप से विख्याति शिकारियों की शिकारी यात्राओं का सुन्दर वर्णन दिया गया है। शिकार की विचित्र और अद्भुत घटनाओं में सजीवता है।

पं० रामशंकर व्यास

व्यासजी ने यात्रा-साहित्य पर एक छोटी-सी ६३ पृष्ठों की 'पंजाब-यात्रा' नामक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक का प्रकाशन प्रथम बार सन् १६०७ ई० में खड्ग-विलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना से हुआ था। यह पुस्तक व्यासजी की ६ सितम्बर, सन् १८६७ ई० से २० नवम्बर १८६७ ई० तक की पंजाब-यात्रा का वर्णन प्रस्तुत करती है। यह मुख्य रूप से डायरी-शैली में लिखी गई है। इसी यात्रा में आप हरद्वार की ओर भी गए थे, यह इनके निम्न दोहे से प्रकट होता है—

माननीय सरकार सह, आयो श्री हरद्वार।
करि तीरथ असनान व्रत, पायो जनम उधार॥
उनइस सौ चौअन सुभग, आश्विन दशमी श्याम।
व्यास रामशंकर बसें, काशि माननृप धाम॥[2]

---

१. शिकार—पं० श्रीराम शर्मा, पृ० १२६
२. पंजाब यात्रा, पृ० २०

इनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है यह काशी के निवासी थे और काशीनरेश के यहाँ रहते थे, शेष यात्रा गद्य में ही वर्णित है।

श्री धनपतिलाल

यात्रा-सम्बन्धी 'श्री द्वारिकानाथ यात्रा' नामक एक पुस्तक आपकी लिखी है। यह पुस्तक ३० नवम्बर, सन् १९१२ ई० को ब्राह्मण प्रेस, कानपुर से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में कुल २० पृष्ठ हैं। इसमें सीधी-सादी उर्दू-मिश्रित बोली में द्वारिकानाथ यात्रा का सारा वृत्तान्त वर्णित है। साधारण भाषा में वर्णन दिया गया है। देखिए एक उद्धरण—

"द्वारिकाजी करीब-करीब बम्बई से ४ या ५ सौ मील के लगभग हैं। द्वारिकाजी में पहुँचकर पहले ही यात्री गौमतीजी का स्नान करते हैं।"[1]

श्री वेणी शुक्ल

वेणी शुक्लजी की केवल एक पुस्तक उपलब्ध है। 'लन्दन पेरिस की सैर' नामक इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९२६ ई० में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से हुआ था। १०७ पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने अपनी लन्दन और पेरिस की यात्रा का सम्पूर्ण वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। इनकी यात्राओं को वर्णित करने की शैली निबन्धकार पं० बालकृष्ण भट्ट की तरह की है। एक उद्धरण देखिए—

"प्रयाग से दो स्टेशन बाद शंकरगढ़ लाइन के दोनों ओर विन्ध्याचल की मनोरम कैमूर श्रेणी आरम्भ हो जाती है, जिसके चित्रकूट आदि मनोरम स्थानों को भगवान् रघुकुलकमल दिवाकर ने बनवास के समय अपनी चरण-रज से पवित्र कर और भी रमणीक बना दिया है।"[2]

महता जैमिनीजी, बी० ए०

महता जैमिनीजी की यात्रा-साहित्य पर 'श्याम देश यात्रा' नामक एक पुस्तक है। ७९ पृष्ठों की यह पुस्तक प्रथम बार सन् १९२७ ई० में अरोड़वंस प्रेस, लाहौर से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में जैमिनीजी ने स्याम देश की यात्रा का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है।

श्री मंगलानन्द पुरी संन्यासी

संन्यासीजी की यात्रा-साहित्य सम्बन्धी 'अफ्रीका-यात्रा' नामक एक पुस्तक है। ६८० पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९२८ ई० में संन्यासीजी द्वारा ही हुआ था। यह पुस्तक एक व्यक्तिविशेष के यात्रा की कहानी है, पर केवल कहानी मात्र ही नहीं, वरन् इसमें समुद्र, जहाज विदेशी और स्वदेशी या नवीन प्रणाली (स्टीमर धूम्रपोत)

---

१. श्री द्वारिकानाथ यात्रा—धनपतिलाल, पृ० ११
२. लन्दन-पेरिस की सैर—वेणी शुक्ल, पृ० ४

और पुरानी प्रणाली (पंखा जहाज) सभी का वृत्तान्त मिलता है। साथ ही समुद्र पार देशों में जाने से क्या-क्या लाभ होते हैं, आदि बातें भी दी गई हैं। जीवन-यात्रा के लिए उपयोगी कुछ शिक्षाएँ भी मिलती हैं जो अनुभव-सिद्ध हैं। पुस्तक छः खण्डों में विभाजित है। इसमें संन्यासीजी ने अपनी ५ बार की अफ्रीका महाद्वीप की यात्रा का वर्णन दिया है। पुस्तकांत में संन्यासीजी ने जिस समस्या का जिक्र किया है 'अर्थात् उपनिवेश बसाने की आवश्यकता,' वह वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रश्न को संन्यासी के ६८० पृष्ठों का मूल उद्देश्य समझना चाहिए। यही इस यात्रा-ग्रन्थ का मूल तत्त्व (Central Idea) है। इनकी यात्रा के लेख प्रमुख रूप से पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे हैं। इनकी मारिशस यात्रा 'मर्यादा' जुलाई १९१२ में भी छपी थी। हिन्दी के सभी प्रमुख पत्रों ने इस ग्रन्थ की बहुत प्रशंसा की है। मारिशस यात्रा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"मैंने भी रेलों की खूब सैर की थी। अतः रेलों पर से जिधर देखा उधर पहाड़-ही-पहाड़ दृष्टिगोचर हुए। पर वे निस्सन्देह वृक्षों, पौधों, जड़ी-बूटियों, फल-फूलों इत्यादि से ऐसे भरे पड़े हैं कि मानो प्रकृति ने इन्हें हरी चादर उड़ा रक्खी है। पहाड़ी, झरने और नदियाँ बड़े स्वच्छ निर्मल जल को बहाए समुद्र की ओर चली जा रही हैं।"[1]

श्री गोपाल नेवटिया

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर नेवटियाजी की एक पुस्तक 'काश्मीर' नाम से प्रकाशित है। सन् १९३० ई० में हिन्दी मन्दिर, प्रयाग से इसका प्रकाशन हुआ था। पुस्तक में दिए हुए 'काश्मीर के कुछ संस्मरण' से पता चलता है कि १९२८ ई० के ग्रीष्म में वे तथा उनके कुछ साथी काश्मीर गए थे। नेवटियाजी ने काश्मीर-यात्रा के अपने भिन्न-भिन्न अनुभवों को एक कवि की सहानुभूति के साथ काश्मीर में संचित किया है। इस पुस्तक में उन्होंने अपनी विभिन्न स्थानों, जैसे शंकराचार्य मन्दिर, डल झील, मानसबल, पहलगाँव, चन्दनवाड़ी आदि की यात्राओं का बहुत सुन्दर वर्णन दिया है। लेखक का कथन है: "काश्मीर को सर्वथा एक गाइड का रूप देना हमें पसन्द न था।" वास्तव में पुस्तक 'गाइड' की आवश्यकताओं की कुछ पूर्त्ति करती है या नहीं, यह तो तभी कहा जा सकता है, जब उससे गाइड होकर काश्मीर-यात्रा की जाय। परन्तु काश्मीर के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ इसमें संगृहीत हैं, वे अवश्य उपयोगी और मनोरंजक हैं। इस दृष्टि से परिच्छेद ७, ८, ९ और १० का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इनमें 'काश्मीरी कला-कौशल' और 'काश्मीरी नर-नारी' अध्याय अधिक अच्छे हैं। 'काश्मीर' कवित्वमय है। काश्मीर भी कवित्वमय है। भावुक लेखक ने पुस्तक को सर्वथा एक गाइड न बनाकर उसमें अपने उन संस्कारों

---

१. अफ्रीका यात्रा—मंगलानन्द पुरी संन्यासी, पृ० ३८४

का चित्रांकन करने का प्रयत्न किया है जो शायद काश्मीर-दर्शन की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों से उत्पन्न हुए थे। जिन स्थलों पर सामान्य वर्णन मात्र ही अपेक्षणीय था, वहाँ भी कभी-कभी लेखक महोदय ने अपने भावोद्रेक का परिचय दिया है। प्रायः पुस्तक पढ़ने से गद्य-काव्य का आनन्द आ ही जाता है। परन्तु साथ ही जहाँ लेखक महोदय का कवि-प्रयास व्यक्त हो जाता है, वहाँ कृत्रिमता-सी भी मालूम होने लगती है, जिससे किसी विशेष अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती। ऐसे प्रश्नसूचक वाक्यों की बहुलता और काश्मीर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कवियों के उद्धरणों की भरमार इस प्रयास की सूचक है। लेखक ने 'काश्मीर' में यहीं-कहीं अपनी कविता भी उद्धृत की है। पुस्तक के पौने दो सौ चित्रों में से कोई-कोई तो ऐसे मनोरम हैं कि देखते रहने को ही तबियत चाहती है। परन्तु ये किसी क्रम से नहीं लगाए गए हैं। वर्णन के सामने ही वर्ण्य-विषयों के चित्र रहते तो अच्छा होता। देखिए एक उद्धरण—

"उद्यान की उस बारहदरी में बैठकर उद्यान के कोमल किसलय और मुकुलित पुष्पराशि पर और महादेवगिरि की हिमाच्छादित उज्ज्वल धवल चोटियों पर और सामने उस विशाल झील में कमलवन पर खिली हुई चाँदनी को देखने में कितना आनन्द है, कितना आकर्षण है!"[1]

श्री कृपानाथ मिश्र

मिश्रजी की यात्रा-साहित्य पर 'विदेश की बात' नामक पुस्तक है। यह पुस्तक सन् १६३२ ई० मे इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। इसमें मिश्रजी ने अपनी विदेश-यात्रा का बहुत सुन्दर वर्णन दिया है। उनकी यह यात्रा जहाज द्वारा की गई थी। मिश्रजी का जहाज अदन से मार्सेल होता हुआ कार्सिका नामक द्वीप तक जाता है। इस सागरीय यात्रा के वर्णन के साथ ही रास्ते के सभी स्थलों का वर्णन भी किया गया है। सन्ध्याकालीन एक दृश्य देखिए—

'सुदूर स्थित गिरिमालाओं के शृङ्ग पर, कार्सिका नामक अपरिचित द्वीप में भी, शंकर का उज्ज्वल रूप चमक रहा है। वहाँ के लता-गुल्म आदि दूर से रुद्राक्ष-माला की भाँति शोभायमान थे। कार्सिका का सौन्दर्य कठोरव्रतावलम्बी किशोरी की भाँति करुण तथा गम्भीर है।"[2]

श्री हरिकृष्ण झाझड़िया

हरिकृष्णजी की एक पुस्तक 'मेरी दक्षिण भारत यात्रा' नाम से है। यह पुस्तक सन् १६३४ ई० में कलकत्ता सें प्रकाशित हुई थी। झाझड़ियाजी ने इसमें दक्षिणी भारत के प्रमुख मन्दिरों का विशेष रूप से वर्णन दिया है। १२६ पृष्ठों की इस पुस्तक में भारतीय तीर्थों की पुण्यमयी धार्मिक यात्रा का यह वर्णन आस्तिक हिन्दू

---

१. काश्मीर—श्रीगोपाल नेवटिया, पृ० ५६
२. विदेश की बात—कृपानाथ मिश्र, पृ० ३०

जीवन की आध्यात्मिक उन्नति के लिए मार्ग-दर्शक है। प्रमुख तीर्थों के दर्शन करने के परिणामस्वरूप लेखक ने स्थान-स्थान पर तैयार किए लेखों का संकलन भी इस पुस्तक में कर दिया है।

श्री सत्येन्द्रनारायण

सत्येन्द्रनारायणजी की यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'दक्षिण भारत की यात्रा' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९३५ ई० में श्रीनाथ साह द्वारा दुर्गाकुण्ड, काशी से हुआ था। ९८ पृष्ठों की इस पुस्तक में सत्येन्द्रजी ने अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के कुछ बीतते हुए क्षणों, कुछ उठते हुए विचारों और कुछ छूटते हुए स्थानों का रेखाचित्र मात्र खींचा है। पुस्तक सुन्दर है।

श्री धर्मचन्द सरावगी

यात्रा-साहित्य पर सरावगीजी की एक पुस्तक 'यूरोप में सात मास' नाम से प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक सरावगीजी ने अपनी यूरोप-यात्रा के बहुत दिन बाद लिखी। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९३६ ई० में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से हुआ था। ३४४ पृष्ठों की इस पुस्तक में यात्रा करने के साथ-साथ यूरोप के दर्शनीय स्थानों, वहाँ की संस्थाओं एवं वहाँ के रीति-रिवाजों का भी वर्णन किया गया है। पुस्तक यात्रा के संस्मरणों के रूप में ही लिखी गई है।

पंडित देवदत्त शास्त्री 'विरक्त'

शास्त्रीजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'मेरी काश्मीर यात्रा' नाम से है। सन् १९४१ ई० में यह पुस्तक चौधरी एण्ड सन्स, बनारस से प्रकाशित हुई थी। १५१ पृष्ठों की इस पुस्तक में युवक लेखक विरक्तजी ने स्वर्ग-वसुधा काश्मीर के दर्शनीय स्थलों के सुरुचिपूर्ण वर्णन के प्रत्येक अंश में मनोगत विचारों के शब्द-चित्र झलकाये हैं। काश्मीर सम्बन्धी जनश्रुति, मिथ्या भ्रमों का निराकरण तथा दृष्टव्य सुगम-दुर्गम स्थानों का सांगोपांग वर्णन करके आपने सर्वसाधारण को यात्रा-साहित्य का ज्ञान देने का प्रयत्न किया है। यात्रा-मार्ग के सारे दृश्यों—वहाँ के सामाजिक जीवन रहन-सहन का पूर्ण विवरण दिया है। विरक्तजी ने अपनी यात्रा के लिए अन्तिम शब्दों में लिखा है—"यह भारी यात्रा हमारे सुनहले जीवन के सुन्दर पृष्ठों पर विशुद्ध भावों से युक्त स्निग्ध मसि द्वारा लिखी गई है। यह भुलाई नहीं जा सकती है।"[1] इसमें साहित्यिक वर्णन की बहुलता है। काश्मीर की सौन्दर्यमयी आभा का वर्णन इस उद्धरण में देखिए—

"प्रान्तर भाग में सरसता और सुन्दरता के आलय सरोवर मुकुल मंजुल मही रूहों से आक्रान्त हो अपने कलित अंक में रसमूल लहरों को लिए हुए लहरा रहे थे। दोलायमान लहरों की कमनीयता को देखकर प्रतीत होता था मानो प्रकृति देवी अपने कराम्बुज हिलाकर कलित काश्मीर की कमनीयता लिख रही है।"[2]

---

१. मेरी काश्मीर यात्रा— पण्डित देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० १३७

२. वही, पृ० ४८

श्री रामचन्द्र शर्मा, बी० ए०

शर्माजी की यात्रा-साहित्य पर 'इंग्लैण्ड यात्रा' नामक एक पुस्तक है। (इस पुस्तक का प्रयत्न करने पर भी हमें तृतीय संस्करण ही मिल सका) इसका तृतीय संस्करण सन् १९४१ ई० एजूकेशनल पब्लिशिंग हाउस, काशी से प्रकाशित हुआ था। १०२ पृष्ठों की इस पुस्तक में शर्माजी ने अपनी इंग्लैण्ड यात्रा का सम्पूर्ण वर्णन दे दिया है।

स्वामी प्रणवानन्द

इनका नाम पहले श्री कनकदण्डी वेंकट सोमयाजुल था। इनके विषय में राहुलजी के ग्रन्थों से ही कुछ सूचनाएँ मिल सकी हैं, वे यहाँ दी जा रही हैं। राहुलजी ने लिखा है—"२२ फरवरी, १९३६ को जब शिवरात्रि के लिए आए यात्री लौटने लगे थे, इन्हीं यात्रियों में मेरे पुराने मित्र श्री कनकदण्डी वेंकट सोमयाजुल भी थे। अब वह लाहौर के डी० ए० वी० कालेज के १७ वर्ष पहले वाले सोमयाजुल नहीं, बल्कि कैलाश, मानसरोवर वासी स्वामी प्रणवानन्द थे। विद्यार्थी अवस्था में हम एक-दूसरे के बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध में आये थे। सोमयाजुल एक स्वावलम्बी छात्र थे, बी० ए० की अन्तिम परीक्षा में एक बार अनुत्तीर्ण हो जाने पर फिर उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया। १९२६ तक अपने आन्ध्र प्रदेश में वह कांग्रेस का कार्य करते रहे, फिर योग-वैराग्य ने उनको अपनी ओर खींचा, और वह साधु हो गए। कैलाश की पहली यात्रा में लद्दाख से जाने के लिए मैंने भी कुछ परिचय-पत्रों द्वारा उनकी सहायता की थी। १७ वर्ष बाद आदमी में बहुत परिवर्तन हो जाता है और स्वामी प्रणवानन्द ने तो अब दाढ़ी और बाल बढ़ा रखे थे, लेकिन उनके पीछे उनकी चेतना छिप नहीं सकती थी। उनके और अपने १७ वर्ष के जीवन पर बहुत देर तक बातें होती रहीं। अब भी वह बात करने में संकोच का नाम नहीं जानते थे, हालाँकि अब वह समाधि लगानेवाले योगी थे। वह अध्यात्म जीवन के बड़े प्रशंसक थे, लेकिन मैं तो उस मंज़िल को पार कर चुका था, न मुझे अध्यात्म विद्या अपनी ओर खींच सकती थी न योग समाधि; लेकिन अब भी जब वह अपने और अपने गुरु के कई घण्टों साँस छोड़कर समाधि लगाने की बात कहते थे, तो मन करता था—काश, यह बात १० वर्ष पहले मालूम हुई होती, यदि उस समय मेरे पास बहुत समय था, शायद एक-दो वर्ष इसमें भी लगा देता।"[1] राहुलजी के शब्दों में आन्ध्र-तरुण श्री कनकदण्डी सोमयाजुल आज कैलाश मानसरोवर के स्वामी प्रणवानन्द नाम से विख्यात हैं और मानसरोवर के भौगोलिक अनुसन्धान में उन्होंने काफी ख्याति प्राप्त की है।[2]

---

१. यात्रा के पन्ने—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ८-९

२. अतीत से वर्तमान—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ८४

आपकी हिन्दी यात्रा-साहित्य सम्बन्धी एक पुस्तक 'कैलाश मानसरोवर' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४३ ई० में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से हुआ था। ४४० पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने अपनी १० वर्ष की कैलाश और मानसरोवर की यात्राओं का खोजपूर्ण यात्रा-वर्णन दिया है जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मपुत्र, सिन्धु और करनाली के उद्गम स्थानों की खोज विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें कैलाश-मानसरोवर का विस्तृत एवं रोचक वर्णन दिया गया है। साथ ही कैलाश और मानसरोवर के जीवन का एक जीता-जागता चित्र भी उपस्थित किया गया है। इन्होंने १९२८ में प्रथम बार कैलाश-मानस की यात्रा की थी। कैलाश और मानसरोवर के विस्तृत विवरण में आपने वहाँ के मानस-खण्ड, खनिज निवासी, धर्म, कृषि एवं आर्थिक स्थिति, शासन, मार्ग आदि का विवरण दिया है।

श्री चक्रधर 'हंस'

हिन्दी यात्रा-साहित्य में आपकी एक पुस्तक 'भारत के कुछ दर्शनीय स्थान' नाम से प्रकाशित हुई थी। इसका प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास द्वारा सन् १९४६ ई० में लाहौर से हुआ था। १२६ पृष्ठों की इस पुस्तक में 'हंस' जी ने अपनी विभिन्न स्थानों की यात्राओं को संगृहीत कर दिया है। इसमें ८ यात्राएँ वर्णित हैं। ये इस प्रकार हैं—श्री बदरी-केदार यात्रा, अल्मोड़ा की सैर, बनारस और सारनाथ, पाटलीपुत्र का भ्रमण, प्रयाग का खुसरोबाग, कलकत्ते का भ्रमण, कलकत्ते का अजायबघर, सक्खर का भ्रमण आदि। इनकी ये यात्राएँ सन् १९३२-३३ ई० की 'सरस्वती' में भी प्रकाशित हो चुकी हैं। सभी यात्राएँ बड़े ही साहित्यिक रूप से लिखी गई हैं। चित्रों के कारण इसकी सुन्दरता द्विगुणित हो गई है। पर्वतराज हिमालय की शोभा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सामने पर्वतराज हिमालय की निराली शोभा और नीचे कलकलनादिनी अलखनन्दा की अनोखी छटा देखते ही बनती है। गर्मियों में यहाँ मन्द-मन्द पवन निरन्तर बहता रहता है जो जीवन में एक नवीन स्फूर्ति पैदा कर देता है। चारों ओर सरों, चीड़ और देवदारु के सघन जंगल जिनमें पक्षियों का कलरव अत्यन्त मनोहर मालूम देता था।"[1]

स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, एम० ए०

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर स्वामीजी की एक पुस्तक 'कैलाश-दर्शन' नाम से है। स्वामीजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४६ ई० में साधना कार्यालय, बीसलपुर, पीलीभीत से हुआ था। २२७ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने जौहार, बागेश्वर, गिरगाँव, भिलम, तिब्बत, दर्चिन, राक्षसताल, तकलाकोट, मसमौली, कोटेश्वर आदि स्थानों का विस्तृत यात्रा-वर्णन अंकित किया है। यात्रा-वर्णनों के साथ ही कैलाश-

---

१. भारत के कुछ दर्शनीय स्थान—चक्रधर 'हंस', पृ० १०

यात्रा की अनुभूतियों, स्मृतियों और अनुभव की चेतनाओं को जो उनके अन्तर को उद्वेलित कर रहीं थीं, शब्दचित्रों द्वारा उद्भासित करने का प्रयत्न किया है। जौहार मार्ग का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"इसी रास्ते पर इन पर्वतों का प्रसिद्ध गाँव 'छौना-बिलौरी' जो एक पर्वतीय गीत में अमर हो चुका है—एक विवाह के योग्य आयुवाली कन्या गाती है—

छौनी बिलौरी जन दिया बोज्यू,
लागला बिलौरी का घाम।
हांथ की दांतुली हांथ में रौली,
लागला बिलौरी······ ॥

अर्थात् मुझे इस गाँव में मत देना, वहाँ की धूप मुझे लग जाएगी और घास काटने को जाऊँगी तो धूप लग जाएगी और मैं मर जाऊँगी। हांथ की दांतुली हांथ में रहेगी।"[1]

श्री जी० डी० जोशी

जोशीजी ने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर अपनी एक 'साइकिल-यात्रा' नामक पुस्तक लिखी है। आपकी इस पुस्तक का प्रकाशन अप्रैल, सन् १६४६ ई० में हिमालय पब्लिकेशन्स, बम्बई से हुआ था। पुस्तक दो भागों में विभाजित है। इसमें आपने अपनी साइकिल-यात्रा का (जो उन्होंने दिल्ली से कलकत्ता तक की थी) वर्णन दिया है। पहले इनकी इस यात्रा के लेख सन् १६३२ ई० में 'सरस्वती' पत्रिका में निकले थे। पुस्तक एक कल्पित उपन्यास की भाँति रची गई है, असली यात्रा के पक्ष को अत्यन्त रोचक बना दिया गया है। इनकी यात्रा का एक उद्धरण देखिए—

"सूर्य भगवान् अपनी दोपहर की उष्णता छोड़कर शान्ति से थके-माँदे बटोही की तरह पश्चिम की ओर जा रहे हैं। उनकी दोपहर की जवानी का रोष अब सायं-काल के बुढ़ापे में परिवर्तित हो गया है।"[2]

श्रीमती सत्यवती मल्लिक

आप आदर्श पत्नी, सुसंस्कृत गृहस्थ और प्रेमी माता होने के साथ-साथ एक सफल कलाकार भी हैं। आपके पूज्य पिता श्री लाला चिरंजीलालजी श्रीनगर के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित नागरिक रहे हैं। इनके सुशिक्षित पतिदेव श्रीयुत आर० एल० मल्लिक हैं। उन्हें साहित्य में सुरुचि है। वस्तुतः वे प्रगतिशील हैं।[3]

सत्यवतीजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य में 'काश्मीर की सैर' नामक एक यात्रा-पुस्तक है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १६५० ई० रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स,

---

१. कैलाश-दर्शन—स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, पृ० ६
२. साइकिल यात्रा—जी० डी० जोशी, पृ० ७३
३. विशाल भारत—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी—जुलाई, १६४०, भाग-२६, अंक १

दिल्ली से हुआ था। ११० पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने अपनी काश्मीर की सैर का सुन्दर वर्णन किया है। वह इनकी जननी जन्मभूमि है, जिसकी झीलों, नदियों, हरे-भरे मैदानों एवं वन-प्रान्तों का स्वाभाविक वर्णन अपने प्रकृति-वैचित्र्य से पूर्ण है। वैरीनाग का वर्णन करती हुई मल्लिकजी ने लिखा है—

"पांचाल शिखर से यह चारों ओर ऊंचे-ऊँचे हिमाच्छादित पर्वतों से घिरी, धान के खेतों, नदी-नालों, जलाशयों और सुन्दर मधुर फलयुक्त फलों से पूरित, काश्मीर देश की विस्तृत घाटी दिखाई पड़ती है।"[1]

श्री महेशप्रसाद श्रीवास्तव

महेशप्रसादजी की यात्रा-सम्बन्धी 'दिल्ली से मास्को' नामक एक पुस्तक है। यह पुस्तक श्रीमती कृष्णाकुमारी श्रीवास्तव द्वारा सन १९५१ ई० में इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में महेशजी ने रूस जाने की प्रेरणा से लेकर अपनी यात्रा करने तक का पूरा विवरण दिया है। इसमें लंदन, बर्लिन, मास्को, लेनिनग्रेड आदि बड़े-बड़े विदेशी शहरों का समाचार तथा हवाई और सागरीय यात्रा का आवश्यक वर्णन किया है। यह यात्रा जहाज द्वारा प्रारम्भ की गई परन्तु हवाई जहाज द्वारा पूरी हुई थी।

परिव्राजकाचार्य स्वामी स्वतन्त्रतानन्द

स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'मेरी मारीशस आदि देशों की यात्रा" नाम से है। स्वामीजी की यह पुस्तक सन् १९५१ ई० में वैदिक साहित्य सदन, दिल्ली से प्रकाशित हुई थी। १९९ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने पूर्वी अफ्रीका और मारीशस आदि में भारतीयों का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संघर्ष तथा वहाँ की यात्रा का सम्पूर्ण वृत्तान्त दिया है। विशेष रूप से इस पुस्तक में उन यात्राओं का वर्णन है जो स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी ने २१-१०-४९ से सन् ३१-१०-५० तक मारीशस, जंजीबार आदि द्वीपों तथा टांगान्याका, यूगैंडा और केनिया-कालोनी में वैदिक धर्म एवं भारतीय संस्कृति के प्रचारार्थ की थीं। साथ ही इसमें उन यात्राओं का भी संक्षेप में वर्णन करदिया गया है जो स्वामी स्वतन्त्रात-नन्दजी ने १९०१ ई० से सन् १९०४ ई० तक मलाया, बर्मा आदि देशों में की थीं। इस प्रकार स्वामीजी की समस्त यात्राओं का वर्णन इस ग्रन्थ में एकत्र मिल जाता है।

बैरिस्टर नवलकिशोर अग्रवाल

अग्रवालजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य पर केवल एक पुस्तक 'देश-विदेश' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५२ ई० में पुस्तक सदन, कलकत्ता से हुआ था। आपने इस देश-विदेश नामक पुस्तक में अनेक यात्रा-घटनाओं के ५३ संस्मरण अंकित

---

१. काश्मीर की सैर—सत्यवती मल्लिक, ९०४

किए हैं। इन संस्मरणों में उनकी जागरूकता और सूझ-बूझ सर्वत्र विद्यमान है। विदेशों की राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक झाँकी के साथ-साथ देश की भी एतद्विषयक घटनाओं का आँकलन रोचक शैली में किया गया है। देश-विदेश की ज्ञातव्य बातों से परिपूर्ण यह उपदेशपूर्ण यात्रा-पुस्तक है।

डा० मुनिकान्त सागर

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर डा० मुनिकान्त सागरजी की दो पुस्तकें उपलब्ध हैं—खण्डहरों का वैभव (१९५३) और खोज की पगडंडियाँ (१९५३)।

१. **खण्डहरों का वैभव**—डा० मुनिकान्तजी की इस पुस्तक का प्रकाशन जून सन् १९५३ ई० को भारतीय विद्यापीठ, काशी से हुआ था। ४३६ पृष्ठों की इस पुस्तक में मुनिकान्तजी ने विशेषकर मध्यप्रदेश के पुरातत्त्वों का ही वर्णन दिया है, जिसे उन्होंने अपने पैदल भ्रमण में स्वयं देखा है। पुस्तक में जैन पुरातत्त्व, बौद्ध पुरातत्त्व और हिन्दू पुरातत्त्व का वर्णन अध्यायों में है। नवें अध्याय में महाकोशल की कृतियों में से चार पगडंडियों के मूल स्रोत की व्याख्या की गई है और अन्तिम दसवें अध्याय में श्रमण संस्कृति और सौन्दर्य का विवेचन किया गया है। किन्तु इतने सीमित प्रदेश की यात्रा में प्रायः पग-पग पर उसने इस वैभव की जो दुर्गति देखी, उसे पढ़कर हृदय विकल हो उठता है। यह मुनिकान्तजी के अनेकों वर्षों की कठिन पुरातत्त्व साधना १० लेखों के रूप मे प्रतिफलित हुई है। इसमें तीन लेख मध्यप्रदेश के जैन, बौद्ध और हिन्दू पुरातत्त्व से सम्बन्धित हैं और तीन लेख महाकोशल के पुरातत्त्व से। दो लेखों में प्रयाग संग्रहालय तथा विन्ध्यभूमि की जैन मूर्तियों का दिग्दर्शन है। शेष दो निबन्ध है 'जैन पुरातत्त्व' एवं 'श्रमण संस्कृति और सौन्दर्य'। इसमें के कुछ लेखों का प्रकाशन 'विशाल भारत' में भी हुआ था। खण्डहर केवल शिल्प, कला, शिलालेख, मुद्रा, लिपि और गहनों, बर्तनों, अस्त्रों के समुच्चय नहीं होते वरन् भूगर्भ में निहित ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथ्यों एवं कला और सभ्यता के क्रमिक विकास की मौलिक परम्पराओं के सँजोये हुए कोष हुआ करते हैं। जहाँ पर किसी भी राष्ट्र का सोता हुआ, भूला हुआ इतिहास और उसका वैभव छटपटाया करता है। भारतीय खण्डहर हमारे देश के उस प्राचीन सांस्कृतिक वैभव के प्रतीक हैं, जिनका मूल्य हीरे-जवाहरातों से न आँका जाकर जीवन के आदर्शों से परखा जाता है। हमारी संस्कृति के चिरन्तन सत्य और जीवन के सातत्य खण्डहरों में समाए हुए हैं। मुनिकान्तजी ने यद्यपि इस पुस्तक में मध्यप्रदेश और विन्ध्यप्रदेश के हो खण्डहरों का वैभव वर्णन किया है, फिर भी जितना है, उसमें उनकी गहरी साधना, सूक्ष्म विचारणा और पारदर्शी विद्वत्ता का पूर्ण योग सम्मिलित है। इसे पढ़कर जैन, बौद्ध और हिन्दू काल की शिल्प, वास्तु, स्थापत्य कलाओं एवं शिलालेखों, मुद्राओं का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

२. **खोज की पगडंडियाँ**—सागरजी की २७५ पृष्ठों की यह पुस्तक अक्तूबर, सन १९५३ ई० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित हुई थी। इसमें मुनिकान्तजी

ने मध्यप्रदेश, बिहार, विन्ध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और राजस्थान के कतिपय विशिष्ट स्थानों का ललित कला, लिपि और भौगोलिक यात्राओं का उल्लेख किया है। पुस्तक उपर्युक्त तीन भागों में विभक्त है। पुरातत्त्व और इतिहास सम्बन्धी तत्त्वों का बड़े रोचक ढंग से किया गया वर्णन पुस्तक की मुख्य विशेषता है। जैन और बौद्ध शिल्पों के वर्णन और निर्णय ही इस पुस्तक का प्रधान विषय है। क्योंकि हिन्दू-धर्म से प्रभावित चित्रकला पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। वैसे मुनिकान्तजी ने अपनी पैदल यात्रा के उन अनुभवों को जो उन्होंने पुरातत्त्व सम्बन्धी स्थलों को देखकर एकत्रित किए हैं, वर्णन किया है। ये यात्रा-वर्णन मुख्यतः ऐतिहासिक स्थानों, मन्दिरों, देवमूर्तियों, कला-शिल्पों के हो हैं। इस प्रकार यह पुस्तक न तो मौजी घुमक्कड़ का यात्रा-विवरण है और न पुरातत्त्व के एकान्तिक आराधक की नीरस माप-जोख। फिर भी इसमें दोनों के गुणों का सम्मिश्रण है। पुस्तक में स्वभावतः उनका अधिक ध्यान जैन ऐतिह्य और परम्परा की ओर गया है, क्योंकि जैन-तीर्थों की यात्रा का उन्हें अवसर भी अधिक मिला है और जैन-शास्त्रों के वे अच्छे ज्ञाता भी हैं। डाक्टर साहब ने इस ग्रन्थ में नालन्दा, विन्ध्याचल, मैहर और पटना की ही यात्राएँ दी हैं। ये यात्राएँ केवल भौगोलिक यात्रा न होकर ऐतिहासिक हो गई हैं। नालन्दा की यात्रा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"ठीक पौने नौ बजे हम लोगों ने नालन्दा की पुनीत भूमि पर पैर रखा। दूर से ही खण्डित लाल ईंटों के अवशेष दिखलाई पड़े। उन्हें देख मन पुलकित हो गया, हृदय गौरव-गरिमा से उछलने लगा। मानसिक वृत्तियाँ टूटे-फटे खण्डहरों से लिपट गईं। मानस-पटल से तद्विषयक कल्पनाओं का स्रोत फूट पड़ा। प्रेरणाप्रद वातावरण से विगत स्वर्णिम सृष्टि का स्वतः अनुभव होने लगा।"[1]

श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार

श्रीनिधिजी की यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'शिवालिक की घाटियों में' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५३ ई० में आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली से हुआ है। इसमे शिकारी यात्राओं की एक निराली छटा दिखाई गई है। इस रचना में शिवालिक का वह चित्र है जो काव्य के परदे पर खींचा है। एक प्रकार से यदि उसे शिकारी की कहानी न कहकर किसी अनादि विरही की वांगमयी वेदना-ध्वनि कहा जाए तो उपयुक्त होगा। ग्रन्थ मे गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है जो उसकी रोचकता को और भी बढ़ा देता है। विशेषतया शिकार किए बिना ही शिकार के समस्त उपयोगी आनन्दों को वन-पर्यटन द्वारा प्राप्त किया गया है। विश्राम-बेला का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है—

"कब अस्ताचलगामी प्रियतम के विरह में मेघदूत नायिका-सी दिनश्री मलिन-वसना हो उठी। मेरा यह ध्यान तब भंग हुआ जब वन के किसी अज्ञात स्थान

---

१. खोज की पगडंडियाँ—मुनिकान्त सागर, पृ० १७४

में बैठी कोई विहंगम दूतिका वन घोषणा के बहाने मुझे यों सम्बोधन कर उठी—बोल उठा सायंकालीन मयूर। जाग उठीं वन-भूमियों में भय की छायाएँ। आ गई नीड़ विश्राम की बेला।"[1]

श्री महावीरप्रसाद पोद्दार[2]

पोद्दारजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक है—'हिमालय की गोद में'। यह पुस्तक सस्ता साहित्यमंडल, नई दिल्ली से सन् १९५४ ई० में प्रकाशित हुई थी। १४७ पृष्ठों की इस पुस्तक में पोद्दारजी ने गंगोत्री-यमुनोत्री की यात्रा का सचित्र रोचक वर्णन दिया है। पोद्दारजी ने ये यात्राएँ पुस्तक प्रकाशन के नौ वर्ष पूर्व की थीं। गंगोत्री और यमुनोत्री की इस सुन्दर और बीहड़ यात्रा के सम्बन्ध में लेखक ने अपनी पुत्र-वधू कुमारी मृदुला (तब श्री विजयादेवी) को कई पत्र लिखे थे जिनमें से कुछ 'आरोग्य' मासिक में निकल चुके हैं, उन्हीं लेखों को संगृहीत कर पुस्तकाकार छपवाया गया है। इन पत्रों में यात्रा का क्रमबद्ध वर्णन है। पोद्दारजी ने इसमें हरद्वार, ऋषिकेश, यमुनोत्री आदि की यात्रा के सजीव वर्णन चित्रों के साथ दिये हैं। दृश्यचित्र उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा है—

"नीचे से यमुना का मंद-मंद कलकल निनाद हल्के शोकगीत की भाँति सुनाई दे रहा था। यों पौन घण्टे के करीब उन्हें मौत के जबड़े में चलना पड़ा। सचमुच वह एक विलक्षण स्थिति ही थी। एक ओर मृत्यु मुँह खोले खड़ी थी, दूसरी ओर प्रफुल्लित और उल्लसित करनेवाला सुगंधित पवन था।"[3]

डा० जगदीशशरण शर्मा

डा० शर्मा की यात्रा-साहित्य पर 'ज्ञान की खोज में' नामक एक पुस्तक है। इस पुस्तक का प्रकाशन भारती साहित्य-मन्दिर, दिल्ली से सन् १९५७ ई० में हुआ था। १५१ पृष्ठों की इस पुस्तक को शर्माजी ने डायरी-शैली में लिखा है। दिल्ली वि०वि० से अपनी शिक्षा समाप्त कर उच्च शिक्षा प्राप्त करने जब उन्हें विदेश जाना पड़ा तो उन्होने मार्ग में पड़नेवाले देशों का भ्रमण किया और उस भ्रमण से प्राप्त अपने विचारों को डायरी का रूप दिया है। पी-एच० डी० के लिए उन्हें पुन: विदेश की यात्रा का अवसर मिला। इस बार की यात्रा में उन्होंने देश-विदेश की सांस्कृतिक शिक्षा सम्बन्धी, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों का अध्ययन किया। इस पुस्तक में डाक्टर साहब ने अपनी यात्राओं के अनुभवों को, जो उन्होंने अपनी सुशीला गृहिणी को पत्र-रूप में भेजा था, संकलित कर दिया है। देश-विदेशों के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन की चर्चा करके उन पर अपने विचार भी प्रकट

---

१. शिवालिक की घाटियों में—श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार, पृ० १४
२. पोद्दारजी ने अपने जीवनी सम्बन्धी तथ्य देने की ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई
३. हिमालय की गोद में—महावीरप्रसाद पोद्दार, पृ० ७३

किए हैं, साथ-ही-साथ अपने विदेश प्रवासकाल में अध्ययन और रहन-सहन पर भी प्रकाश डाला है। एक उद्धरण देखिए—

"हरे-हरे वृक्ष मदमाती हवा के झोंकों के साथ मस्ती से झूम रहे हैं। इनके इस तरह के झूमने में एक कशिश है, एक खिचाव है। अपनी खिड़की से टकटकी लगाए इनकी लीला देख रहा हूँ। चांद भी अपने पूर्ण यौवन पर है चांदनी मेरे कमरे में खिड़की की जाली से छन-छन कर आ रही है।"[1]

डा० परमेश्वरदीन शुक्ल

डा० परमेश्वरदीन शुक्ल की हिन्दी यात्रा-साहित्य में केवल एक पुस्तक है। इस पुस्तक का नाम उन्होंने 'दुनिया की सैर—अस्सी दिन में' रखा है। उनकी यह पुस्तक सन् १९५७ ई० में सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई थी। शुक्लजी सरकारी कार्य से विदेशों की यात्रा पर गए थे। उन्हें लगभग सारा विश्व देखने का अवसर मिला। यह उनकी दूसरी विदेश-यात्रा थी। उनका ८० दिन का यह प्रवास ९६ पृष्ठों की पुस्तक में पत्रों के रूप में लिपिबद्ध है। इस प्रवास में वह अपने बच्चा को पत्र द्वारा वहाँ के बारे में सूचना देते रहे। वास्तव में यह उन्हीं पत्रों का संकलन है। शुक्लजी ने ८० दिन में ३२,५०० मील का भ्रमण किया। इस यात्रा में शुक्लजी ने विभिन्न देशों के असली जीवन की झाँकी देखी है। हवाई जहाज, कार, जहाज, सुरंग, रेल, पैदल सब साधनों से उन्होंने यात्रा की। ५ से १५ वर्ष के बच्चों को लिखे जाने के कारण ये पत्र बड़ी सरल और स्पष्ट भाषा में हैं। बाल-मस्तिष्क को जिस प्रकार की जानकारी की आवश्यकता हो सकती है और जिस शैली को वे भली-भाँति समझ सकते हैं, यथाशक्ति उसीका सहारा लिया गया है। यद्यपि उसमें चित्रमय वर्णन नहीं आ पाया है, लेकिन सुगम और सरल होने के कारण वर्णन रोचक है। इसमें विशेष रूप से इन्डोनेशिया, जापान, होनोलूलू, मिस्र, यूरोप, अमरीका आदि की यात्रा का विवरण दिया गया है.

श्री रामकृष्ण बजाज

आपकी हिन्दी यात्रा-साहित्य पर 'जापान की सैर' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसका प्रकाशन सन् १९५७ ई० में सस्ता साहित्य-मंडल, दिल्ली से हुआ है। ११७ पृष्ठों की इस पुस्तक में रामकृष्ण बजाजजी ने मनोरंजक रूप में अपनी जापानी यात्रा का वृत्तान्त लिखा है। श्री बजाज अन्तर्राष्ट्रीय कामर्स चेम्बर के टोकियो अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधि होकर जापान गए थे। व्यापारी एवं उद्योगपति होने के कारण उन्होंने जापान के आर्थिक जीवन को पैनी दृष्टि से देखा है। जापान के दर्शनीय स्थानों का वर्णन दिया गया है। चित्रों के कारण पुस्तक की उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। जापान के ज्वालामुखी विस्फोटों का वर्णन करते हुए बजाजजी ने लिखा है—

---

१. ज्ञान की खोज में—डा० जगदीशशरण शर्मा, पृ० १६

"यद्यपि इसमें से अनेक वर्ष हुए लावा नहीं निकलता है और यह ज्वालामुखी सुप्त हो गया है, फिर भी इसके पेट में से बड़ी मात्रा में धुआँ बराबर निकलता रहता है। इस पहाड़ के चारों तरफ की बनावट और प्राकृतिक दृश्य विशेष प्रकार के हैं, जो देखने लायक हैं।"[1]

श्री प्रभाकर द्विवेदी

प्रभाकरजी की यात्रा-साहित्य पर केवल एक पुस्तक 'पार उतरि कहँ जइहौ' नाम से प्रकाशित हुई है। इसका प्रकाशन सन् १९५८ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से हुआ था। २४७ पृष्ठों की इस पुस्तक में प्रभाकर की अवध के पूर्वी भाग में हुई एक यात्रा का वर्णन है। गोंडा—बस्ती जिले की मनोरमा नदी के तट पर यह यात्रा की गई थी। इस लघु यात्रा में प्रभाकर ने पार्श्ववर्ती लोकजीवन और लोकभूमि के चप्पे-चप्पे का भ्रमण किया है। जेठ की ठेठ दुपहरी में यात्रा करके भी इनका मन भोक्ता और मर्मी दोनों स्तरों पर काम करता रहा है, इसी कारण से स्थलीय संस्कृति इस भ्रमण-कहानी में अपनी निजता के साथ प्रस्फुटित हुई है। ग्राम-जीवन के ग्राम-गीतों से पूर्ण होने के कारण लेखक का मानवीय करुणा से आर्द्र, ऐकान्तिकता से निरीह-सा बना मन सारी या रचना में व्याप्त हो गया है। यद्यपि इस भ्रमण-कहानी में धारावाहिकता का सौन्दर्य इतना नहीं है जितना उसमें रमने का सौन्दर्य है। तट-कथा को कहते हुए उन्होंने लिखा है—

"यही नदी तट होगा, ऐसे ही खेत। चरवाहे और गोरू भी इसी प्रकार। सब समूह इसी प्रकार। फिर भी हर इकाई स्वयं में सम्पूर्ण होगी। हर इकाई की अपनी कथा होगी। सम्पूर्ण तट-कथा एक है किन्तु इस तट-कथा का एक विन्दु कथा कहने को लालायित होगा। कहाँ तक सुना जाय—कहाँ तक कहा जाय ? यह एक चिरंतन कथा है। यह मन की कथा है। मन की ही आकांक्षा वासना है। मन दीवारों में घिरकर बैठा रहे तो उसकी कथा वहीं तक है। पर इतना संकोची और गम्भीर है तो नहीं। यह तो सदैव उड़ता है। इसमें पंखों को कोई बाँध पाया है आज तक ? अगम-दुर्गम पथों का विजेता है यह मन। जानी-परिचित राहों को उपेक्षित करनेवाला है यह मन।

मन तू पार उतरि कहँ जइहौ।
आगे पंथी पंथ न कोई, कूच मुकाम न पइहौ"[2]

★

---

१. जापान की सैर—रामकृष्ण बजाज, पृ० ६७
२. पार उतरि कहँ जइहौ—प्रभाकर द्विवेदी, पृ० २४१-२४२

: ६ :

हिन्दी यात्रा-साहित्य के लेखक और उनकी अनुवादित कृतियों का प्रकाशन : क्रमानुसार संक्षिप्त परिचय

हिन्दी यात्रा-साहित्य में अनूदित ग्रन्थों की भी अपनी परम्परा रही है। सामान्यतया अनुवाद का अर्थ एक भाषा की कृति का दूसरी भाषा में लिपिबद्ध किया जाना है। अनूदित ग्रन्थों का महत्त्व अपनी प्रवृत्तियों और विशेषताओं के कारण यात्रा-साहित्य के अन्य रूपों, निबन्ध, कहानी, उपन्यास और काव्य आदि से कम नहीं माना जा सकता। इन अनुवादों में मूल कलाकृति के समान यद्यपि स्वाभाविकता एवं अन्य गुणों तथा रोचकता आदि का सन्निवेश नहीं हो पाया है तथापि अनुवादकों के प्रयत्न यात्रा-साहित्य में एक विशेष वर्ग का सूत्रपात कर सके हैं। प्रमुख अनुवादों की सूची कालक्रमानुसार प्रस्तुत की जा रही है।

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त द्वारा 'बर्नियर की भारत यात्रा' (१९०५), जगन्मोहन वर्मा द्वारा क्रमशः 'चीनी यात्री फाहियान', सुंगयुन और 'सुयेनच्वांग' का यात्रा-वर्णन (१९१९, १९२०, १९२३), गुलजारीलाल चतुर्वेदी द्वारा 'तिब्बत में तीन वर्ष' (१९२२), रूपनारायण पाण्डेय द्वारा 'भू प्रदक्षिणा' (१९२५,) मदनगोपाल द्वारा 'इब्नबतूता की भारत यात्रा' (१९३१), धन्यकुमार जैन 'रूस की चिट्ठी' (१९३१), रामचन्द्र वर्मा 'मानस सरोवर और कैलास' (१९३९)।

ऊपर तो अनूदित साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों और लेखकों का ही नाम दिया है, परन्तु इस सन्दर्भ में यह बात स्मरणीय है कि साहित्य के अन्य रूपों के समान यात्रा-साहित्य में भी विभिन्न भाषाओं से अनूदित ग्रन्थों का अभाव ही कहा जाएगा। जो अनुवाद उपलब्ध होते हैं वे बंगला और अंग्रेजी भाषा से ही किए गए हैं। प्रकार की दृष्टि से इनकी प्रवृत्ति अविकल अनुवादों के अधिक निकट है। अनुवादकों ने आंशिक आधार पर विस्तार अथवा संक्षिप्तीकरण का प्रयत्न नहीं किया है।

इनमें सामान्य प्रचलित भाषा द्वारा ही सजीव और विनोदपूर्ण विवरण दिए हैं। तथ्य की रक्षा और कलाकृति के समान वर्णनात्मकता के आग्रह के कारण भाषा और शैली के साहित्यिक तथा भावात्मक रूप का अतिरेक नहीं मिलता। इन अनूदित ग्रन्थों से हमें विभिन्न भाषाओं की यात्रा-साहित्य की परम्परा का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही ज्ञानवर्धन की सामग्री भी प्राप्त होती है। इनके माध्यम से प्रादेशिक संस्कृति अपने रूप में हमारे समक्ष आ जाती है। नाटक, उपन्यास, कहानी और

काव्य के समान इस बात की यात्रा-साहित्य के सम्बन्ध में भी आवश्यकता है कि विभिन्न भाषाओं के यात्रा-साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। जहाँ तक सामाजिक प्रभाव का प्रश्न है, इस प्रकार के साहित्य से प्रादेशिक संस्कृतियों के पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ हो सकते हैं। साहित्यकारों के कृतित्व में प्रेरणा का अभेद्य सूत्र भी उनकी वैयक्तिक रुचि से कम महत्त्व नहीं रखता है। इससे साहित्य में विषयों की विविधता की सम्भावनाएं प्राप्त होती हैं।

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त

डाक्टर फ्रैंक्विस बर्नियर ने भारत यात्रा पर एक पुस्तक 'बर्नियर ट्रेवल्स' लिखी थी, इसका अनुवाद हिन्दी में बाबू गंगाप्रसाद गुप्त ने किया है। 'डा० बर्नियर की भारत यात्रा' नामक यह अनुवादित पुस्तक प्रथम बार सन् १९०५ ई० में कल्पतरु प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में सन् १६५६ ई० से लेकर सन् १६६८ ई० तक मुगलराज्य में की हुई एक फ्रेन्च विद्वान् की भारत-यात्रा का वृत्तान्त दिया गया है। उस समय भारत में मुख्य रूप से मुगल वंश—दाराशिकोह, सुल्तान शुजा, औरंगजेब, मुरादबख्श, जहानआरा बेगम, मीर जुमला आदि का राज्य था। गोलकुण्डा और सूरत में लूट का बाजार गर्म था। यात्राओं के साथ-ही-साथ उस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी अवलोकन डा० बर्नियर ने किया है। साथ ही बादशाह औरंगजेब, उसके भाई, बहिनों तथा बेगमों का भी बहुत उत्तम और मनोरंजक वृत्तान्त इसमें दिया गया है। यह यात्रा-ग्रन्थ चार भागों में विभाजित है। भाषा उर्दू-मिश्रित है। ऐतिहासिक यात्रा-ग्रन्थ होने के कारण महत्त्व का है। एक छोटा-सा उद्धरण देखिए—

"ये अमीर राज्य के स्तम्भ हैं। इनकी राजधानी अथवा दूसरे नगरों व सेना में बड़े-बड़े उच्चपद और अत्यन्त माननीय खिताब दिए जाते हैं। इनसे राज-दरबार की शान बनी रहती है।"[1]

श्री जगन्मोहन वर्मा

श्री जगन्मोहन वर्माजी ने हिन्दी यात्रा-साहित्य को समृद्धि प्रदान करने में अपना पूर्ण सहयोग दिया है। आपने भारत-भ्रमण किए हुए पश्चिमी यात्रियों के वर्णनों को हिन्दी में अनुवादित करके प्रस्तुत किया है। आपके हिन्दी अनुवादित यात्रा-साहित्य सम्बन्धी तीन ग्रन्थ हैं—

१—चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण

२—चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण

३—सुयेनच्वांग

---

१. बर्नियर की भारत यात्रा—डॉ० बर्नियर ; अनु० गंगाप्रसाद गुप्त, पृ० १

: ६ :

हिन्दी यात्रा-साहित्य के लेखक और उनकी अनुवादित कृतियों का प्रकाशन : क्रमानुसार संक्षिप्त परिचय

हिन्दी यात्रा-साहित्य में अनूदित ग्रन्थों की भी अपनी परम्परा रही है। सामान्यतया अनुवाद का अर्थ एक भाषा की कृति का दूसरी भाषा में लिपिबद्ध किया जाना है। अनूदित ग्रन्थों का महत्त्व अपनी प्रवृत्तियों और विशेषताओं के कारण यात्रा-साहित्य के अन्य रूपों, निबन्ध, कहानी, उपन्यास और काव्य आदि से कम नहीं माना जा सकता। इन अनुवादों में मूल कलाकृति के समान यद्यपि स्वाभाविकता एवं अन्य गुणों तथा रोचकता आदि का सन्निवेश नहीं हो पाया है तथापि अनुवादकों के प्रयत्न यात्रा-साहित्य में एक विशेष वर्ग का सूत्रपात कर सके हैं। प्रमुख अनुवादों की सूची कालक्रमानुसार प्रस्तुत की जा रही है।

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त द्वारा 'बर्नियर की भारत यात्रा' (१९०५), जगन्मोहन वर्मा द्वारा क्रमशः 'चीनी यात्री फाहियान', सुंगयुन और 'सुयेनच्वांग' का यात्रा-वर्णन (१९१९, १९२०, १९२३), गुलजारीलाल चतुर्वेदी द्वारा 'तिब्बत में तीन वर्ष' (१९२२), रूपनारायण पाण्डेय द्वारा 'भू प्रदक्षिणा' (१९२५,) मदनगोपाल द्वारा 'इब्नबतूता की भारत यात्रा' (१९३१), धन्यकुमार जैन 'रूस की चिट्ठी' (१९३१), रामचन्द्र वर्मा 'मानस सरोवर और कैलास' (१९३९)।

ऊपर तो अनूदित साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों और लेखकों का ही नाम दिया है, परन्तु इस सन्दर्भ में यह बात स्मरणीय है कि साहित्य के अन्य रूपों के समान यात्रा-साहित्य में भी विभिन्न भाषाओं से अनूदित ग्रन्थों का अभाव ही कहा जाएगा। जो अनुवाद उपलब्ध होते हैं वे बंगला और अंग्रेजी भाषा से ही किए गए हैं। प्रकार की दृष्टि से इनकी प्रवृत्ति अविकल अनुवादों के अधिक निकट है। अनुवादकों ने आंशिक आधार पर विस्तार अथवा संक्षिप्तीकरण का प्रयत्न नहीं किया है।

इनमें सामान्य प्रचलित भाषा द्वारा ही सजीव और विनोदपूर्ण विवरण दिए हैं। तथ्य की रक्षा और कलाकृति के समान वर्णनात्मकता के आग्रह के कारण भाषा और शैली के साहित्यिक तथा भावात्मक रूप का अतिरेक नहीं मिलता। इन अनूदित ग्रन्थों से हमें विभिन्न भाषाओं की यात्रा-साहित्य की परम्परा का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही ज्ञानवर्धन की सामग्री भी प्राप्त होती है। इनके माध्यम से प्रादेशिक संस्कृति अपने रूप में हमारे समक्ष आ जाती है। नाटक, उपन्यास, कहानी और

काव्य के समान इस बात की यात्रा-साहित्य के सम्बन्ध में भी आवश्यकता है कि विभिन्न भाषाओं के यात्रा-साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। जहाँ तक सामाजिक प्रभाव का प्रश्न है, इस प्रकार के साहित्य से प्रादेशिक संस्कृतियों के पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ हो सकते हैं। साहित्यकारों के कृतित्व में प्रेरणा का अभेद्य सूत्र भी उनकी वैयक्तिक रुचि से कम महत्त्व नहीं रखता है। इससे साहित्य में विषयों की विविधता की सम्भावनाएं प्राप्त होती हैं।

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त

डाक्टर फ्रैंक्विस बर्नियर ने भारत यात्रा पर एक पुस्तक 'बर्नियर ट्रेवल्स' लिखी थी, इसका अनुवाद हिन्दी में बाबू गंगाप्रसाद गुप्त ने किया है। 'डा० बर्नियर की भारत यात्रा' नामक यह अनुवादित पुस्तक प्रथम बार सन् १९०५ ई० में कल्पतरु प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में सन् १६५६ ई० से लेकर सन् १६६८ ई० तक मुगलराज्य में की हुई एक फ्रेन्च विद्वान् की भारत-यात्रा का वृत्तान्त दिया गया है। उस समय भारत में मुख्य रूप से मुगल वंश—दाराशिकोह, सुलतान शुजा, औरंगजेब, मुरादबख्श, जहानआरा बेगम, मीर जुमला आदि का राज्य था। गोलकुण्डा और सूरत में लूट का बाजार गर्म था। यात्राओं के साथ-ही-साथ उस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी अवलोकन डा० बर्नियर ने किया है। साथ ही बादशाह औरंगजेब, उसके भाई, बहिनों तथा बेगमों का भी बहुत उत्तम और मनोरंजक वृत्तान्त इसमें दिया गया है। यह यात्रा-ग्रन्थ चार भागों में विभाजित है। भाषा उर्दू-मिश्रित है। ऐतिहासिक यात्रा-ग्रन्थ होने के कारण महत्त्व का है। एक छोटा-सा उद्धरण देखिए—

"ये अमीर राज्य के स्तम्भ हैं। इनकी राजधानी अथवा दूसरे नगरों व सेना में बड़े-बड़े उच्चपद और अत्यन्त माननीय खिताब दिए जाते हैं। इनसे राज-दरबार की शान बनी रहती है।"[1]

श्री जगन्मोहन वर्मा

श्री जगन्मोहन वर्माजी ने हिन्दी यात्रा-साहित्य को समृद्धि प्रदान करने में अपना पूर्ण सहयोग दिया है। आपने भारत-भ्रमण किए हुए पश्चिमी यात्रियों के वर्णनों को हिन्दी में अनुवादित करके प्रस्तुत किया है। आपके हिन्दी अनुवादित यात्रा-साहित्य सम्बन्धी तीन ग्रन्थ हैं—

१—चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण

२—चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण

३—सुयेनच्वांग

---

१. बर्नियर की भारत यात्रा—डॉ० बर्नियर ; अनु० गंगाप्रसाद गुप्त, पृ० १

१. **चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण**—जगन्मोहन वर्माजी द्वारा अनुवादित यह ग्रन्थ देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला का प्रथम पुष्प है। इस पुस्तक का प्रकाशन प्रथम बार संवत् १९७३ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से हुआ था। १२३ पृष्ठों की इस पुस्तक में फाहियान की सम्पूर्ण भारत-यात्रा वर्णित की गई है। ऐसे यात्रियों में जिन्होंने भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न नगरों और देशों में भ्रमण किया और जो अपना यात्रा-विवरण लिखकर छोड़ गए हैं, फाहियान सबसे पहला चीनी यात्री है। उसने इस ग्रन्थ में शेन-शेन और ऊए से लेकर खुतन, सीहून, गांधार, तक्षशिला, पुरुषपुर, नगरहार, ह्वेकिंग, पंजाब, मथुरा, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली, पाटलिपुत्र, गृधकूट पर्वत, गया, वाराणसी, सिंहल आदि स्थानों की यात्रा का वर्णन किया है। पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में फाहियान ने लिखा है—

"मध्यप्रदेश में इस जनपद का यह सबसे बड़ा नगर है। अधिवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली है। दान और सत्य में स्पर्धालु हैं।"[1]

२. **चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण**—वर्माजी द्वारा अनुवादित यह ग्रन्थ देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला का द्वितीय पुष्प है। प्रथम बार संवत् १९७७ में इसका सम्पादन काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हुआ था। सुंगयुन का यात्रा-विवरण बहुत छोटा ग्रन्थ है। इसमें सुंगयुन की तुर्किस्तान, हानमो, खुतन, यारकन्द, गांधार, तक्षशिला, गोपाल गुहा आदि की यात्रा वर्णित है। साथ ही सीमास्थ देशों के उद्यानादि का भी अच्छा वर्णन इसमें विद्यमान है। यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी ऐतिहासिक तत्त्व से पूर्ण है।

"वेनई के पास लोयांग नगर के उत्तर-पूर्व तुनह्वांगवासी सुंगयुन का घर था। इसीको भिक्षु हुईसांग के साथ महावीई वंश की विधवा महारानी ने अपना दूत बनाकर पश्चिम के जनपदों में बौद्ध-धर्म की पुस्तकों की खोज के लिए भेजा।"[2]

३. **सुयेनच्वांग**—जगन्मोहन वर्माजी ने इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद प्रथम बार सं० १९८० वि० में किया था। तभी इसका प्रकाशन हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से हुआ था। २५४ पृष्ठों की इस पुस्तक में सुयेनच्वांग ने भारत के भिन्न-भिन्न जनपदों और नगरों, जैसे प्रयाग, मगध, नालन्दा, राजगृह, खुतन आदि के, वहाँ की प्रकृति और प्रजा के तथा भारतवर्ष के आचार-व्यवहार के अच्छे वर्णन किए हैं। सुयेनच्वांग का यात्रा-वर्णन सबसे बड़ा और विशद है। उसने अपने यात्रा-विवरण का नाम 'सी-यू-की' रखा है जिसका अर्थ होता है, 'पश्चिम देशों की पुस्तक'। वह बारह खण्डों में विभक्त है और सैकड़ों जनपदों और नगरों के विस्तृत वर्णनों से भरी हुई है।

---

१. चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण—जगन्मोहन वर्मा, पृ० ७

२. चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण—जगन्मोहन वर्मा, पृ० १

पं० गुलजारीलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदीजी ने हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवाएँ की हैं। आपने तिब्बत-भ्रमण किए हुए जापानी यात्री के वर्णन को हिन्दी में अनुवादित करके प्रस्तुत किया है। 'तिब्बत में तीन वर्ष' नामक यह ग्रन्थ अंग्रेजी के 'थ्री इयर्स इन टिबेट' का अनुवाद है। इस ग्रन्थ के मूल लेखक जापानी यात्री ईकाई कावागुची हैं। चतुर्वेदीजी द्वारा अनुवादित इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रथम बार सन् १९२२ ई० में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से हुआ था। हिन्दी पुस्तक एजेन्सी का यह २५वाँ पुष्प है। ५१८ पृष्ठों के इस ग्रन्थ में ईकाई कावागुची की तिब्बत यात्रा का सम्पूर्ण वर्णन दिया हुआ है। इस जापानी यात्री ने तिब्बत मे तीन वर्ष रहकर लगभग सभी प्रदेशों में पर्यटन किया। अपने इस पर्यटन मे बिदाई से लेकर नेपाल-यात्रा, तिब्बत की सबसे बड़ी नदी, हिमालय की कथा, शाक्य मन्दिर, लासा का पथ, सेरा कालेज, एवं पाँच महाद्वार का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही तिब्बत की बर्बरता, तिब्बत के धन के लेन-देन की व्यवस्था, वहाँ के छात्र-छात्राएँ, विवाह और विवाहित जीवन, विवाह की विभिन्न रीतियाँ, वहाँ का राजदण्ड, घोर अन्त्येष्टि और घोरतम चिकित्सा, गन्द से भरी राजधानी, लामा शासन, तिब्बत का व्यापार और कारीगरी, तिब्बत की स्त्रियाँ, राज्य-व्यवस्था का विस्तृत विवरण दिया गया है। अपने भ्रमण में कावागुची ने इनका सूक्ष्म निरीक्षण किया है। इन वर्णनों के अतिरिक्त प्रकृति के सुन्दर दृश्य-विधान में मनोरम हिमालय, बर्फिस्तान, पुण्यक्षेत्र मानसरोवर का भी अवलोकन कर उसके विवरण को लिपिबद्ध किया गया है। अनुवाद बड़ी सरल भाषा में किया गया है जो सुन्दर बन पड़ा है, जिसमे तथ्य सम्बन्धी बातें अधिक हैं। एक उद्धरण देखिए—

"पहाड़ी (डोलमा-ला) पर चढ़ने से कैलास पर्वत के उत्तरी अंशों की एक बरफीली माला दिखाई पड़ती है जिसे तिब्बती लोग गैंल्पो नोरजिंगी फोपरोंग कहते हैं और जिसका अर्थ है—धन के स्वामी कुबेर का निवास-स्थान।"[1]

पं० रूपनारायण पांडेय

पाण्डेयजी हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। इन्होंने हिन्दी को अनुवादित साहित्य भी प्रदान किया है। 'भू-प्रदक्षिणा' इसी प्रकार का एक यात्रा-ग्रन्थ है। पाण्डेयजी ने इस यात्रा-ग्रन्थ का अनुवाद सन् १९२५ ई० में किया था। इण्डियन प्रेस, प्रयाग से इसका प्रकाशन हुआ था। यह एक बँगला पुस्तक का अनुवाद है जिसके मूल लेखक बाबू चन्द्रशेखर सेन हैं। पाण्डेयजी ने इस पुस्तक का अनुवाद बड़ी सुन्दर और सरल भाषा में किया है। इसमें सम्पूर्ण भू-मण्डल की यात्रा का वर्णन लिपिबद्ध किया गया है, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है। चीन और जापान का पर्यटन

---

१. तिब्बत में तीन वर्ष—अनु० गुलजारीलाल चतुर्वेदी, पृ० २७४

बहुत कम है। अमेरिका की यात्रा का वर्णन भी लम्बा नहीं है। परन्तु यूरोप के छोटे-बड़े प्रायः सभी देशों का सचित्र वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। विशेष रूप से लन्दन का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है। लेखक ने अपनी यात्रा में दर्शनीय स्थानों, प्रसिद्ध पुरुषों और उल्लेखनीय संस्थाओं आदि का वर्णन बड़ी ही चटकीली भाषा में किया है। जहाँ-जहाँ पर उन्होंने विदेशियों के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विषयों पर लेखनी चलाई है, वहाँ उनके वर्णनों में पर्याप्त सजीवता आ गई है। उनसे हमारी ज्ञानवृद्धि भी होती है, अपनी त्रुटियाँ भी अपने नेत्रों के समक्ष आ जाती हैं। भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों में जो बातें अच्छी हैं उनको ग्रहण करने की शिक्षा भी मिलती है। ग्रन्थ के वर्णन बड़े ही स्वाभाविक तथा प्रत्यक्षवत् हुए हैं। सामाजिक तथा प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बहुत ही चित्ताकर्षक तथा वास्तविक बन पड़ा है। पृथ्वी के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक की चित्र-विचित्र वस्तुओं के मनोहारी वर्णन तथा महत्त्वपूर्ण स्थानों और वस्तुओं के सुन्दर नयनाभिराम चित्रों के कारण ऐसा जान पड़ता है जैसे पाठक मूल वस्तु को ही अपनी आँखों से देख रहा है। पुस्तक के पृष्ठ उलटते ही धन-धान्य, व्यापार, व्यवसाय के केन्द्र, विशाल नगरों के दृश्य नेत्रों के समक्ष नृत्य करने लगते हैं। किस देश के लोगों का स्वभाव कैसा होता है, समाज में कैसे-कैसे फैशन प्रचलित हैं, ये सब बातें भू-प्रदक्षिणा से ज्ञात हो जाती है। यह प्रदक्षिणा सन् १८८६ ई० में हुई थी।

श्री मदनगोपाल

'इब्नबतूता की भारत-यात्रा'—इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद मदन गोपालजी द्वारा प्रथम बार संवत् १९८८ मे हुआ था। यह अनुवादित यात्रा-ग्रन्थ काशी विद्यापीठ, बनारस से श्री मुकन्दीलाल श्रीवास्तव के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में इब्नबतूता की यात्रा का सम्पूर्ण विवरण दिया हुआ है। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के तत्कालीन लेखकों और इतिहासकारों में शेख अब्दुल्ला मुहम्मद अथवा इब्नबतूता का नाम आदर सहित स्मरण किया जाता है। अपनी भारतीय यात्राओं द्वारा चौदहवीं शताब्दी की भारतीय सामाजिक अवस्था तथा मुस्लिम संस्कृति पर इब्नबतूता ने काफी प्रकाश डाला है। इस यात्री ने लगभग तीस वर्ष तक विभिन्न मुस्लिम प्रदेशों में पर्यटन किया और मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में भारत में भी लगभग ९ वर्ष तक रहा, अंत में मोरक्को के सुल्तान की आज्ञा एवं कृपा से उसके अनुभव अरबी में लिपिबद्ध किए गए। मदन-गोपालजी ने इस पुस्तक का अनुवाद विशेषतया उर्दू और अंग्रेजी के अनूदित ग्रन्थों के आधार पर किया है। उन्होंने अपने इस अनुवाद में इब्नबतूता के विवरण को सरल और सुबोध कर प्रस्तुत किया है। अनुवादक ने पुस्तक को उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। इब्नबतूता का मार्ग निर्दिष्ट करने के लिए प्रारम्भ में भारत का मानचित्र भी दिया गया है और अन्त में संदर्भ के लिए अनुक्रमणिका भी जोड़ दी गई है। पुस्तक की भूमिका भी बड़े महत्त्व की है, क्योंकि उससे इब्नबतूता

के जीवन पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। पर लेखक महोदय के मुहम्मद तुगलक सम्बन्धी विचारों से सहमत होना अत्यन्त कठिन है। मुहम्मद के विषय में आधुनिक इतिहासकारों की धारणा बदलती जा रही है। स्मिथ अथवा एलफिन्सटन महोदय के विचार तो एकदम अग्राह्य सिद्ध किए जा चुके हैं। उसकी यात्रा का यह वर्णन कितने ही वर्ष पश्चात् केवल स्मृति के भरोसे लिखा गया जान पड़ता है। बहुत-सी बातें उसने ऐसी लिखी हैं जो केवल जनश्रुति पर ही अवलम्बित हैं और बहुत-सी बातें तो एकदम कपोल-कल्पित और निराधार हैं, उदाहरणार्थ इब्नबतूता कुतुबमीनार के विषय में लिखता है—

"भीतर से सीढियाँ भी इतनी चौड़ी हैं कि हाथी तक ऊपर चढ जाता है, एक सत्यवादी पुरुष मुझ से कहता था कि मीनार बनते समय मैंने हाथियों को ऊपर पत्थर ले जाते हुए देखा था।"[१]

इसी प्रकार की अनेकों बातें कही गई हैं। अनुवाद के साथ-साथ जो फुटनोट दिए गए हैं वे सचमुच अत्यन्य लाभदायक हैं। इनसे लेखक एवं सम्पादक महोदय के विस्तृत अध्ययन और परिशीलन का भाव प्रकट होता है।

श्री धन्यकुमार जैन

धन्यकुमार जैन हिन्दी के बड़े प्रेमी है। उन्होंने बँगला के बहुत-से साहित्य को हिन्दी में अनुवादित कर जनता एवं साहित्य-प्रेमियों का उपकार किया है। 'रूस की चिट्ठी' बँगला में लिखी गई एक भ्रमण-कहानी है, जिसे आपने हिन्दी में अनुवादित किया है। इसके मूल लेखक श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर हैं। इस पुस्तक का प्रकाशन प्रथम-बार सन् १९३१ ई० में विशाल भारत पुस्तकालय, कलकत्ता से हुआ था। १८० पृष्ठों की इस पुस्तक में रवीन्द्रनाथजी की चिट्ठियाँ संगृहीत हैं। ये चिट्ठियाँ रवीन्द्रनाथ ने मास्को, बर्लिन, अटलांटिक सागर से लिखकर अपने देश को भेजी थीं। अपनी सागरीय यात्रा के अनुभव, रूस की शिक्षा-व्यवस्था, रहन-सहन, कृषकों का वैज्ञानिक ढंग, भ्रमण आदि का विस्तृत विवरण आपने इस ग्रन्थ में दे दिया है। विशेष रूप से विदेशों की शिक्षा-व्यवस्था का ही वर्णन इस भ्रमण-कहानी में दिया गया है। रूस-यात्रा का उनका उद्देश्य यही ज्ञात होता है—"वहाँ जन-साधारण में शिक्षा-प्रचार का कार्य किस प्रकार चलाया जा रहा है और उसका फल क्या हो रहा है, थोड़े समय में यह देख लेना।"

पुस्तक के अन्तिम अंश परिशिष्ट भाग में रवीन्द्रनाथजी के श्रीनिकेतन के वार्षिकोत्सव पर ग्रामवासियों के प्रति दिए हुए भाषण भी संगृहीत कर दिए गए हैं।

---

१. इब्नबतूता की भारत-यात्रा—अनु० मदनगोपाल, पृ० ५०

सरल भाषा-शैली में अनुवादित पुस्तक सुन्दर और महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है। मास्को का वर्णन करते हुए लिखा गया है—

"मास्को की सड़कों पर सब तरह के आदमी चल-फिर रहे हैं। किसी में शान-शौकत नहीं, कोई फीट-फाट नहीं, देखने में मालूम होता है कि मानो अवकाश-भोगी समाज यहाँ से सदा के लिए विदा हो गया है। सभी अपने हाथ-पैरों से काम-धन्धा करके जिन्दगी बिताते हैं, बाबूगिरी की पालिश कहीं है ही नहीं।"[1]

श्री रामचन्द्र वर्मा

वर्माजी हिन्दी के प्रेमी और प्रसिद्ध लेखक हैं। उन्होंने बँगला से अनुवादित साहित्य भी हिन्दी में दिया है। 'मानससरोवर और कैलास' इसी प्रकार का ग्रन्थ है। इसके मूल लेऊक श्री सुशीलचन्द्र भट्टाचार्यजी हैं। ये बंगला के प्रसिद्ध लेखकों की श्रेणी में हैं। मानससरोवर और कैलास-यात्रा-ग्रन्थ का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से सं० १९९६ में हुआ था। इसका प्रथम संस्करण हमें देखने को नहीं मिल सका। यह मनोरंजन पुस्तकमाला का ५२वाँ पुष्प है। २९० पृष्ठों के इस ग्रन्थ में दिया हुआ यात्रा-विवरण बंग भाषा की प्रतिष्ठित पत्रिका 'वसुमती' में खण्डशः छपा था। वर्माजी ने उसी यात्रा-विवरण के भावपक्ष और व्यवहारपक्ष—दोनों का उचित ध्यान रखकर इस पुस्तक का प्रणयन किया है। अलमोड़ा से धारचूला तपोवन, गर्वियांग, तकलाकोट, मानससरोवर और कैलास की यात्रा गई है। अपनी पद-यात्रा का विस्तृत वर्णन इसमें दे दिया गया है। जिस प्रकार इसमें उन सब दृश्यों का सजीव और स्पष्ट चित्रण हुआ है जो सुषमा, भव्यता, विशालता, विचित्रता, पवित्रता इत्यादि की रहस्यमयी भावनाएँ जगाकर हमारे हृदय को अनुभूति की अत्यन्त रमणीक भूमि में पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार उस विकट और दीर्घ यात्रा को निर्विघ्न और सुव्यवस्थापूर्वक समाप्त करने के लिए जितनी बातों का जानना आवश्यक है उतनी सब और कहीं-कहीं उससे बहुत अधिक भी—इसमें दी हुई मिलती हैं। इससे केवल प्राकृतिक दृश्य-वैचित्र्य के अन्वेषक ही नहीं वरन् धर्मपरायण तीर्थयात्री भी लाभ उठा सकते हैं। यात्रा-वर्णन के साथ-साथ इसमें कैलास-मानससरोवर आदि की ठीक-ठीक स्थिति का निर्देश करनेवाले प्रमाण भी रामायण, महाभारत एवं पुराणादि से दिए गए हैं तथा प्रत्येक दर्शनीय स्थान का पूरा विवरण सन्निविष्ट है। इसके अतिरिक्त पुस्तक में उन प्रदेशों के निवासियों के शील और आचार-व्यवहार का भी परिचय दिया गया है। यात्री को क्या-क्या वस्तुएँ अपने पास रखनी चाहिए, मार्ग में कितने टिकान पड़ते हैं और कहाँ किस प्रकार की सवारी आदि का सुभीता हो सकता है, ये सभी बातें भी, खर्च के ब्यौरे के साथ, दे दी गई हैं। ललित सरल भाषा में प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन के साथ-साथ प्रत्येक तीर्थ के ऐतिहासिक और पौराणिक

---

१. रूस की चिट्ठी—रवीन्द्रनाथ ठाकुर—अनु० धन्यकुमार जैन, पृ० ८-९

तत्त्वों के अनुशीलन में ग्रन्थकार ने अपूर्व कृतित्व का परिचय दिया है। इस पुस्तक के परिचय में पण्डित रामचन्द्र शुक्लजी ने भी लिखा है—"पाठक देखेंगे कि भावपक्ष और व्यवहारपक्ष दोनों का उचित ध्यान रखकर इस पुस्तक का प्रणयन हुआ है। जिस प्रकार इसमें उन सब दृश्यों का सजीव और स्पष्ट चित्रण हुआ है जो सुषमा, भव्यता, विशालता, विचित्रता, पवित्रता इत्यादि की रहस्यमयी भावनाएँ जगाकर हमारे हृदय को अनुभूति की अत्यन्त रमणीय भूमि में पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार उस विकट और दीर्घ यात्रा को निर्विघ्न और सुव्यवस्थापूर्वक समाप्त करने के लिए जितनी बातों का जानना आवश्यक है, उतनी सब—और कहीं-कहीं उससे बहुत अधिक भी—इसमें दी हुई मिलेंगी।"[1] यहाँ पर इस पुस्तक से हम क्रमशः भाषा और तथ्य सम्बन्धी दो उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमें उपर्युक्त विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं—

"चन्द्रमा के प्रकाश मे उस जल में दो-चार चंचल सारस पक्षी इधर-उधर उडते हुए छोटी-छोटी मछलियों का शिकार कर रहे थे। इधर गुरेला मांधाता का तुषार-शोभित विस्तृत शरीर ज्योत्स्ना के प्रकाश में सफेद रंग की फेन-राशि के समान ह्लद की गोद मे पड़ा हुआ था। मानो मान्धाता की अनंत काल-व्यापिनी तपस्या का अभी तक अन्त नहीं हुआ था।"[2]

कैलास का वर्णन करते हुए लिखा है—

"उस समय यह स्थान ताल-तमाल की वनराजि से घिरा हुआ था। यहाँ वृक्षों, लताओं, फलों और फूलों से सुशोभित सुरभित सुरम्य उपवन था। आर्ष्टिषेण मुनि सरीखे असंख्य योगियों और ऋषियों के साधनाश्रम यहाँ दिखाई पड़ते थे। उस समय देवों और गंधर्वों के सैकड़ों भक्त नित्य ही 'हर-हर महादेव' किया करते थे और देवाधिदेव महादेव के स्तुतिगान से यहाँ का आकाश गूँजा करता था।"[3]

★

१. मानससरोवर और कैलास (परिचय से), पृ० ४-५
२. मानससरोवर और कैलास—सुशीलचन्द्र ब्रह्मचारी—अनु० रामचन्द्र वर्मा, पृ० १७१
३. मानससरोवर और कैलास—अनु० रामचन्द्र वर्मा, पृ० ११७

: ७ :

यात्रा-साहित्य (साहित्यिक मूल्यांकन)

प्रस्तुत अध्याय में हम यात्रा-साहित्य का साहित्यिक मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे। समालोचना सम्बन्धी इस खण्ड में यद्यपि हमें थोड़ा-बहुत शास्त्रीय समीक्षा पद्धति का सहारा लेना पड़ेगा, तथापि हम समालोचना का उद्देश्य केवल रचना के सौन्दर्य-तत्त्व तक पहुँचना ही समझते हैं। इसी दृष्टि का उद्घाटन समालोचना का उद्देश्य है। अभिनवगुप्त ने समालोचना की परिभाषा में यही बात स्पष्ट की है—"अपने लोचन (ज्ञान या मन) द्वारा न्यूनाधिक व्याख्या करता हुआ मैं काव्यालोक (ध्वन्यालोक) को जनसाधारण के लिए सविस्तार स्पष्ट करता हूँ।[1] चन्द्रिका (ध्वन्यालोक-लोचन पर लिखी गई उसकी व्याख्या) के रहते हुए भी लोचन के बिना लोक या ध्वन्यालोक का ज्ञान असम्भव है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत रचना में (पाठकों की) आँखें खोलने का सफल प्रयास किया है।"[2]

पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्त भी कृति के सौन्दर्य तत्व तथा उसकी अन्त-र्वृत्तियों का उद्घाटन करना चाहते हैं, अतः इस प्रस्तुत आलोचना का उद्देश्य केवल यही है कि हम यात्रा-साहित्य के काव्य-सौन्दर्य, उसमें निहित लेखक अथवा कवि के व्यक्तित्व, उसकी विभिन्न शैलियों का विवेचन, भाषा-सौन्दर्य आदि तत्त्वों को सम्मुख लावें, क्योंकि ये रचनाएँ किसी शास्त्रीय-पद्धति पर प्रस्तुत नहीं की गई हैं, इनका उद्देश्य तो सीधे-सादे मनोभावों, उद्गारों को अभिव्यंजित करना मात्र है, और हम उसी अभिव्यंजना तत्त्व की छानबीन कर लेना चाहते हैं। इस प्रयास में हम डाक्टर रामकुमार वर्माजी के इस कथन की व्यावहारिकता को स्वीकार करते हैं—"आवश्य-कता इस बात की है कि साहित्य की समीक्षा करने के लिए जो नियम या सिद्धान्त बनाए जाएँ, वे इतने व्यापक और लचीले हों कि साहित्य की विकासोन्मुख प्रकृति के अनुरूप वे स्थानान्तरित होती हुई दृष्टि को अपने में समाहित कर सकें। समालोचना के सिद्धान्त वसन्तकालीन उस प्राकृतिक वैभव के अनुरूप हों, जिसमें प्रत्येक प्रकार के पुष्प का विकास हो सके; अथवा सूर्य का ऐसा आलोक हो, जिसमें प्रत्येक प्रकार

---

१. यत्किंचिद प्यनुरणान्स्फुटयामि काव्यलोकं स्वलोचन नियोजनया जनस्य—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० २

२. वही, पृ० १६४

किं लोचनं बिनालोको भाति चन्द्रिक्यापिहि ।
नेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥

के रंगों की अन्तर्व्याप्ति सम्भव हो।"[1] उक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए हमने केवल उन तत्वों पर दृष्टिपात किया है जिनमें लेखक की वृत्ति रमती हुई दिखलाई पड़ती है। प्रधानतया प्रकृति सौन्दर्य, दार्शनिक भावना तथा मनोरंजन वृत्ति ही ऐसे तत्त्व हैं जिनमें यात्री तन्मय होता हुआ दिखलाई देता है, अतः रसात्मक दृष्टि से इन्हीं अंगों का विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

बाह्य रूप से शैली और भाषा का विश्लेषण कुछ शास्त्रीय पद्धति पर किया गया है; इसके लिए हमको यही माध्यम उपयुक्त प्रतीत हुआ, यद्यपि इसका उद्देश्य भी रसात्मक अनुभूति कराना ही स्पष्ट होता है। आगे के अध्याय में प्रस्तुत सामग्री में हमने कहीं-कहीं पर अनूदित साहित्य के उद्धरण भी ले लिए है; अनुभूति की व्यापकता तथा सार्वभौमिकता दिखलाने के लिए ही हमने ऐसा किया है। वास्तव में यात्री के सर्वांगीण व्यक्तित्व को सम्मुख लाना ही यहाँ पर हमारा उद्देश्य है।

स्वदेश-विदेश यात्रा

आलोच्य विषय को अपनी सुविधा के लिए हम दो स्थूल वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। यात्रा-साहित्य के लेखकों में मुख्यतः दो प्रकार के यात्री है, एक तो वे जो स्वदेश में ही विभिन्न यातायात के साधनो द्वारा यात्रा करते रहे हैं और द्वितीय वे जो दूर-दूर जाकर विदेश-यात्राओं का भी आनन्द उठाते रहे हैं। निश्चय ही द्वितीय प्रकार के लेखक जहाँ एक ओर स्वयं विशेष आनन्द उल्लास का उपभोग करते हैं वहाँ पाठकों को भी अधिक आकर्षित करते है? अवश्य ही विदेश-यात्राओं के विवरण अधिक मनोरंजक तथा कौतूहलवर्धक होते हैं। उनमें एक नवीनता की रोचकता साद्यन्त बनी रहती है।

लेखक के व्यक्तित्व की झलक भी इन सम्पूर्ण कृतियों में पूर्णतया दृष्टिगत होती है। उसकी व्यक्तिगत रुचि का संकेत भी हमें उसकी कृतियों में निरन्तर मिलता है और उसका जीवन-दर्शन भी हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाता है।

वैदिक युग से वर्तमान युग तक की आलोचना करते हुए हमने देखा है कि स्वदेश में ही यात्रा का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत रहा है, विदेश के क्षेत्र को सम्मिलित कर देने पर तो वह अत्यन्त अधिक विस्तृत हो जाता है। इन यात्राओं के साधन भी विविध रूप रहे है। पदातिक यात्रा से लगाकर आधुनिक राकेट-यात्रा तक के उदाहरण यात्रा-साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। भू, पर्वत तथा अन्तरिक्ष यात्रा के रोमाचकारी, हृदयहारी उदाहरण इस साहित्य मे भरे पड़े हैं।

प्रधानतया उपर्युक्त प्रकार के यात्रा-रूपों की परीक्षा हम तीन दृष्टियों से करेंगे—१. प्राकृतिक,
२. दार्शनिक तथा
३. मनोरंजन मूलक।

---

१. साहित्य शास्त्र—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २, साकेत प्रकाशन, इलाहाबाद—१९५५

१. **प्राकृतिक दृष्टि**—प्राकृतिक दृष्टि में पार्वत्य प्रकृति के प्रति अधिक आकर्षण रहा है। हिमाच्छादित शृंगों, सरिताओं तथा झीलों का वर्णन प्रधानतया किया गया है। प्रकृति के सूक्ष्म रंगों, मेघों द्वारा उत्पन्न मोहक वातावरण, पुष्पों की फैली हुई विस्तृत क्यारियों और उनके मनोमुग्धकारी रंगों का वर्णन बड़ी ही मनोरम शैली में मिलता है। वनों की हरीतिमा, उनका व्यापक प्रसार, सघन गम्भीरता का चित्र लेखकों ने सफलता के साथ अंकित किया है। विभिन्न ऋतुओं के वर्णनों में लेखकों की वैयक्तिक झलक भी दृष्टिगोचर होती है। उनकी दार्शनिकता, विनोदवृत्ति, कला-प्रेम, संस्कृति आदि के स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख खिंच जाते हैं।

वास्तव में यात्राओं के बीच इस प्राकृतिक दृष्टि का बड़ा महत्व है। प्रकृति मानव की आदिम सहचरी है। आदिकाल के प्रथम पुरुष ने जब इस पृथ्वी पर अपने नेत्र खोले तो उसको सर्वप्रथम प्रकृति का ही साहचर्य एवं सहयोग प्राप्त हुआ। आदिकाल के मानव ने जब चेतना उपलब्ध की तो उसने स्वयं को हिमाच्छादित उत्तुंग पर्वतश्रेणियों से परिवृत पाया। तब भला अकृत्रिम पर्वतीय प्रदेश की यात्रा करनेवाला यात्री लेखक इस प्राकृतिक दृष्टि से क्यों वंचित रह सकता है? आधुनिक यात्रा-साहित्य के लेखकों को भी पर्वत के प्राकृतिक दृष्यों का वर्णन करने का अवकाश मिला और वे अपने चारों ओर प्रकृति की मुग्धकर माधुरी का दर्शन करते हुए उसका यथार्थ और विशद चित्रण करने लगे। अपनी 'कैलाश-यात्रा' में देखे गए एक प्राकृतिक दृश्य का यथार्थ चित्रण अंकित करते हुए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने लिखा है—

'ऊँटाधुरा की चोटी पर पहुँच गए। अपूर्व नैसर्गिक छटा। श्वेत भवन के पुनीत दर्शन। भगवान भास्कर के चरणों से लिपटी हुई श्वेतांगना बाला पति के पाओं के रज को अपने आँसुओं से धो रही है। वे उसे प्रेम से आलिंगन कर अपना अपराध क्षमा करवा रहे हैं और नीले, पीले, बैंजनी, सुनहले रेशमी वस्त्रों को अपनी प्यारी के अंगों पर डाल उसके सौन्दर्य को बढ़ा रहे हैं।'[1]

सत्यदेवजी का मानवीकरण से पूर्ण यह वर्णन अच्छा बन पड़ा है। 'नन्द-प्रयाग' और 'कर्णप्रयाग' के सुन्दर प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हुए प्रोफेसर मनोरंजन ने लिखा है—

'थोड़ी दूर आगे चलने पर सुबह की सफेदी आसमान में छा गई और प्रभात के उज्ज्वल प्रकाश में मैंने आसपास का सुहावना दृश्य देखा। सड़क अच्छी सीधी थी। चारों ओर चीड़ के जंगल थे, जिनके साथ सुथरे सीधे पेड़ों के नीचे सूखे पत्तों का चिकना मखमली फर्श देखकर मन आप-ही-आप उन पर फिसल पड़ता था। पास ही अलकनन्दा अठखेलियाँ करती हुई बह रही थी। उधर वृक्षों पर चिड़ियों की तान

---

१. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५७

अलग ही प्राणों में मीठी गुदगुदी-सी पैदा कर रही थी। नदी के किनारे हरे-भरे खेत काफी सुहावने प्रतीत होते थे। मैंने एक बार पीछे की ओर मुड़कर देखा दूर, बहुत ही दूर, हिमालय की बर्फीली चोटी दिखाई दे रही थी, जिस पर पड़कर प्रभातकालीन सूर्य-किरणें मुस्करा रही थी। मुझे मोह मालूम हुआ। जी में हुआ कि आखिर ये सारे दृश्य हमसे छूट रहे हैं। हृदय से आह निकली—

बटोही फिर यह मीठी तान।
फिर न मिलेगा सुनने को यह मधुर मनोहर गान॥
हिम की ऊँची चोटी पर उन किरणों का मुसकाना।
पर्वत के सुन्दर प्रभात में चिड़ियों का यह गाना॥
धीरे-धीरे हो जाएंगे सारे स्वप्न समान।
गिरि-सरिता का यह अल्हड़पन, खेल चपल लहरों का॥
चीड़ विपिन की सुरभि लिए सुन्दर समीर का झोंका।
पयस्विनी के सुन्दर तट पर ये लहराते धान॥[1]

स्वनिर्मित पद्य का प्रयोग करके कवि ने अपनी हृदय की आह का भावुक परिचय दिया है। गद्य-पद्यमयी रचना के द्वारा लेखक का कवि-हृदय झलकता है। मानसरोवर की यात्रा करते हुए रामशरण विद्यार्थी प्रकृति के हृदयग्राही और चित्ताकर्षक रूपों को देखकर स्वागत में विभोर होकर कह उठते हैं—

"यहाँ पर सायंकाल को महाप्रशान्त वायुमण्डल में हिमपात एक विचित्र प्रदर्शन था। देखते-देखते सारे काले पर्वत श्वेताम्बरी हो गए। सारा मैदान भी श्वेत वस्त्रधारी हो गया। रात को पुनः हिमपात होता रहा और प्रातः उठते ही सारा स्थान श्वेत-ही-श्वेत दृष्टिगत हुआ। नेत्रों में एक विशेष ज्योति और हृदय में आनन्द की स्फूर्ति-सी थी। पहाड़ी चोटियाँ सूर्य-प्रकाश से रजत के समान चमकती थीं और आकाश-स्थित बादल भी निस्तेज बर्फ के पहाड़ के समान देख पड़ते थे।"[2]

बदरीनाथ की यात्रा में हिम-शिखरों का जो भव्य दृश्य विष्णु प्रभाकर ने देखा है, उसका वर्णन करते हुए वे लिखते हैं:—

"अंधकार जैसे-जैसे गदराता गया, वैसे-वैसे ही उन शिखरों का रंग पलटता गया। पहले उषा और फिर अवरुद्ध किरणों ने जैसे ही उनका स्पर्श किया, प्रकृति-नटी अँगड़ाई लेकर उठ बैठी। अब तक एक शिखर स्मित हास्य से लगभग जगमग कर उठा, जैसे अप्सरा खिलखिला उठी हों और उनकी इन्द्रधनुषी साड़ी हवा में उड़ने लगी हो। बुरांस के फूल झूम-झूमकर नाचने लगे। पक्षी संगीत सजाने लगे। गंगोत्री, जमनोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ, चौखम्बा सभी रजत-शिखर सूर्य के प्रकाश में चमक रहे थे।"[3]

---

१. उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० २२२-२३
२. कैलाश पथ पर—रामशरण विद्यार्थी, पृ० ७६
३. मेरी बदरीनाथ यात्रा—विष्णु प्रभाकर—विशाल भारत, अप्रैल १९५६

श्री गोपाल नेवटिया ने काश्मीर के पर्वतीय सौन्दर्य का भावात्मक वर्णन किस प्रकार किया है, देखिए—

"नील उदधि के उस छोर से निकलते हुए भगवान अंशुमाली को पर्वत के उच्च शिखर पर से झाँकते हुए सूर्य को भी कई बार देख चुका था।······उस सौन्दर्य-दर्शन मे कितनी आत्म-विस्मृति थी। मेरे मनोगत भावो को वाणी ने इस प्रकार प्रकट किया था—

मरुस्थली की शोभा को चमकाकर रूप रतन से।
नभ दुकूल से आच्छादित, नित विरहित हरित वसन से।
स्वर्ण-कान्ति सम शोभामय इस अतिशय कोमल तन को।
प्रकृति सुन्दरी दिखा रही है अपने प्रेमी जन को॥
आते-जाते क्षितिज प्रान्त पर देख स्थान निर्जन-सा।
कर पसार, आलिगन आतुर होकर विह्वल मन-सा॥
चूम रहा हैं प्रकृति रूप में मुग्ध भानु धरती को।
विस्मृत कर दूँ इस क्रीड़ा में तापतप्त जगती को॥

काश्मीर के शैल-शिखरो पर लोटती हुई चारु चन्द्रिका को, मैं कल्पना की झाडियो मे से आते हुए प्रकाश की भाँति देख रहा था कि सहसा मेरे नेत्र द्वय के सम्मुख चन्द्रिकासिक्त हिमगिरि देख रहो थी और मेरी असली आँखे सिकता-समूह। इन दोनो की क्या तुलना करूँ? वहाँ चादी-पर चाँदी बरस रही है, यहाँ सोने पर चाँदी।"[1]

श्रीनगर की रम्य स्थली मे गगनचुम्बी पर्वतमालाएँ उसकी छटा को किस प्रकार अद्वितीय बनाए हुए है, इसका वर्णन करते हुए पृथ्वीपालसिह ने 'श्रीनगर की सैर' मे लिखा है—

"श्रीनगर के चारों ओर गगनस्पर्शी पर्वतो की पक्तियाँ प्रकृति का गौरव-गान कर रही है। श्रीनगर के हृदय-पटल पर मदगति से झेलम नदी प्रवाहित हो रही है।···श्रीनगर का सारा सौन्दर्य झेलम के वक्षस्थल और लोल तरंगों पर तैरा करता है। श्रीनगर मे सरिता को शात गोद में पर्वतशिलाएँ और विशाल लट्ठे नही खेलते, उनके स्थान पर सुन्दर काठ के बने हुए हाउस-बोट, डोगे और शिकारे क्रीड़ा करते है······रात्रि के समय जब निर्मल आकाश मे चांद अपनी सोलहों कला से निकलता है उस समय श्रीनगर की छटा अद्वितीय होती है। नगर के चारों ओर पर्वतमाला और शुभ्र चाँदनी मे चमकता हुआ रजत मुकुट सा हिमागार, झेलम के कंचन-से नीर मे जगमगाता हुआ चाँद का प्रतिबिम्ब, हाउस-बोटो और तट पर बसे

१—काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ९०-९१

हुए मकानों की प्रतिच्छाया, सरिता की स्निग्ध तरंगों का स्वर्गीय गान हृदय को पागल बना देता है।"[1]

स्वदेश की काव्यमयी यात्रा में नगाधिराज हिमालय के गगनभेदी शिखरों की दृश्यावली को देखकर 'तिब्बत की यात्रा' में कृष्णवंशसिंह बाघेल ने लिखा है—

"कुछ ही क्षण में नगाधिराज हिमालय के प्रत्यक्ष दर्शन होने लगे। नीलवर्ण, विशाल शरीर, उत्तुंग गगनभेदी शिखर जिससे कालिदास की कविता मूर्तिमती होकर आगे आ गई—

अस्तुत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयोनाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोय निधी वगाह्य स्थितः पृथिव्यामिव मानदण्डः ॥[2]

इसी प्रकार पर्वतीय स्वर्ग-मन्दिर के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हुए ठाकुर गदाधरसिंह अपनी काव्यमयी शैली में लिखते है—

स्वर्ग-मन्दिर के इस स्वर्ग-स्थान में किसी समय सचमुच स्वर्गीय सुख प्राप्त होते होंगे। प्रकृति देवी की सर्वांग सौन्दर्यपूरित मूर्ति अनेक प्रकार के वन-पुष्पलता पत्रादि आभरणधारिता जब दृष्टपथगामिनी होती होगी तब दर्शक निःसन्देह तन्मय हो ही जाता होगा।

नीरद सुखद समीरयुत बरसत कंचन नीर।
मोसिर छत्र दरिद्र को बूँद न लगत शरीर ॥

···जो स्थान, जो सौन्दर्य, जो मनमोहन प्रकृति-मूर्ति और जो सुगन्धसनी वायु राजाधिराज चीन देशाधिपति का मनमोहन करती थी, वही सब सौन्दर्यमयी रचना आज एक साधारण विदेशी सिपाही को मर्मान्ति दुख से अधीर बनाय रुदन करा रही है।"[3]

ईश्वरचन्द्र शर्मा ने पहलगाँव की पर्वतीय यात्रा में आए हुए सभी प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन किया था। अपनी इसी यात्रा के एक सुन्दर वर्णन में उन्होंने लिखा है—

"सूर्यास्त के समय पर्वत के शिखरों पर गिरती हुई सूर्य की म्लान और पीली किरणें एक अपूर्व कान्ति धारण कर लेती है। सूर्य-किरणो की चमक नष्ट हो जाने के बाद भी उन गिरि-शिखरों पर से आँखें नहीं हटतीं। उसके बाद रात्रि धीरे-धीरे संसार पर अधकार की काली चादर फैला देती है। तारों के प्रकाशित होते ही सारा पर्वत-प्रदेश उनके झिलमिल प्रकाश से चमक उठता है। लिदर की चंचल चपल तरंगों में पड़कर चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्सना चाँदी की तरह चमचमा उठती है।

१. श्रीनगर की सैर—पृथ्वीपालसिंह, सुधा—१६२६, वर्ष ३, खंड १, सं० १, पृ० १०-११
२. तिब्बत में २३ दिन---कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० ८
३. चीन में तेरह मास—ठा० गदाधरसिंह, पृ० १८७

वृक्ष के पत्तों के हिलने से चन्द्रमा की चितकबरी किरणें धरती पर टहलने लगती हैं। नदी और पर्वत दोनों एक-दूसरे को देखकर मुस्करा पड़ते हैं।"[1]

सोलन के पहाड़ों के प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन कर शिवनारायण टंडन लिखते हैं—

"पेड़ों की पत्तियाँ और फुनगियाँ कोमलता और हरियाली का खजाना छिटका रही हैं। तरह-तरह के फल अपनी लाल, नीली, पीली और गुलाबी अदा किता से प्राकृतिक सौन्दर्य को वैसे ही लुभाकर बना रहे हैं जैसे कि रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहने हुए सौन्दर्य की प्रतिमाएँ सभा और सोसाइटियों की रंगत को बढ़ाया करती हैं। कलियाँ चटख-चटखकर खिल रही हैं, पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदें शबनम के मोतियों की तरह झलक रही हैं। मधु-मक्खियों और प्यासे भौंरों की पंक्तियों-की-पंक्तियाँ उनका रस लेने में रुँधी-बिंधी पड़ी हैं।······पशु-पक्षियों का कलरव उनकी एक-एक तान, प्रभाती गाना-सा आनन्द दे रही है। शुक-सारिकाओं के समूह जिस आनन्द से बैठे हुए पीयूष वर्षा कर रहे हैं उनमें बड़ा रस है। चकोर आनन्द मना रहे हैं। खंजन शरद् ऋतु का आगमन जानकर पहाड़ों पर आ गए हैं। यहाँ इतने तरह के—इतने रंगों के और इतने आकार-प्रकार के छोटे, मँझोले और बड़े पक्षी हैं और हम उनका प्रत्येक का कैसा बखान करें, हाँ, प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना में सभी रत हैं, सभी तल्लीन है।"[2]

टंडनजी का प्रकृति-अवलोकन बड़ा ही आनन्द-मूलक बन सका है। इसी प्रकार के प्रकृतिमूलक दृश्य का वर्णन करते हुए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने 'अल्मोड़ा शिखर की यात्रा' में लिखा है—

"सामने नन्दादेवी के दर्शन हुए। बर्फ से ढकी हुई चोटियाँ सूर्य की रश्मियों के साथ क्रीड़ा कर रही थीं। क्या ही अनुपम छटा थी! भारतवर्ष का वही श्वेतांग द्वारपाल है। नंदादेवी इसीकी पुत्री है। अपने पिता की गोद में आकाश से बात करती हुई किसी अभिमान से देवी चारों ओर निहार रही है, परन्तु बोलती नहीं है।"[3]

विदेश की प्राकृतिक शोभा के आँकलन में हमें विदेशी प्राच्य-प्रकृति के उदाहरण भी मिलते हैं। इसमें भी पार्वत्य-वर्णनों की प्रधानता है। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने पेकिंग के पर्वतीय प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

"दृश्य जैसे फैला जाता है। लम्बे-चौड़े आँगन और बड़े-बड़े हाल एक के बाद एक हमारे सामने खुलते जाते हैं, हमारी नज़र बिखर-बिखर उन पर छा जाती है। जो कुछ प्रकृति का उदार हृदय दे सकता है, जो कुछ मनुष्य को कला और कौशल मूर्त कर सकता है, वह सारा इस स्थल पर एकत्र हो गया है। बगीचे और फूल,

१. काश्मीर में एक मास—ईश्वरचन्द्र शर्मा—चाँद, १९३०, वर्ष ८, खंड २, सं० १, पृ० २४
२. सोलन के पहाड़ों में—शिवनारायण टंडन—वीणा, फरवरी १९३८, पृ० ३१३
३. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ३२६

निकुञ्ज और झुरमुटें, पहाड़ियाँ और झीलें, द्वीप और पुल, मंदिर और पगोड़े अपने सम्पूर्ण प्राकृतिक और मानव-कलित वैभव के साथ एकत्र उठ गए हैं—पहाड़ियों में सदियों का ऐश्वर्य भरा पड़ा है। उनमें वह सब कुछ है जो चीन का वैभव और कला दे सकी है—ध्वजा-चित्रण, पोर्स्लेन और वैटूर्य के अन्ततः बर्तन, हाथीदाँत और कीमती पत्थर जड़े काम।"[१]

विदेशी प्राच्य प्रकृति के साथ ही हमें विदेशी पार्वत्य प्रकृति के भी उदाहरण यात्रा-साहित्य में मिलते हैं। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अपनी जर्मन यात्रा में जर्मनी के प्राकृतिक दृश्यों एवं वहाँ की एक प्रसिद्ध पर्वतीय नदी राइन का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"पहाड़ी चट्टानों की तंग घाटी में प्रवेश कर राइन नदी एक लज्जावती रमणी की तरह बड़े सकोच से आगे बढ़ती है। यह मार्ग इतना संकीर्ण है कि इसके किनारे पर कई स्थानों में रेल और सड़क के लिए बड़ी मुश्किल से जगह मिली है। नदी का सारी जीवन-यात्रा का यह सबसे अधिक सुखद और रम्य भाग है। यहाँ प्राचीन गाड़ियों के खंडहर, विचित्र पर्वत-शृंग, खिलखिलाती अंगूरों की बेलें और अद्भुत कंदराएँ इतनी हैं कि जिनके कारण राइन नदी प्रकृति के पुजारियों और नैसर्गिक सौन्दर्य के उपासकों की अत्यन्त प्यारी हो गई है।"[२]

स्विटज़रलैण्ड की यात्रा करके वहाँ के पर्वतीय प्राकृतिक दृश्यों को देखकर उसका मनोरंजक वर्णन करते हुए श्रीमती विमला कपूर ने लिखा है—

"बाल-रवि की हलकी सुनहली रश्मियाँ इन हिमाच्छादित चोटियों का आलिंगन कर एक अनुपम दृश्य की रचना कर रही हैं। कुछ पहाड़ियाँ मटमैले रंग की और कुछ हरित परिधान में लिपटी हुई दिखाई दे रही हैं। लो, यह तो बूँदा-बाँदी शुरू हो गई। आकाश में छिटके हुए बादलों के एक छोटे-से टुकड़े ने सूर्य को अपने आँचल में लपेट लिया और चारों ओर बदली-सी छा गई···थोड़ी-सी देर में बूँदी भी बन्द हो गई और फिर वही हलकी सुनहली रश्मियाँ चोटियों पर बिखरे हिमकणों से क्रीड़ा करने लगीं। प्रकृति का यह क्षण-क्षण परिवर्तित होता हुआ रूप इस समय बहुत ही रमणीय प्रतीत हो रहा था। जिस स्विटज़रलैण्ड की सौम्य वसुन्धरा अब तक हमारे लिए कल्पनालोक का विषय बनी हुई थी, उसीकी गोद में आज अपने को देख हृदय नव-नूतन भावनाओं से बना हुआ आलोडित हो उठा है।"[३]

पं० सूर्यनारायण व्यासजी ने अपनी यात्रा में आस्ट्रिया के प्राकृतिक पर्वतीय दृश्यों का जो अवलोकन किया है वह बड़ा मनोरम बन पड़ा है। वहाँ की पर्वतीय माला का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"अब हरीतिमा की अपेक्षा निरन्तर ध्वनित होनेवाले झरने का संगीत ही

१. कलकत्ता से पेकिंग—डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० ९०-९१

२. मेरी जर्मन यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५५

३. अजाने देशों में—विमला कपूर, पृ० ७५

क्षण-क्षण पर श्रवणपुट को स्पर्श करता जाता था। हिमाच्छादित शैल-शिखर सहस्र रश्मि की किरणावली में स्नान कर इन्द्र-धनुष की तरह रंग-बिरंगे वस्त्र परिधान कर रहे थे। कभी पर्वत की चोटी पर खेलता हुआ, कभी झरनों के सीकर में रंग भरता हुआ और कभी दो भागों वाले गिरिशृंग के बीच से अपनी सुनहली छवि दिखलाता हुआ दिनमणि प्रवास को रसमय बना ताजा कर रहा था।[1] व्यासजी अपने ग्रन्थ 'सागर-प्रवास' में आगे लुगानो स्विटज़रलैण्ड के पर्वतीय दृश्यों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"जिस समय कुहरा छा जाता है समस्त पर्वतों पर एक हलकी-सी शुभ्र चादर फैल जाती है, तब इन रंग-बिरंगे भवनों की पर्वतों की और झील की छवि देखने ही बनती है। इस समय प्रायः प्रकाश के लिए बिजली भी खोल दी जाती है। कुहरे की इस झीनी चादर में प्रकृति रानी 'आँचल में दीप छिपाए, शशि-मुख पर घूँघट डाले' मानो अपने प्रिय की खोज करने निकली हो, ऐसा मालूम होता है। सुरपुर की सुषमा-वाली यह नवेली प्रकृति-बाला लुगानों के लावण्य में चार चाँद लगा देती है। आस-पास के ऊँचे-नीचे शिखरवाले अन्य पर्वत भी सुन्दर मालूम होते हैं, मानों सौध-रमणी अपनी हमजोली सहेलियों के साथ जो सभी सफेद चादर ओढ़े घूँघट काढ़े खड़ी हैं, प्रकृति-वधू का शृंगार निरखने आई हैं, या शोभा बढ़ाने को सजी हुई लजीली रूप-रंभाएँ खड़ी हुई हैं।"[2] इसी प्रकार के पर्वतीय दृश्य का वर्णन करते हुए यशपालजी लिखते हैं—

"कुछ समय पश्चात् पहाड़ों पर बरफ जमी दिखाई दी और फिर खूब बरफ। बरफ के मैदान और बरफ से लदी चोटियाँ। सौभाग्य से सूर्य चमक उठा। बाईं ओर गहरे नीले आकाश में निरावलम्ब विराट हिमशृंग खड़े थे, अद्भुत गुलाबी ज्योत्सना लिए। नीचे बरफ के मैदान। बरफ में से कहीं-कहीं कोई बड़ी काली चट्टान दिखाई दे जाती तो भली लगती।"[3] श्वेतांग हिमराशि वह भी गुलाबी ज्योत्सना से पूर्ण, क्या ही अनोखा पर्वतीय दृश्य था वह, जिसका यशपालजी की सफल लेखनी ने वर्णन किया है।

भू-स्वर्ग स्विटज़रलैण्ड के सौन्दर्यपूर्ण प्राकृतिक दृश्य में वहाँ के भवन, उद्यान, सड़कों, फुटपाथों, लता-मंडपों का व्यासजी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वे लिखते हैं—

"कई हजार फीट ऊँचाईवाले इस नयन रम्य गिरि-शिखर पर अनेक रम्य निवास-भवन, उद्यान और बिजली की चकाचौंध में आइने की तरह चमकनेवाली विस्तृत सड़कें, फुटपाथ पर लता-मंडप और विविध सुमनों से अलंकृत वृक्षों की सुन्दर कतारें, रंग-बिरंगे पुष्पों की कलामय क्यारियाँ और हजारों अलग-अलग रंगों और

---

१. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० ८२

२. सागर प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० १५२

३. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० १०८

किरणों की बिजली की बत्तियाँ रात में भी दिन का भुलावा दे रही थीं। वृक्ष-लताओं के वर्षा और विद्युत-प्रकाश से सद्यःस्नात पत्र-पुष्प नयनों का रंजन कर रहे थे। लक्षावधि बिजलियाँ, सुन्दर घनी हरियाली और विविध रंग के बड़े-छोटे भवन बने हुए थे। यह हिममंडित मुकुटधारिणी आल्प्स पर्वत-मालिका हरित बनराजि में ऊपर से नीचे तक सहस्रशः वन्स भवनों को अपने हृदय-प्रदेश में नगीनों की तरह जड़े हुए हैं।"[1]

इन पार्वत्य-प्रधान वर्णनों के अतिरिक्त सरिताओं, झीलों और प्रपातों का भी सफल चित्रण यात्रा-साहित्य के लेखकों ने किया है। ऊपर हम सत्यदेवजी की जर्मन-यात्रा में राइन नदी का दृश्य देख ही चुके हैं। अपनी स्विटज़रलैण्ड की यात्रा में 'ठुन की झील' को पर्वतीय श्रेणियों से घिरी देखकर वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता का वर्णन करते हुए बेनीपुरीजी ने लिखा है—

"गाड़ी से उतरकर ज्योंही हम कुछ आगे बढ़े कि 'ठुन की झील' दिखाई पड़ी और इस झील को देखते ही जैसे रोम-रोम पुलकित हो उठे और मानो वे चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हों—अद्‌भुत, परम् अद्‌भुत ! हम एक बगीचे में खड़े थे, हमारे चारों ओर फूल-ही-फूल थे। जब पैर के नीचे ध्यान गया तो पाया, वहाँ भी छोटे-छोटे रंग-बिरंगे फूल घास की जगह पर बिछे हुए है। हमारी बाईं ओर से नदी आकर इसी झील में गिर रही है और झील नीले पानी का एक ऐसा विस्तृत अंचल जिसका कहीं ओर न छोर हो। हवा जोरों से बह रही थी, हमारे ओवर-कोट को जैसे हमारी देह से उतारकर फेंक देना चाहती हो। इस तेज हवा के चलते झील में बड़ी-बड़ी तरगें उठ रही हैं और टूट रही है। ऐसा लगता है कि नीली सरजमीन पर अनेकानेक हंस-कुमार बन रहे और बिगड रहे हों। जब हम किनारे पर खड़े थे, हवा के झोंके के साथ कुछ बूँदें आकर जमीन पर गिरतीं। ऐसा भावावेश था कि इच्छा होती कि झील में अब भी कूद पड़ा जाय। झील के चारों ओर पहाड़ों की ऊँची-नीची, उजली-उजली चोटियाँ, जिन पर बादलों के दल तरह-तरह के खिलवाड़ कर रहे हों। यों चारों ओर से घिरी यह झील स्वप्नपुरी-सी लगती थी।"[2] इन चित्रों में प्रकृति का यथार्थ और विशद चित्रण मिल जाता है। विदेश की प्राकृतिक शोभा के वर्णन में नियागरा प्रपात के सुन्दर दृश्य का वर्णन करते हुए बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने लिखा है—

"विशाल जल-राशि के इतने ऊपर से गिरने से जो कलरव हो रहा था उससे एक विचित्र मनोमुग्धकारी ध्वनि निकलती थी। यह ऐसी मनोहारी प्राकृतिक तान थी जिसके सुनने से कान नहीं भरे। अहा ! इसी जलराशि के प्रपात से जो धूम-सदृश झीनी-झीनी जल-बिन्दु राशि उठती थी, उस पर सूर्य की रश्मि के पड़ने से पूर्ण इन्द्रधनुष बन जाता था। जल के अथाह निबिड़ समूह पर हिम से सुसज्जित प्रकृति-

---

१. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० १३०-१३१
२. पैरों में पंख बांधकर—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० २२६

देवी की जीवित मूर्ति पर अनुवृत्ताकार (पैराबोलिकल) इन्द्रधनुष कैसा शोभायमान विचित्र मुकुट-सा भासता था, मानों यह दृश्य दर्शकों को यहाँ से हटने न देगा। …पास के सारे वृक्ष व झाड़ियाँ बर्फ से लदी थीं। वृक्षों की पतली-पतली शाखाओं के चारों ओर बर्फ जमी हुई थी जिससे जान पड़ता था कि ये काँच के वृक्ष हैं, यह द्वीप-का-द्वीप एक भाँति से शीशे के बगीचे-सा मालूम होता था।"[1]

डॉ० धनीराम ने अपने यूरोप-भ्रमण में वहाँ के पार्क, झील, फव्वारों, बगीचों की रम्यता का वर्णन करते हुए लिखा है—

"वैरसाई में हरियाली तो चारों ओर दिखाई देती है। किले के चारों ओर पार्क लगे हुए है जिनमे सुन्दर झीलें, फव्वारे, पुतले, स्मारक और महल बने हुए हैं। किला बहुत ऊंचे पर है और वहाँ के चारों ओर का जो दृश्य दिखाई देता है वह देखते ही बनता है।"[2] धनीरामजी ने अन्य प्राकृतिक दृश्यों के साथ-साथ मानव द्वारा अलंकृत प्रकृति की शोभा का भी वर्णन किया है। मध्यपूर्व पाश्चात्य वर्णनों में काहिरा की लौटती यात्रा का वर्णन करते हुए शिवप्रसाद गुप्त ने मिस्र की घाटी के सौन्दर्य का भी निरूपण किया है। वे लिखते हैं—

"हमारे दक्षिण ओर अरब की, और बाईं ओर लूबिया की पहाड़ियाँ थीं। संध्या हो गई थी किन्तु लूबिया पहाडी के पीछे की मरुभूमि को भी हम नहीं देख सकते थे किन्तु सूर्य की किरणों के पड़ने से जो आभा सुन्दर सुनहली बालू से टक्कर खा पश्चिम के आकाश को प्रकाशित कर रही थी, वह अकथनीय थी। रेलगाड़ी का बेतहाशा दौड़ते चले जाना, सामने सुन्दर हरे-भरे खेतों का दिखना, उसके बाद झाऊ के पेड, खेल के पहले नील के श्वेत जल की रेखा, झाऊ के पेडों के उपरान्त ऊँचे-ऊंचे खजूर के पेड, उनके पीछे पहाड, पहाड़ के इस ओर कमबेशी अंधकार किन्तु पहाड़ों के पीछे गगनमण्डल सुनहले रंग में रंगा हुआ—यह दृश्य ऐसी शोभा दे रहा था कि चित्र खीचे लेता था।"[3] सागर की तटभूमि और वहाँ की हरियाली, चमकती बर्फ के दृश्यों का अवलोकन कर बेनीपुरीजी ने लिखा है—

"यह तटभूमि। कितनी सुन्दर, मोहक! पथरीली जमीन। तट तक उतरने के लिए जगह-जगह रास्ते। रास्ते की बगल मे हरियाली-ही-हरियाली। सामने वह बर्फ से आच्छादित पहाड़ी। शिव के ललाट पर त्रिपुंड नही—सिर पर श्वेत जटाजूट। पहाड़ के ऊपर पहाड़। बीच मे यह पतली धारा—या दो घाटियों के बीच का रास्ता? रास्ता इतना टेढ़ा-मेढ़ा! नहीं, नदी का कटाव सही। पहाड़-पर-पहाड़ और फिर उस पर चमकती बर्फ—यहाँ-वहाँ, इधर-उधर। कितनी मोहक!"[4] बेनीपुरीजी ने सागरीय तट का वर्णन बड़े ही मनोरम ढंग से प्रस्तुत किया है।

१. पृथ्वी-प्रदक्षिणा—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ८४
२. मेरी यूरोप यात्रा—डा० धनीराम—चांद, जनवरी १९३२, पृ० ५००
३. पृथ्वी-प्रदक्षिणा—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ३०
४. पैरों में पंख बांधकर—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० ४१

विदेश की प्रकृतिक शोभा में हमें कुछ ऋतु-वर्णन भी मिलते हैं। अपनी 'तिब्बत यात्रा' में ल्हासा से उत्तर की ओर जाते हुए राहुल सांकृत्यायन ने वर्षा-ऋतु में वहाँ की पर्वतीय श्रेणियों का दर्शन कर उनका सुन्दर वर्णन लिखा है—

"आजकल वर्षा ऋतु है। भूले-भटके कितने ही बादल हिमालय के इस पार भी आ पहुँचते हैं। और मैदान और पहाड़ जिधर देखो उधर ही हरी मखमली छोटी-छोटी घास बिछी हुई है। भोंट देशीयों का इस स्पड् (हरियाली) पर नाज़ करना वजा है। तीन मास के लिए तो यहाँ की पर्वतमालाएं अद्भुत सौन्दर्य धारण कर लेती हैं। हरी घासों के अतिरिक्त कहीं-कहीं पीले-नीले फूल भी फूले दिखाई पड़ते हैं।"[1] अपनी साम्यवादी देश की यात्रा मे नित्यनारायण बनर्जी ने जो शीतकालीन प्राकृतिक दृश्य देखे हैं उनमें एक पर्वतीय दृश्य का वर्णन वे लिखते हैं—

"जनवरी का महीना था। सफेद-सफेद परों-जैसी बर्फ अविराम गति से गिर रही थी। सरदी ने धरती-तल से हरियाली का नाम मिटाकर रक्तहीन-सा कर दिया था और उस पर सफेद बर्फ की चादर ओढ़ा दी थी। मैदान और खेत सफेद थे, मकानों और झोंपड़ों की छतें सफेद थीं और सदा ही हरे रहनेवाले पेड़ सफेद और बर्फ के बोझ से झुके हुए थे।"[2] ये ऋतु-वर्णन बहुत ही सुन्दर है जिनसे विदेश के बर्फीले मौसम के प्राकृतिक चित्रों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

अपनी एडिनबरा की मैदानी-यात्रा में देखते हुए प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए राजवल्लभ ओझार्जा ने लिखा है—

"हरी घास में भरे लम्बे चरागाहों में भेड़ों के झुण्डों को देखकर इस क्षेत्र के प्राकृतिक सौन्दर्य की पहली झलक मिली। भूरे रंग की मोटी गायें भी चरागाहों में दिखाई पड़ीं। दूर-दूर तक हरित भूमि-खण्ड देखकर आँखें जुड़ा गईं। ट्रेन में बैठे-बैठे इन हरे-हरे विस्तृत चरागाहों, बर्फ से ढकी पहाड़ियों और कहीं-कहीं उछलते-कूदते लाल मुर्गों को देखकर मैं इस पर्वतीय प्रदेश के रूमानी-सौन्दर्य पर रीझ उठा। दुनियाँ के धुर उत्तरी भाग की ओर हम जा रहे थे, इसलिए गर्मी में भी हमें काफी जाड़ा मालूम हो रहा था। ब्रिटिश ट्रेनों में रेलिंग पकड़कर गलियारे से बाहर के दृश्यों को देखने की सुविधा प्राप्त है, इसलिए मैं वहीं से खड़े-खड़े ट्रेन के चतुर्दिक बिखरे हरित सौन्दर्य को निहारने में तल्लीन था। जिस समय उत्तरी सागर के किनारे से हमारी ट्रेन गुजरने लगी, तो बहुत ही लुभावना दृश्य दिखाई पड़ा। एक ओर सागर की उत्तुंग तरंगें और दूसरी ओर हरित पृथ्वी पर हवा के झोंके थे, साथ मस्ती में झूलने वाली तृण-उर्मियां। पृष्ठ-भाग में धवल पर्वत-शिखर, नीचे वन-प्रदेश और ऊपर आकाश में पक्षियों का स्वच्छन्द विचरण। प्रकृति की ऐसी अनूठी कलाकृति का अनुकरण कर न जाने कितने शिल्पी कलाकार बन जाते हैं। और आज मैं उन्हीं मनोहर दृश्यों को

१. मेरी तिब्बत यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५
२. साम्यवादी देश में—नित्यनारायण बनर्जी—विशाल भारत, जनवरी १९३४

जी भर देखता जा रहा हूँ।"[1] ओझाजी ने प्राकृतिक दृश्यों में चरागाहों से लेकर बर्फीली पहाड़ियों, गलियारों तक का सुन्दर वर्णन किया है। अपनी मास्को यात्रा के प्राकृतिक दृश्य का अवलोकन कर ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है—

"स्थान रूस। दृश्य, मास्को की उपनगरी का एक प्रासाद भवन। जंगल मैं देख रहा हूँ—दिगन्त तक फैली हुई अरण्य भूमि, सब्ज़ रंग की लहरें उठ रही हैं, कहीं स्याह सब्ज़, कहीं फीका बेंगनी-मिलमा सब्ज़, कहीं पीलिया सब्ज़ हिलोरें-सी नज़र आ रही हैं। वन की सीमा पर बहुत दूर गाँव की झोंपड़ियाँ चमक रही हैं। दिन के करीब दस बजे हैं, आकाश में बादल-पर-बादल धीमी चाल चले जा रहे हैं, बिना वर्षा का समारोह है, हवा से सीधे खड़े पापलर वृक्षों की चोटियाँ नशे में झूम-सी रही हैं।"[2]

मास्कों की राह का सुन्दर दृश्य चित्र खींचते हुए यशपालजी ने लिखा है—

"साढ़े ग्यारह बजे के लगभग गाड़ी वियाना स्टेशन से चली। वियाना नगर का आंचल अंगूरों की खेतियों, दो मंजिलों, बस्तियों और छोटे-मोटे कारखानों से घिरा है। गाँव अधिक दिखाई नहीं दिये। जान पड़ता था कि युद्ध के कारण उजड़ गई बस्तियाँ अभी फिर से बस नहीं पाईं। खेती की भूमि प्रायः बरफ के टुकड़ों और कोहरे से ढकी हुई थी। वृक्षों के पत्ते हेमन्त और बरफ के कारण झड़े हुए थे। सूर्य की किरणें कोहरे को बेधने का प्रयत्न कर रही थीं परन्तु बादल आड़ बन जाते थे।"[3] चीन के युद्ध-क्षत्र में भ्रमण करने पर वहाँ के जो सुन्दर चित्र गदाधरसिंह ने देखे उनमें से एक प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"धरती के दुग्धफेन निभ वसनों की कालिमा पत्र-पत्रविहीन वृक्षावली है। जिस समय तुषाररूपी शुभ्र वसनों से पृथ्वी पर पड़े हुए सभी पदार्थ कूड़ा-करकट, ईंट पत्थर, कोयला-राख, गड्ढा-खंदक ढँक कर श्वेत वर्ण हो जाते हैं और सूर्यनारायण अपनी स्वर्णोपम किरण द्वारा मीठी मंद मुसक्यान से दृष्टि डालते हैं तब चकाचौंध से नेत्र स्थिर नहीं रह सकते। पृथ्वी मृदु हास हँसने लग जाती है। सूर्य भगवान को लजाना पड़ जाता है। उनके नेत्र झँप जाते हैं, तेजी न जाने कहाँ विलीन-सी हो जाती है।"[4] ठाकुर साहब का हिमपात-वर्णन बढ़ा ही अनूठा बन पड़ा है। अपनी रेल-यात्रा मे प्रकृति के नाना बदलते रूपों में दृश्यों का चित्र अंकित करते हुए गदाधर जी आगे लिखते हैं—

"साउथाम्पटन से हैम्पटन कोर्ट तक पहुँचने के इन कई घंटों के थोड़े-से समय में ही प्रकृति ने कितने रूप बदले, कैसे दृश्य दिखलाये। रेल से सवार हुए तब थोड़ी-थोड़ी बूंदें पड़ती थीं, कुछ घण्टों बाद धूप खिल निकली। मानो सूर्य भगवान हमें

१. बदलते दृश्य—राजवल्लभ ओझा, पृ० १३०
२. रूस की चिट्ठी—रवीन्द्रनाथ टैगोर—अनु० धन्यकुमार जैन, पृ० ७
३. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० १०८
४. चीन में तेरह मास—ठाकुर गदाधरसिंह, पृ० १७२

राह दिखाने के वास्ते आगे-आगे प्रकाश ले कर चलने लगे। तनिक ही देर हुई थी कि मानों इनका कार्य शेष हुआ और नाट्यशाला में पटाक्षेप हो गया। दूसरा दृश्य घनघोर घटा का था। खूब उमड़-घुमड़कर धवले घूमते बादल घिर आए और वृष्टि होने लगी। चलती हुई रेल से उपवनों की सुन्दर सजीली हरियाली पर धीमी-धीमी वर्षा के बिन्दु पड़ते हुए देखने में अपूर्व शोभायमान थे।"[1]

बदलते-दृश्यों मे श्री राजवल्लभ ओझा ने अपनी वायुयान यात्रा में अन्तरिक्ष से देखे गये प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया है। पर्वतमालाओं एवं दिलकश नज़ारों का वर्णन करते हुए वे लिखते है—

"सागर के बीच चतुर्दिक पर्वतों से घिरे इस ऐतिहासिक द्वीप को देखते रहने की लालसा इतनी प्रबल थी कि कोई भी खिड़की से आँख हटाने को तैयार न था। उधर देखिए पर्वतमालाओं की अनुपम शोभा, वे हरित वृक्षों की पाँतें, जैसे मेघ के टुकड़े प्रकृति का शृंगार करने पहुँच गए हैं। पहाड़ों की बर्फीली चोटियाँ ऊपर उठकर क्रीट के दिलकश नज़ारे की जिस अल्हड़पन से अभिव्यक्ति कर रही थीं, उस पर कौन न मुग्ध होता! भूमध्यसागर में यह टापू ऐसा देख पड़ रहा था, जैसे वह पर्वतों का एक आकर्षक मेहराब हो।"[2] इसी प्रकार जलयान से प्राकृतिक दृश्य का अवलोकन कर डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है—

"और देखता चला जाता हूँ प्रकृति की अनुपम छवि जहाज के इस दाहिने झरोखे से। पहाड़ और जंगल, खेत और मैदान, नदी और झील नीचे बिखरे पड़े हैं। फैले मैदानों में हरी घास और ऊँचे पौधों के बीच पानी की धारा चाँदी-सी चमक रही है। लगता है, प्रकृति नहा-धोकर बाल बिखेरे चमकती माँग काढे पड़ी है। उसकी अभिराम साड़ी दूर तक फैली पहाडों और जगलों पर अपने आँचल का साया डालती चली गई है। जगह-जगह हटे घूँघट के बीच से जैसे चीन के गाँव जब-तब झाँक लेते हैं और उनकी सादगी और ताजगी हमारी स्मृतियों के पश्चिमी विशाल नगरों के बासीपन पर उमड़ पड़ती है।"[3] प्रकृति के इस दृश्य को उपाध्यायजी ने विभिन्न दृष्टियों से देखा है।

प्रकृति के कुछ सुन्दर दृश्यों का वायुयान की खिड़की से अवलोकन कर उनका वर्णन करते हुए सेठ गोविन्ददासजी ने लिखा है—

"जब मैंने खिड़की से बाहर की ओर देखा तो एक अद्भुत दृश्य था। ऊपर बादल का एक भी टुकड़ा नहीं था। भगवान सहस्रांशु अपनी समस्त अंशुओं को निर्मल नीलाकाश में फैलाए हुए चमक रहे थे, परन्तु नीचे घने बादल थे। इन बादलों का एक बृहत् शामयाना-सा पृथ्वी पर तना हुआ था और ऐसा शामयाना जिसमें एक भी सिकुड़न, एक भी शल, कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। शामयाने के रूप

१. हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ३६
२. बदलते दृश्य—राजवल्लभ ओझा, पृ० १२-१३
३. कलकत्ता से पेकिंग—डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० १४५

में पृथ्वी पर तने हुए इन बादलों की एक ही सतह थी, कहीं ऊँची-नीची नहीं, इस सतह से बाहर बादल का एक छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी तो इधर-उधर कहीं भी नज़र नहीं पड़ रहा था। हवाई जहाज को बादलों पर से उड़ते तो मैं कई बार देख चुका था, परन्तु ऊपर सर्वथा निर्मल नीलाकाश में भगवान भास्कर का पूर्णालोक तथा नीचे ऐसे बादलों की सतह इसके पहले मैंने कभी नहीं देखी थी।"[1] अपने अतृप्त नयनों द्वारा देखे गए बादलों के भूरे, चमकीले, श्वेत, सुनहले आदि विभिन्न दृश्यों का वर्णन करते हुए बेनीपुरी जी कहते हैं—

"अब क्षितिज की छवि अद्‌भुत हो गई है। बादलों के पहाड़ के पीछे से वह सूरज-देवता ने झाँका, फिर मुस्कुरा पड़े। भूरे बादलों की किनारी अब सुनहली चमकीली है। नीचे के बादल अब सपाट मैदान से लग रहे हैं। ज्यों-ज्यों उजाला बढ़ता जाता है, उनका भूरा रंग दूर होता जाता है—देखिये, वे अब मक्खन से लग रहे हैं, श्वेत, स्निग्ध। भूखे नयन उन्हें देखकर अघा नहीं रहे।"[2] वायुयान द्वारा की गई विदेश यात्रा में बेनीपुरीजी ने इसी प्रकार के बादलों के दृश्य को देखकर एक स्थल पर और लिखा है—

"नीचे कालीन-ही-कालीन। मखमली लहरदार। मरुभूमि देखने के बाद आँखें तृप्त हो रही है। किन्तु यह क्या? चारों ओर धुन्ध। अरे, अब तो हम बादलों के बीच है? बीच? नहीं, अब ऊपर आ गए। कराची के पहले भूरे बादल, काले बादल। यहाँ सुफेद चमचमाते बादल। बादलों में भला रंग कहाँ? भगवान सूर्यदेव ने जिस प्रकार चमका दिया। सन्ध्या में वैसे चमकाया था, आज दुपहरिया में ऐसे चमका रहे हैं।"[3]

बेनीपुरीजी ने बादलों के विभिन्न दृश्यों के वर्णन में अपनी प्रश्नोत्तर-शैली का पुट दिया है। दृश्य-वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़े हैं।

निष्कर्षतः उक्त उद्धरणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि स्वदेश की प्राकृतिक छटा में पार्वत्य दृश्यों के वर्णनों का प्राधान्य रहा है। इन पार्वत्य-प्रधान वर्णनों में भी हिमालय एवं काश्मीर के वर्णन अधिक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त पर्वती तीर्थस्थानों मे बदरीनारायण ही प्रधान रहा है। इन स्थलों की यात्राएँ मूल रूप से पैदल या मोटर के द्वारा ही की गई हैं। इनमें पर्वतशृंगों, सरिताओं तथा झीलों (कश्मीर) एवं मैदान के चित्रों का सफल वर्णन किया गया है।

विदेश की प्राकृतिक शोभा के वर्णन में भी पार्वत्य दृश्यों का ही प्राधान्य हमें मिलता है। इसमें भी विशेष रूप से स्विटज़रलैण्ड का वर्णन अधिक है। अन्य देशों में यूरोप में जर्मनी, अमेरिका में नियागरा प्रपात के दृश्यों का भी वर्णन किया गया

---

१. सुदूर दक्षिण-पूर्व—सेठ गोविन्ददास, पृ० ४१
२. उड़ते चलो, उड़ते चलो—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ०११
३. पैरों में पंख बांधकर—वही, पृ० २४

है। रूस, इटली आदि अन्य देशों के दृश्यों का भी वर्णन किया गया है। विदेश की प्राकृतिक शोभा के आँकलन में हमे प्रकृति के दो रूप मिलते हैं—

(१) मुक्त प्रकृति

(२) मानव द्वारा अलंकृत प्रकृति।

मुक्त प्रकृति में हमें पर्वत-शृंगों, सरिताओं, झीलों और प्रपातों के दृश्य मिलते हैं और मानव द्वारा अलंकृत प्रकृति में बन्दरगाहों के निकट के स्थान, पार्क, झीलें, सरिताएँ और बगीचों के दृश्यों के वर्णन मिलते हैं।

इस प्रकार स्वदेश-विदेश की प्राकृतिक छटा के दृश्यों में हमें कौतूहलपूर्णता, कलात्मकता, दार्शनिकता आदि वैयक्तिक प्रभाव भी लक्षित होता है।

दार्शनिक दृष्टि

अब हम यात्रियों के दार्शनिक दृष्टिकोण पर दृष्टिपात करते हैं। दार्शनिक (रहस्यवादी) प्रकृति में परम-तत्त्व के दर्शन करता है और इस प्रकार प्रकृति, विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। अपनी पर्वतीय यात्राओं में वह प्राकृतिक दृश्यों पर ही अपनी दार्शनिकता का आरोप करता है। इस भावना का आधार सर्ववाद है। सर्ववाद के दो रूप हैं, आत्मा और परमतत्त्व की एकता और जगत और ब्रह्म की एकता। आत्मा और परमात्मा की एकता आत्मा और परमतत्त्व के बीच अद्वैत भावना का अनुभव करता है, जीवात्मा में ही वह सर्वनियन्ता के दर्शन करता है, उसके समस्त कार्य उसी परम शक्ति की प्रेरणा से होते हैं, उसका सुख-दुःख, आनन्दविलास, हर्ष-विषाद आदि उसीसे सम्बद्ध होता है। इस सर्ववाद की भावना से प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ चेतन है और मनुष्य ने इसी दृष्टि से प्रकृति में उसी परमात्मत्व के दर्शन किए हैं। प्रकृति के रुद्ररूप में उसने सर्वशक्तिमान की भ्रू-भंगिमा और पूर्ण प्रफुल्लित पुष्प में परम-तत्त्व की मृदु मुस्कान का अनुभव किया है। प्रथम मानव के हृदय में प्रकृति को देखकर यह जिज्ञासा हुई, वह सूर्य की गति, ऋतुओं के परिवर्तन और पर्वतीय दृश्यों के आश्चर्यपूर्ण परिवर्तन को देखता रहा, उसने विचार किया, प्रश्न उठे—

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्स्यन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥[1]

अर्थात् विपरीत रूप वाले, गौर और श्याम दिन-रात कहाँ पहुँचने की अभिलाषा करके जा रहे हैं ये सरिताएँ जहाँ पहुँचने की अभिलाषा से चली जा रही हैं उस परम आश्रम को बताओ, वह कौन है ?

पर्वतीय यात्राओं में हमें प्रायः ऐसे लेखक मिले हैं जिन्होंने अपने यात्रा-वर्णनों में कहीं-कहीं दार्शनिक दृष्टिकोण को भी अपनाया है। यद्यपि अधिकतर

१. अथर्ववेद—१० : ७ : ६

ऐसे ही लेखक है जिन्होंने वर्णनात्मक या प्राकृतिक सौन्दर्य पर ही अधिक बल दिया है, परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से देखी प्रकृति के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत है :—

दार्शनिक दृष्टिकोण वाले विचार और सुन्दर चित्र हमें स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की कैलाश-पर्वत यात्रा मे भी मिलते है। उन्होने कैलाश-पर्वत का वर्णन करते हुए लिखा है—

"सामने बीस-तीस मील के घेरे में प्रकृति के सौन्दर्य की अवर्णनीय शोभा दृष्टिगोचर होती है। पूर्व-दक्षिण और पश्चिम किसी ओर नजर दौडाइए, ईश्वर की उत्कृष्ट विभूति का अद्वितीय चित्र दीख पडता है। क्या इस पृथ्वी तल पर ऐसा मनोहर, ऐसा उज्ज्वल, ऐसा अप्रतिम, ऐसा रमणीक स्थल कही और होगा? क्या विश्वकर्ता से बाते करने के लिए ऐसा स्थान कही और है? जिन आर्य-वीरो ने हिमालय की प्रशसा मे सैकडो ग्रन्थ बना डाले वे प्रभु की रचना-शक्ति के रहस्य से अवश्य कुछ-न-कुछ परिचित थे। हिम से ढकी हुई चोटियाँ एक-दो नही बीस-तीस, चालीस-पचास, साठ-सत्तर—इस छोटे-से भूमि के टुकडे मे हीरे के नगो की मानिन्द जडी हुई है। प्रभात के भानु की रश्मियाँ जिस समय इन पर्वतो पर पडती है, उस समय की अलौकिक छटा क्या कोई लेखनी से चित्रित कर सकता है? उस निर्दोष चित्रकार के कौशल की लावण्यता का वर्णन करने की शक्ति मनुष्य मे कहाँ, यहाँ तो—'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा' वाली बात है।"[1]

पर्वतो के दृश्यो को देखकर यात्री का मन मचल उठता है। वह उस सत्ता की व्यापकता पर विचार करता है। इसी प्रकार की भावना से पूर्ण हो, काश्मीर की मनोरम घाटी के सुरम्य दृश्यो को देखकर श्रीपालसिहजी लिखते है :—

'काश्मीर की गोद मे दूध की नदियाँ बहती है, चाँदी के झरने झरते हैं, अमृत के सोते हँसते हुए प्रवाहित हो रहे है। उस स्वर्ग के हरे-भरे आँचल मे रजत मुकुट धारण किये हुए है। कितने ही शिखर नीले आकाश को चुम्बन करते है तथा उनके हिमाच्छादित अधरो पर सूर्य की सुनहली किरणे थिरक-थिरक किस कौतुक से विलुप्त हो जाती है।"[2]

इस प्रकार जगन्नाथपुरी के दर्शन कर कृष्णकुमार माण्डके ने लिखा है[3] :—

"इस बाह्य क्षेत्र दर्शन के योग से हमारे हृदय मे निवास करनेवाले विश्व-ब्रह्माण्ड पुरस्थित पुरुषोत्तम के दर्शन होना दुर्लभ है। भागवतगीता मे इस देश को नवद्वार पुर कहते है। श्रुति मे भी देह के लिए पुर की सज्ञा है। परमात्मा का इस

१. मेरी कैलाश यात्रा : स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ६१
२. मेरी शैल यात्रा : श्रीपालसिह—सुधा, नवम्बर १९३२, पृ० ४७९
३. जगन्नाथपुरी दर्शन : कृष्णकुमार माण्डके—चित्रमयजगत, दिसम्बर १९१८, पृ० ३३०

देह से अधिष्ठान होने के कारण उसे पुरिशय पुरुष कहते हैं। भागवत में पुरंजय की कथा में रूप को देहपुर और देह पुरस्थित आत्मा का तत्व कहा है। भगवान् इस देह को क्षेत्र कहते हैं :—

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

(भागवतगीता, अध्याय १३, श्लोक १-२)

यह देह नवद्वार युक्त है। इससे बाहर निकलने पर हमारा ज्ञान और चैतन्य बहिर्मुखी होता है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दो मार्ग से चित्त बाहर जाकर बाह्य विषय ग्रहण करता है। उसे यदि पुनः अतनि विष्ट न किया जाय तो अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त नहीं हो सकती, और देह पुरस्थित परमात्मा के दर्शन भी दुर्लभ ही समझना चाहिए, श्रुति में कहा है —

परांचि खानिवत् यतृणत् स्वयंभू।
तस्मात्परां पश्यति नान्तरात्मन।
कश्चद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष।
दावृत्तचक्षुर मृतत्वमिच्छन्॥

(कठोपनिषद्, ४-१)

रामशरण विद्यार्थीजी ने भी प्रकृति में एक रहस्यात्मक (दर्शन) रूप को देखकर लिखा है —

"रात मे पुनः हिमपात होता रहा और प्रातःकाल हमारी दृष्टि ने एक विचित्र ही सृष्टि का अवलोकन किया। नेत्र के सम्मुख सारा ही दृश्य एक परम आश्चर्यमय वस्तु था। वास्तव मे यह बड़ा गोप्यहिम रहस्य था। वहाँ की सारी सृष्टि हिमालय बनी हुई थी। प्रत्येक पदार्थ हिमाच्छादित था। इस गूढ हिम-रहस्य को कोई भी समझ न पाता था। अपने बिछौने से उठते ही देखा तो सारा ही दृश्य हिममय था। हमारी रजाई तक भी हिममय हो गई थी। हम इस रहस्य को देखकर अपने डेरों से बाहर देवी नाट्यकार के हिम-रहस्य पर चित्रलिखे से खड़े हो गए। शनैः-शनैः सूर्यदेव अपनी तेजस्वी किरणों से प्रकाशित होने लगे। सूर्य के प्रकाश से हिम पर एक विचित्र लालिमायुक्त आभा चमकने लगी। नेत्र इस विचित्र दृश्य के सम्मुख चकाचौंध हो गए। धूप लगने से संसार की क्षणभंगुरता के समान सारा हिम पिघल गया। पुनः हरे-भरे पौधे और पाषाण दिखाई पड़ने लगे। यह सारा कौतुहल स्वप्नवत् रह गया। एक ही रात्रि में कृष्णवर्ण को श्वेत हिमाच्छादित होते देखा और प्रातः उसको फिर उसी रूप में आते देखा। यही ईश्वर की लीला और महारोचक हिम रहस्य है।"[1] विद्यार्थीजी प्रकृति को सर्वत्र रहस्यमयता से पूर्ण

१. कैलाश पथ पर : रामशरण विद्यार्थी, पृ० ८६-८७

देखते हैं और आश्चर्यचकित से रह जाते हैं। पौराणिकता की भावना से पूर्ण एक दार्शनिक दृश्य का चित्र अंकित करते हुए कृपानाथ मिश्र ने लिखा है—

"सन्ध्या के समय कासिका नामक द्वीप का करुण चित्र हृदय को पुनीत भावों से पूर्ण कर रहा था। यह द्वीप आग्नेय उपत्यकाओं से पूर्ण है। कभी-कभी इसमें पर्वत-शृंग वज्र गंभीर निनाद से टूट पड़ते हैं। यहाँ प्रकृति आजीवन कुमारी की तरह एक कठोर व्रत की उपासना कर रही है। इसका सौन्दर्य वाष्प तथा अस्पष्ट रेखाओं के चीरते हुए हमारे सम्मुख शंकर का रुद्र रूप उपस्थित कर रहा था। कभी कभी तो ज्ञात होता था कि सुदूर-स्थित गिरिमालाओं के शृंग पर, कासिका नामक अपरिचित द्वीप में शंकर का उज्ज्वल रूप चमक रहा है। वहाँ के लता-गुल्म आदि दूर से रुद्राक्ष-माला की भाँति शोभायमान थे। कासिका का सौन्दर्य कठोर व्रता-वलम्बी किशोरी की भाँति करुण तथा गंभीर है।"[1] प्रकृति की सुन्दरता में शंकर के रहस्यात्मक रूप का मिश्रजी ने सुन्दर वर्णन किया है।

मानसरोवर की नैसर्गिक दृश्यावली को देखकर उसमें लीलाबिहारी सृष्टिकर्त्ता के दर्शन कर रामशरण विद्यार्थी लिखते हैं—

"सूर्यास्त का समय निकट होने से वायु की गति भी मंद-सी हो चली और ललित सलिल में लहरें भी श्रान्त-सी हो विश्राम के लिए लालायित जान पड़ने लगीं। ऐसे सुहावने समय में इसके पश्चिमी तट पर जहाँ अनेकों रंग-बिरंगे सुन्दर पत्थर सुशोभित हैं, कुछ समय शान्ति से बैठने ही हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। मन्द-मन्द जीवनदायिनी वायु के स्पर्श से जहाँ शरीर में नवशक्ति का संचार होता है, वहाँ मन में विचित्र ही लहरें हिलोरे लेने लगती हैं और क्षणमात्र में बड़े स्पष्ट स्वरूप में ईश्वर का उसकी लीलामय सृष्टि द्वारा, साक्षात् दर्शन होता है। चहुँ ओर के, परम प्रकाशित, हिमाच्छादित पर्वतों की ज्योति से ईश्वर की विभूति सरोवर के जल से प्रतिच्छाया के रूप में झलकती है। प्रत्येक लहर उस विश्व-रचयिता की महत्ता को विस्तृत रूप में प्रकट करती है। मानव-हृदय उसे स्वीकार किये बिना नहीं रहता। इधर बहुरंगे नन्हें-नन्हें पत्थर ईश्वर का गुणानुवाद पुनः-पुनः गायन करते हैं।"[2]

जी० डी० जोशी अपनी साइकिल से यात्रा करते हुए विभिन्न स्थानों को देखते जाते हैं। अपने इस भ्रमण में वे प्रातः और सन्ध्या-काल दोनों के दृश्य देखते चलते हैं। मिर्जापुर से निकट के भ्रमण में वे सन्ध्याकालीन दृश्य को किस मनोरंजक ढंग से देखते हैं, जिसमें दार्शनिकता का संस्पर्श पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता है, देखिए—

"सूर्य भगवान् अपनी दोपहर की उष्णता छोड़कर शान्ति से थके-माँदे बटोही की तरह पश्चिम की ओर जा रहे हैं। उनकी दोपहर की जवानी का रोष अब

---

१. विदेश की बात : कृपानाथ मिश्र, पृ० ३०
२. कैलाश पथ पर : रामशरण विद्यार्थी, पृ० ६०

सायंकाल के, बुढ़ापे में परिवर्तित हो गया है। वे शिथिल है उनकी किरणें अब संतप्त नहीं। किन्तु फिर भी प्रकाशवान् है।"[1]

दार्शनिक यात्राओं के अतिरिक्त हमें तीर्थ-यात्राओं के वर्णन भी प्राप्त होते हैं जिनका आँकलन हम यहाँ करने का प्रयत्न कर रहे है। ये उदाहरण बहुत-कुछ लेखक की दार्शनिक दृष्टि को प्रतिफलित करनेवाले है, अतएव इनको दार्शनिकता के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

कृष्णकुमार माण्डके जगन्नाथपुरी का दर्शन कर लिखते हैं :—

"मंदिर के चारों ओर ऊँचे-ऊँचे कोट होकर उनमें चार प्रवेश-द्वार हैं। किसी भी द्वार से प्रवेश करने पर दूसरा कोट आता ही है। उसमें फिर चार प्रवेश-द्वार हैं। हमने सिह-द्वार से मंदिर में प्रवेश किया। इसके बाद २०-२२ सिड्ढियाँ चढ़ जाने पर हम भीतरी कोट के प्रवेश-द्वार के पास पहुँचे, तदनन्तर मदिर के विस्तीर्ण पटांगण में पहुँचे। पटागण को रत्नवेदी कहते हैं। उसके मध्यभाग में विशाल नयनाभिराम गगनचुम्बी और आर्यों के कला-कौशल की यशोदुन्दभी बजानेवाला तथा भक्तों के सारे प्रयत्न को सफल कर देनेवाला मनोरम देवालय है।"[2] माण्डके ने इसमें वहाँ के देवालयों एवं सिहद्वारों का सुन्दर चित्र अंकित किया है। इसी प्रकार स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अपनी कैलाश तीर्थ-यात्रा का मनोरम वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"रास्ते में दोनों ओर जल-प्रपात देखे। कैलाश की चोटी मेरे दाहिने हाथ थी और बाएँ हाथ दूसरी पहाड़ियाँ, दोनों ओर से हिम ढल-ढलकर आ रही थी। आगे बढे सामने कैलाशजी के भव्य दर्शन हुए। क्या ही आलौकिक दृश्य था! यह अनुपम छटा! श्री कैलाशजी का पर्वत सचमुच ईश्वरीय विभूति का अनोखा चमत्कार है। मैंने मंदिर—शिवालय बहुत-से देखे हैं, पर ऐसा प्राकृतिक शिवालय इस भूमण्डल पर कहीं नहीं है। जिस कुशल शिल्पी ने प्रथम शिवालय की रचना-विधि का नक्शा तैयार किया होगा, उसके हृदय-पटल पर तिब्बत-स्थित इस नैसर्गिक शिवालय की प्रतिकृति अवश्य रही होगी, इसके बिना वह कदापि शिवालय बना नहीं सकता था।"[3] परिव्राजकजी का शिवालय-वर्णन बड़ा चमत्कारपूर्ण बन सका है।

अपनी मथुरा-यात्रा में वहाँ के सान्ध्यकालीन वातावरण का वर्णन करते हुए लक्ष्मीनारायण टंडनजी ने लिखा है—

"सायंकाल के समय विश्राम घाट की आरती के दर्शन किए। आरती के समय बड़ी भीड़ घाट पर होती है, और घाट की शोभा बहुत बढ़ जाती है। एक

---

१. साइकिल यात्रा : जी० डी० जोशी, पृ० ७३

२. जगन्नाथपुरी दर्शन—कृष्णकुमार माण्डके—चित्रमयजगत्—दिसम्बर, १९१८

३. मेरी कैलाश यात्रा—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ९७-९८

ऊँचे, पक्के, छोटे चबूतरे पर एक पंडा बहुत बड़ी आरती लेकर जमुनाजी की आरती करता है। दर्शक घाट या नाव पर से आरती करते हैं। गायों को भोजन कराते हैं। कछुओं को चने खिलाते हैं। यमुनाजी में दिए जलाकर या फूल के दौने बहाते हैं। स्थान-स्थान पर कथा होती है। लोग घाटों पर बैठे यमुनाजी का आनन्द लेते या उस पार जाकर घूमते हैं। मथुरा की शोभा यमुनाजी और उनके घाटों से है। मथुरा की ठीक शोभा देखनी हो तो प्रातःकाल और सायंकाल यमुना के पुल से देखें।"[1] टंडनजी ने इसमें घाट के सभी दृश्यों के साथ-साथ मथुरा की शोभा का भी मनोरम चित्र अंकित कर दिया है। चन्द्रकुँवर वर्तवाल ने अपनी केदारनाथ तीर्थ-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है—

"नील देवदार का जंगल जिसको चीरते हुए हाथी के दाँतों की तरह उजले-पतले झरने, वन पर फिरता हुआ हिमालय के उच्छ्वास-सा निर्मल झीना-झीना-सा कुहासा, कोमल-कोमल दूर्वा से सिक्त मार्ग और सारे बन में अकेली रोती हुई एक चिड़िया जिसकी वाणी सुनकर 'अपि ग्रावा रोदत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।' ऐसे सुन्दर पथ पर अपने प्राणों के प्राण को लेकर जाना कितना मधुर होगा! हमारे आगे-आगे कुछ स्वस्थ प्रभात की किरणों की तरह निर्मल और उज्ज्वल पर्वतीय बालाएँ नदियों की तरह उन्मुक्त गति से चल रही थी, उनके पैरों में नूपुर नहीं थे, लेकिन उनके चरणों के पृथ्वी पर पड़ते ही प्राणों से एक सुमधुर झंकार गूँज उठती थी, भू-विन्यास से अनभिज्ञ होने पर भी उनकी आँखों में मायाविनी शक्ति थी और विलासिनी होने पर भी उनके मुखों पर एक पवित्रता थी जैसी हिमालय के हिम-हास में होती है।"[2] वर्तवाल द्वारा किए गए केदारनाथ के चित्रण से एक बार पाठक का हृदय भी झंकृत हो उठता है।

गंगोत्री की यात्रा के मनोरम दृश्यों का वर्णन पं० श्रीराम शर्मा ने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। वे लिखते हैं—

"हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों की वायु शरीर से अठखेलियाँ खेलती थी। कई स्थानों पर बर्फ अब भी पड़ी थी और गल-गलकर नालो में गिर रही थी। यहाँ से गंगोत्री, केदार और बदरी के पहाड़ मेघमण्डल के आँचल से उलझकर अपना श्वेत मुख दिखा रहे थे। प्रकृति ने यहाँ गजब ही कर दिया। पग-पग पर घास के हजारों रंग थे।"[3] शर्माजी का प्रकृति-चित्रण अनोखा-सा बन पड़ा है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने अपनी हरिद्वार तीर्थ-यात्रा में गंगाजी की नहर का सुन्दर वर्णन करते हुए लिखा है—

"यहाँ सबसे आश्चर्य श्री गंगाजी की नहर है, पुल के ऊपर से तो नहर बहती है और नीचे से नदी बहती है। यह एक बड़े आश्चर्य का स्थान है। इसके देखने से

१. संयुक्त प्रान्त के तीर्थस्थान—लक्ष्मीनारायण टंडन, पृ० १२३
२. केदारनाथ की यात्रा—चन्द्रकुँवर वर्तवाल—तरुण, मई १९४३, पृ० १०७
३. गंगोत्री यात्रा-वर्णन—श्रीराम शर्मा—प्रभा, अगस्त १९२४

शिल्पविद्या का बल और अंग्रेजी का चातुर्य और द्रव्य का व्यय प्रकट होता है। न जाने वह पुल कितना दृढ़ बना है कि उसपर से अनवरत कई लाख मन वरन् करोड़ मन जल बहा करता है और तनिक नहीं हिलता। स्थल में जल कर रखा है और स्थानों में पुल के नीचे से नाव चलती हैं। यहाँ पुल के ऊपर नाव चलती है और उसके दोनों ओर गाड़ी जाने का मार्ग है और उसके परले सिरे पर चूने के सिंह बहुत ही बड़े बने हैं।"[1] श्री यशपाल जैनजी अपनी कैलाश तीर्थ-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"गुफा से निकलकर बाहर आए और थोड़ी देर रुककर गुफा को बाहर से देखने लगे। देखते-देखते हम लोगों की दृष्टि दूर, बहुत दूर बाईं ओर के एक पर्वत पर गई, जिसके ऊपर बर्फ-ही-बर्फ जमी थी और कई बादल के टुकड़े चक्कर लगा रहे थे। सूर्य की सुनहली किरणों के मेल से वह दृश्य इतना सुन्दर लग रहा था कि हम लोगों की निगाह बरबस वहाँ टिक गई। हमें बताया गया कि वह कैलास है। भारत के महानतम तीर्थों में कैलास की गिनती होती है और बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी कम ही लोग वहाँ पहुँच पाते हैं। उसके इतने भव्य रूप में दर्शन करके हृदय को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। हम लोग एक तीर्थ के दर्शन करने आए थे, दो के हो गए।"[2] जैनजी ने इस वर्णन मे प्रकृति का कितना मनोरम दृश्य अंकित किया है यह स्वतः सिद्ध है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि यात्रा-लेखकों ने अपने व्यक्तित्व के अनुसार समय-समय पर भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण को अपनी रचनाओं में प्रतिफलित किया है। उनकी दार्शनिकता किसी दर्शन शास्त्री की जीवात्म-व्याख्या नहीं है किन्तु भारतीय जीवन के साथ मूलबद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण ही उनकी कृतियों में झलकता है। जिस प्रकार भारत का साधारण मनुष्य वेदान्त-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों से परिचित होता है, उसी प्रकार हमारे लेखक भी उक्त दृष्टिकोण को पूर्णतया अपनाए हुए हैं। अन्तर इतना ही है कि हमारे रचनाकार विद्वान् तथा परिष्कृत रुचि के हैं। अतः उनका दृष्टिकोण स्पष्ट तथा सुलझा हुआ है। वास्तव में यह दार्शनिकता उनकी सामयिक मानसिक स्थिति को अभिव्यक्त करने में पूर्णतया सहायक होती है।

मनोरंजन-मूलक दृष्टि

जीवन की संघर्षमयी परिस्थितियों और अतिव्यस्तता के बीच मनुष्य को अपना मन हलका करने के लिए मनोरंजन अनिवार्य होता है। इस मनोरंजन के अनेक रूप होते है, यात्रा भी उन्हीं रूपों में से एक महत्वपूर्ण रूप है। यद्यपि यात्रा मात्र के बीच मनोरंजन का अंश विद्यमान रहता है तथापि कहीं-कहीं अन्य उद्देश्यों से की गई यात्राओं के अतिरिक्त केवल मनोरंजन मात्र के लिए यात्राएँ की जाती रही हैं। इन

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग ३), सम्पादक ब्रजरत्नदास, पृ० ६४०-४१
२. जय अमरनाथ—यशपाल जैन, पृ० ८३

यात्राओं में लेखकों की मनोरंजन वृत्ति, प्राकृतिक दृश्यों में तन्मयता, स्वच्छन्दता, अनिश्चिन्तता आदि के दर्शन होते हैं। लेखकगण यद्यपि मनोरंजन-यात्राओं पर निकले हैं, तथापि उनका कोई-न-कोई उद्देश्य तो रहा ही है। कहीं पुरातत्व-दर्शन, कहीं साहित्यिक यात्रा, कहीं तीर्थ-यात्रा और कहीं-कहीं केवल भ्रमणेच्छा की प्रेरणा से यात्राएँ की गई हैं। ये यात्राएँ भी पैदल से लेकर वायुयान तक की गई हैं। हम यहाँ इस प्रकार की यात्राओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे—

राजवल्लभ ओझाजी ने प्रकृति-वर्णन की प्रधानता से पूर्ण अपनी यात्रा के एक मनोरंजक दृश्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

"जब खिड़की से बाहर मेरी आँखें ऊपर या सामने उठतीं तो ऐसा प्रतीत होता, जैसे विमान के साथ हम बादलों की दुनियाँ में अब अन्तर्धान हो जानेवाले हैं। कभी-कभी ऐसा आभास होता है कि बादलों के टुकड़ों के दल तैरते हुए वैसे ही खूबसूरत प्रतीत होते जैसे जलाशय में राजहंस।"[1] साहित्यिक तथा पुरातत्व-सम्बन्धी यात्राओं से भी कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवालजी ने अपनी साहित्य-सदन की यात्रा में पुरातत्व का अवलोकन भी किया है, साथ ही साहित्यिक दृष्टि से यात्रा का महत्व भी वर्णित किया है। यथा—

"चिरगाँव का साहित्य-सदन मेरे-जैसे नई पीढ़ी के हिन्दी पाठकों के लिए एक तीर्थ है। स्कूल के शिक्षाभ्यास के समय जब काव्य से आनन्द ग्रहण करने का नया उन्मेष हो रहा था, मेरे साहित्यिक मानस को श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयद्रथ वध' और 'भारत-भारती' से रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त हुआ था। कालान्तर में परिस्थिति ने उस आकर्षण को एक गाढ़ा रूप दे डाला और मुझे गुप्तजी को अपने अति सन्निकट बन्धु और घनिष्ठ मित्र के रूप में प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। साहित्य-सदन को देखने की इच्छा बनी हुई थी। अक्तूबर १९४३ के अन्त में गुप्तजी के भतीजे श्री वैदेहीशरणजी के आमंत्रण पर कुछ शिलालेख देखने के लिए चिरगाँव की यात्रा का सुयोग मिला।"[2] इस प्रकार अग्रवालजी ने अपनी यात्रा के मनोरंजक दृश्यों को शिलालेखों द्वारा पूर्ण किया। भुमरा के प्रस्तर-खण्डों की मैदानी-यात्रा का मनोरंजक वर्णन करते हुए लक्ष्मीकान्त पाठक लिखते हैं—

"मनोहारिणी वन्य-छटा का आनन्द लेते हुए हम लोग मन्दिर के निकट पहुँचे। शिवजी के उस मन्दिर के ध्वंसावशेष को प्रकृति-परी ने अपने आँचल में शरण दे रक्खा है। सुन्दर आम्र हरीतिकी तथा आमलक वृक्ष अब भी उसकी अतीत गौरव-गाथा कह रहे हैं। इनकी मनोहारिणी छाया में विश्राम करके पुनः हम लोग पर्याप्त सामग्री के साथ अन्वेषण में संलग्न हुए। एक बाहर निकले हुए अर्धवृत्त के नीचे श्री शिवजी की अत्यन्त सुन्दर वक्षस्थल-पर्यन्त मूर्ति बनी हुई है। मूर्ति की

१. बदलते दृश्य—राजवल्लभ ओझा, पृ० २
२. साहित्य सदन की यात्रा—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—मधुकर, फरवरी १९४५

मुखाकृति कालचक्र की रगड़ से कुछ अस्पष्ट हो गई है, किन्तु ललाट के मध्य में प्रलयंकर तृतीय नेत्र स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है और तृतीया के चन्द्र सिर पर बँधे हुए जटाजूट के ऊपर दिखाई देते हैं। एक रत्नजटित मुकुट उनके मस्तक पर बँधा हुआ है, जिनके नीचे से जटाजूट बाहर से निकले हुए हैं। कुछ जटाएँ दोनों कन्धों पर भी पड़ी हुई हैं। शंकरजी मणिजटित कर्णफूल, मोतियों की कंठी तथा कंठहार पहने हुए है। इस मूर्ति को देखकर एकाएक मुझे—

शीतांशु शोभित किरीट विराजमानम्।
भाले क्षणानिल विशोभित पंचबाणम्॥
नागाधिपार चितमासुर कर्णपूरम।
वाराणसी पुरपति भज विश्वनाथम्॥

स्मरण हो आया।"[१] पाठकजी का यह पुरातत्व सम्बन्धी वर्णन बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। इसी प्रकार की पुरातत्व सम्बन्धी शिल्पकला की पद्धति का वर्णन बाबा साहब पंत ने अपनी दक्षिण भारत यात्रा में किया है। वे लिखते हैं—

"दक्षिण भारत में खासकर देखने योग्य स्थान वहाँ के देवालय हैं। दक्षिण के देवालय प्रायः ब्राह्मणी द्रविड़ शिल्पकला की पद्धति पर निर्माण हुए हैं और हिन्दू राजाओं द्वारा बनवाए हुए होने के कारण स्वभावतः उनमें की खुदाई आदि में रामायण एवं महाभारत के दृश्य अंकित किए गए है। विजयनगर में तो खास वहाँ के राजाओं की चाल-ढाल, रीति-रिवाज और अन्यान्य बातों के साथ उनके पहनाव और दरबारी प्रसंगों के चित्र भी देवालय की दीवारों पर बनाए हुए हैं। ब्राह्मण शिल्पकला में खासकर चिदम्बरं, तंजौर, मदुरा, श्रीरंगपट्टन और रामेश्वर तथा विजयनगर के देवालयो की ही गणना हो सकती है और फर्ग्यूसन के मतानुसार उन देवालयों की ही सुन्दरता यूरोप के हर एक देवालयों से बढ़कर है।"[२]

एक साहित्यिक मनोरंजन की यात्रा का दृश्य भी देखिए। अपनी दौलतपुर (रायबरेली) की साहित्यिक यात्रा का बहुत ही मनोरंजक वर्णन करते हुए पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है—

"धूप हलकी थी, कुछ बादल भी थे, रास्ते में सुरखाब, जल-कुक्कुट तथा बन-विहगों के गान और फूलों पर मुग्ध होते हुए हम लोग चले जा रहे थे कि एकाएक एक सँकरे रास्ते में अगली बैलगाड़ी का एक बैल छटककर बाहर हो गया, उसे एक लड़का हाँक रहा था। पिछली गाड़ी पर गुप्तजी आदि थे। उसका सारथी जब उसे ठीक करने के लिए अगली गाड़ी हाँकने लगा, तब हमारे राष्ट्रीय कवि पिछली गाड़ी के सारथी बन बैठे। उनकी पगड़ी, दाढ़ी, और मूछों पर धूल लोट रही थी।

१. भुमरा के प्रस्तर-खंडों में—लक्ष्मीकांत पाठक, सरस्वती—अक्टूबर, १९४२, पृ० २४५
२. हमारी दक्षिण भारत की यात्रा—बाबा साहब पंत—चित्रमयजगत, जून १९२०

उन्होंने एक हाथ में पगड़ी ली और दूसरे में अँगी। उस समय कैमरा न होने से सबके हृदय में एक कसक हुई। यदि गुप्तजी के उस चित्र को हम लोग अपने हृदय ही में न रखकर लोगों के सामने या रायसाहब अथवा केडियाजी के संग्रहालय में कहीं टाँगने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते, तो भारती कवि-पुंगव के उस दृश्य से न जाने कितने दिनों तक, समय-समय पर वह मोहक स्मृति जगती रहती।"[1] मिश्रजी का यह वर्णन बहुत विनोदपूर्ण सुन्दर और साहित्यिक है।

गिरीन्द्रनारायण सिंह ने अपनी पूसा-यात्रा का मुक्त मनोरंजनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है—

"गर्मी की छुट्टी हुई। घर आया। उस दिन बदली छायी हुई थी। संयोग से मेरे तीन सम्बन्धी भी हमारे घर आ गए थे। सुहावना समय और सुयोग, दोनों ने घूमने के लिए उत्साहित किया। पूसा हमारे पड़ोस में है ही। कुल तीन कोस की दूरी पर, फिर आज तक कभी वहाँ गए न थे। हमने उस पर ज़ोर दिया, औरों ने सम्मति दे दी। चार साइकिलों पर चढ़कर दिन के प्रायः दस बजे हम लोग पूसा के लिए चल पड़े। बड़ी मज़दार ट्रिप रही। कभी स्लो साइकिलिंग, तो कभी वन, टू, थ्री करके जोरों की साइकिल रेस करते हुए हम लोग एक ही घण्टे में पूसा पहुँच गए। घूमते-घूमते चार-पाँच घण्टे हो गए, अतएव चलने की तैयारी करनी ही पड़ी। लहलहाते हुए खेत और दूब से भरे मैदानों में चरती हुई विशालकाय गउओं के सुन्दर दृश्य, खेतों में चलते हुए लोहे के हल-बैल और सुन्दर-सुन्दर इमारतों की श्रेणीबद्ध कतारों से बिदा लेनी ही पड़ी।"[2] गिरीन्द्र नारायण जी ने पूसा-यात्रा में साइकिल रेस का मजेदार वर्णन दिया है। जी० डी० जोशी द्वारा की गई साइकिल यात्रा में जोशीजी ने अनेकों मैदानों का वर्णन किया है। जब वे लखनऊ के दृश्य देखते हैं तो कहते हैं—

"प्रकृति के उद्यानों की सैर के निमित्त मनुष्य अकेला होते हुए भी भ्रमण करके ज्ञानोपार्जन तथा आनन्द का अनुभव कर सकता है परन्तु मनुष्य-कृत स्थानों की सैर के निमित्त उसे पथ-प्रदर्शक की जरूरत पड़ती है। मानवीय कृति से दूर जंगलों में प्रकृति देवी की क्रीड़ा को देखकर अथवा समुद्र व पर्वतों के अवलोकन से प्रकृति की गहनता का जो ज्ञान होता है वह ऊँची-ऊँची इमारतें व विशाल राज-प्रासादों से नहीं हो सकता।"[3]

अपनी मधुवन यात्रा में पंडित विगू मिश्र उपनाम वेणीमाधव कवि ने वहाँ के मनोरंजक बनों को देखकर लिखा है—

अब मधुबन के चरित नाम अस्थान गनाये।
जहँ गोचारनकरी स्याम अति ही सुख पाये।।

---

१. दौलतपुर का यात्रा—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—सुधा, दिसम्बर १६३८, पृ० ४६४
२. हमारी पूसा यात्रा—गिरीन्द्रनारायण सिंह—माधुरी विशेषांक, अगस्त-सितम्बर १६२८
३. साईकिल यात्रा—जी० डी० जोशी, पृ० ४६

तहाँ अहै मधुकुण्ड कुण्ड पावन के तरते।
ता पच्छिम है कदम वृक्ष देखत मन हरते ॥
कवि माधव वाही वृक्ष तर कृष्ण बैठकी जानिये।
प्रभु तहँ मार्यो मधु दैत्य को ताको सुजस बखानिये ॥[1]

देहरादून यात्रा में लक्ष्मीनारायण टण्डन ने हरिद्वार स्टेशन एवं गंगाजी की हरि की पैड़ी के दृश्यों का बड़ा मनोरंजक वर्णन दिया है। यथा—

"सायंकाल और रात्रि के समय प्लेटफार्म, सम्पूर्ण घाट और हरि की पैड़ी का दृश्य देखने ही वाला होता है। हजारों की संख्या में लोग आते और अपनी-अपनी चटाइयाँ और दरियाँ बिछाकर प्लेटफार्म पर बैठ जाते हैं। उस समय गंगाजी की शोभा अपूर्व होती है। फूलों के दोनों में आरती रखकर या फुलझड़ियाँ लगाकर सहस्रों की संख्या में लोग गंगाजी में प्रवाहित करते हैं, वे कहते हुए अद्भुत सौन्दर्य का सृजन करते हैं। कलकलनादिनी भागीरथी अपने वक्षःस्थल पर श्रद्धालु भक्तों की भेंटों को लिए हुए आनन्दपूर्वक बहती रहती है।"[2] टण्डनजी का गंगा की शोभा के साथ ही दीपदान का दृश्य बड़ा ही मनोरंजक बना है। चक्रधर 'हंस' ने अपने बनारस और सारनाथ के भ्रमण में वहाँ के मनोरंजक दृश्यों का वर्णन करते हुए लिखा है—

"बनारस नगर के समीप गगा के ऊपर विशाल पुल है। यहाँ से बनारस का दृश्य बड़ा सुहावना प्रतीत होता है। यहाँ से नगर के गगनचुम्बी मन्दिरों के शिखरों और आकाशव्यापी विशाल घरों की अट्टालिकाएँ बिना विशेष प्रयत्न के दृष्टिगोचर होती हैं। गंगा के ऊपर चलनेवाली बड़ी-बड़ी और छोटी-छोटी नौकाएँ इस पुल से आँखों को अधिक प्रिय लगती हैं। ऊँचे-ऊँचे मन्दिरों के शिखरों की फहराती हुई पताकाएँ इतनी आकर्षक प्रतीत होती हैं कि दर्शकों के लोचन उनकी सुन्दरता का पानकर वहाँ से हटते ही नहीं, वहीं गड़ जाते हैं।"[3] इनमें 'हंस'जी ने गंगा के पुल से देखे गए बनारस नगर के दृश्य को अंकित किया है।

कूच-बिहार से सिलीगुड़ी के मैदानी यात्रा-मार्ग का आनन्ददायक एवं मनोरंजक दृश्य-वर्णन अज्ञेयजी ने किया है—

"चाय के बगानों की इस प्रदेश में भरमार है। ज्यों-ज्यों पथ पश्चिम को दार्जिलिंग पर्वत की ओर बढ़ता है, त्यों-त्यों चाय के नये छटे, बने-सँवरे पौधों के पीछे हिमालय की नई-नई हिमाच्छादित चोटियों का भव्यतर रूप सामने आता जाता है। उस दृश्य के अनिर्वचनीय सौन्दर्य को वही जान सकता है, जो बार-बार उसकी

१. ब्रजयात्रा—वेणीमाधव कवि कृत, पृ० ३
२. मेरी देहरादून यात्रा—लक्ष्मीनारायण टण्डन—सुधा, मई १९४१, पृ० ४२८
३. भारत के कुछ दर्शनीय स्थान—चक्रधर हंस, पृ० ४२

अलंकार-निरपेक्ष भव्यता का अकस्मात् थप्पड़-सा खाकर लड़खड़ाया हो और फिर सम्भला हो—और जिसने वैसे थप्पड़ नहीं खाए, वह उस कवि-हृदय में पैठकर उसके सत्य को अपना भी नहीं सकता जिसकी अनुभूति ने वाणी पाकर कहा होगा—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथ्वी द्यामुतो मा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[१]

अज्ञेयजी ने अपनी मोटर द्वारा की गई मैदानी-यात्रा का एक बहुत ही मनोरंजक दृश्य इस प्रकार वर्णित किया है—

"फौरन ही मंडी जानेवाली मोटर में बैठकर मैं 'देवताओं के अंचल' कुल्लू की ओर बढ़ चला। पालमपुर से आगे खेतों की हरियाली और आकाश की नीलिमा देखकर लाहौर का अवसाद धीरे-धीरे मिटने लगा था। जोगेन्द्रनगर से कुछ पहले चीड़ के वृक्ष देखकर तबीयत एकाएक फड़क उठी थी—पृथ्वी-माता के आकाश की ओर उठे हुए इन अभयद हाथों के तले रहने का सौभाग्य जिसने पाया है, वही जानता है कि चीड़ वृक्षों को देखकर ही हृदय में कैसे अनिर्वचनीय रस का संचार हो जाता है—लारी में बैठा, तब चित्त प्रसन्न था—यहाँ तक कि लारी जब सड़क के उतार-चढ़ाव के कारण डोलने लगी और कभी-कभी सड़क पर से बहकर जानेवाले पहाड़ी झरनों के पानी में छप-छप करके स्वयं उछलने और कीचड़ उछालने लगी, तब मैं उस यात्रा का वर्णन करने के लिए तुकबन्दी की कड़ी-पर-कड़ी जोड़ने लगा। लारी के प्रत्येक दचके के साथ एक कड़ी और जुड़ जाती, तब मैं पूरी तुकबन्दी दुहरा लेता कि याद हो जाय और पड़ाव पर पहुँचकर लिख सकूँ।"[२] अपनी रेल-यात्रा के मनोरंजक दृश्य में गोआ के लोहे की खान का वर्णन करते हुए मोहन राकेशजी ने लिखा है—

"काले से, जहाँ गोआ की लोहे की खाने हैं, हमारे डिब्बे में आठ-दस युवा जोड़े आ गए। वे बाहर से ही चहकते हुए आए थे और अन्दर आकर भी उसी तरह चीखते-चहकते रहे। क्रिसमस सप्ताह चल रहा था और नया साल आनेवाला था। उन्हें इस समय जीवन में किसी तरह का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं था। उन्होंने खिड़कियाँ बन्द करके डिब्बे में बीस-पच्चीस गुब्बारे छोड़े दिए और उनसे खेलने लगे। उनमें से अधिकांश ने—लड़कियों ने ही नहीं लड़कों ने भी बहुत-सा सोना पहन रखा था। उन्हें देखकर ऐसा लगता था जैसे वहाँ लोहे की खानों मे से लोहा नहीं, सोना निकलता है। गाड़ी के अन्दर रंग-बिरंगे गुब्बारे उड़ रहे थे और बाहर नारियलों के घने-घने झुंड निकलते जा रहे थे। जिधर मैं बैठा था, उधर नीचे एक घाटी चल रही थी, जिसमे घने नारियल उगे हुए थे। इन नारियलों के शिखर उस ऊँचाई तक आते थे जिस ऊँचाई पर गाड़ी चल रही थी, जिससे लगता था कि वे शिखर जमीन की सतह का ही एक भाग हैं। जहाँ घाटी कम गहरी होती, वहाँ शिखर जमीन

१. अरे यायावर रहेगा याद—अज्ञेय, पृ० २६
२. वही, पृ० १४०-४१

से ज़रा-ज़रा उठे हुए दिखाई देते और फिर ऊँची जमीन आ जाने पर वे शिखर आकाश में चले जाते। दोनों ओर से घने नारियलों से ढँकी हुई एक नहर निकल गई जिसमें एक नाव चल रही थी। इस तरह घने नारियलों की छाया में नाव की वह यात्रा गाड़ी से देखने पर बहुत रोमांटक लगी—जैसे चित्रपट पर वह सुन्दर दृश्य क्षणभर के लिए आया और हट गया। गाड़ी कितनी आगे निकल आई थी—परन्तु नाव अभी शायद गाड़ी के पुल तक भी नहीं पहुँची थी।"[१] लखनऊ की यात्रा का वर्णन भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी लिखते हैं—

"हुसैनाबाद के फाटक के बाहर एक षटकोण तालाब सुन्दर बना है और एक बारहदरी भी उसके ऊपर है और हुसैनाबाद के फाटक के भीतर एक नहर बनी है और बाईं ओर ताजगंज का-सा एक कमरा बना हुआ है। वह मकान जिसमें बादशाह गड़े हैं, देखने योग्य है। बड़े-बड़े कई सुन्दर झाड़ रक्खे हुए हैं और इस हुसैनाबाद के दीवारों में लोहे के गिलास लगाने के इतने अँकुड़े लगे हैं कि दीवार काली हो रही है। कैसरबाग भी देखने योग्य है। सुनहरे शिखर धूप में चमकते हैं। बीच में एक बारादरी रमणीक बनी है और चारों ओर अनेक सुन्दर-सुन्दर बँगले बने हैं। जिसका नाम लंका है उसमें कचहरी होती है। जहाँ मोती लुटते थे वहाँ धूल उड़ती है। यहाँ एक पीपल का पेड़ श्वेत रंग का देखने योग्य है।"[२] कलकत्ता के भ्रमण में चक्रधर हंसजी ने बिहार-प्रदेश का रेल-यात्रा द्वारा जो निरीक्षण किया है वह बहुत ही सुन्दर और मनोरंजक है। उस प्रदेश के दृश्यों को देखकर आपने लिखा है—

"बिहार प्रदेश का प्राकृतिक सौन्दर्य सराहनीय था। गाड़ी की लाइन के दोनों ओर भरे धान के खेत ऐसे प्रतीत होते थे, मानों प्रकृति देवी ने पृथ्वी के ऊपर सुन्दर हरित गलीचा बिछा दिया हो। इस सुरम्य हरियाली के अतिरिक्त मार्ग में कुछ दूर तक ऊँची-नीची पर्वतश्रेणियाँ अपने सुहावने नैसर्गिक सौन्दर्य से दर्शकों के नेत्रों को मुग्ध कर रही थीं। इस बिहारभूमि में प्रकृति की समस्त सुन्दरता देखने को मिलती है। कदाचित इसी निराली प्राकृत शोभा के प्रेम से प्लावित होकर प्रकृति-प्रेमी बुद्धदेव ने इस प्रान्त को अपना निवास-केन्द्र बनाया हो। प्रातःकाल की मन्द-मन्द चलती हुई शीतल हवा हमें अत्यन्त आनन्दित कर रही थी। प्रकृति की सौन्दर्य-सुधा का पान करते हुए हमने सोन नदी के पुल को पार किया।"[३] कलकत्ता के अजायबघर की यात्रा में 'हंस'जी ने वहाँ की चित्रकला से अपने भ्रमण का सारा आनन्द-सारा मनोरंजन कुछ ही समय में प्राप्त किया और वे अपने इन मनोरंजक आनन्द को अपने में न पचाकर लिख ही बैठे। वे वहाँ की चित्रकारी के मनोरंजक दृश्यों को देखकर लिखते हैं—

---

१. आखिरी चट्टान तक—मोहन राकेश, पृ० ३६-३७
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग ३, सम्पादक ब्रजरत्नदास, पृ० १४६-४७
३. कलकत्ते का भ्रमण—चक्रधर हंस, सरस्वती, जनवरी १९३२, पृ० १६

"चित्रों की चित्रकारी प्रशंसनीय है। ये चित्र, चित्र से नहीं लगते, किन्तु साक्षात् जीवित मूर्तियाँ प्रतीत होती हैं। इन चित्रों का समय निर्णय करना साधारण बात नहीं है, तो भी ये चित्र दस-बारह सदी पूर्व के पुराने अवश्य हैं। इस चित्रशाला में बहुत अधिक संख्या में ऐसे चित्र हैं जो श्लोकों के भाव के अनुसार बने हुए हैं, जैसे—

नीलाम्बुजश्यामल कोमलांगं सीता समारोपित वामभागम्।
पाणौ महासायक चारु चापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥[1]

मुनिकांत सागरजी अपनी 'नालन्दा यात्रा' में वहाँ की चित्रकारी पर ही विशेष बल देते हैं और उनसे ही अपनी यात्रा का मनोरंजन प्राप्त करते हैं। एक खेत के मनोरंजक दृश्य का वर्णन करते हुए वे चित्र के निकट तक आ जाते हैं और उसकी सुन्दर कला का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"आहार करके सोच रहा था कि कुछ लेटकर खण्डहर और खेतों में इतस्ततः बिखरे अवशेषों से भेंट कर उनकी मूक कहानी सुनूँ, तब तक सूर्य-ताप की प्रखरता भी कम हो जायगी। उन दिनों प्रकृति भी हमारा साथ दे रही थी। ठीक एक बजे आकाश में हल्के काले मेघ उमड आए। मैंने अपनी दुरबीन सम्हाली और कैमरा लेकर चल पडा। मेरे आवास से नालन्दा के खण्डहर लगे हुए ही थे। ज्योंही धर्मशाला के पिछले द्वार से निकला, मेरी दृष्टि खेत के एक अवशेष पर पडी। यह बौद्ध-तन्त्र से सम्बन्धित एक देवी की मूर्ति थी। कई हाथ विविध आयुधों से सुसज्जित थे। मुख पर जो भाव कलाकार ने व्यक्त किये थे, उनसे स्पष्ट पता लग रहा था कि देवी कितनी क्रूर रही होगी। मूर्ति का अंग-अंग विचित्र होते हुए भी आकर्षक था। वह विभिन्न आभूषणों से अलकृत थी। ये आभूषण ही सूचित कर रहे थे कि प्रतिमा निस्सन्देह पाल-कालीन थी, क्योंकि इस काल की अन्यत्र प्राप्त स्त्री-मूर्तियों में जिन आभूषणों की उपलब्धि होती है, वे यहाँ भी थे। नारी की मूर्ति, तान्त्रिक होते हुए भी मर्यादित थी। इस प्रतिमा को कुछ समय तक एकटक देखता रहा। मन में कई प्रकार की कल्पनाएँ उठती थी। ऐसा लग रहा था मानों कलाकार ने जड प्रस्तर पर कठोर छैनी से हृदय की सुकुमार भावनाओं को ही मूर्त नही किया, अपितु उस समय की एक ऐसी नारी को रच दिया जो तत्कालीन नारी का प्रतिनिधित्व करती है।"[2]

साधुचरणप्रसादजी ने नागपुर-भ्रमण में वहाँ का वर्णन करते हुए लिखा है—

"रेलवे स्टेशन से दो मील दूर नागपुर की दीवानी कचहरियाँ हैं। शहर के पडौस में महाराष्ट्र राजाओं का बनवाया हुआ अम्बाभीरी और तेलिंगखेरी उत्तम तालाब है। अम्बाभीरी से जल-कल द्वारा शहर और स्टेशन में पानी आता है। इसके अलावा नागपुर के आस-पास कई छोटे तालाब हैं। शहर और शहरतलियों में बहुत बाग अर्थात् उद्यान हैं, जिनमें से सीताबर्डी का महाराजबाग, शहर के भीतर

१. कलकत्ते का अजायबघर—चक्रधर हंस—सरस्वती, फरवरी १९३२, पृ० २२६
२. खोज की पगडंडियाँ—मुनिकान्ति सागर, पृ० १७४-७५

का तुलसीबाग, शहरतलियों में सकरदरा, पाल्डी, सोनगाँव और तेलिंगखेरी बाग प्रधान हैं; इनमें से महाराज बाग सब बागों से उत्तम है। इसमें स्थान-स्थान पर फूल और पत्तों की बेल के गमले सजे हैं। एक स्थान पर छोटे हौज में जीवित हाथी के समान पत्थर का बड़ा हाथी खड़ा है। उसके सूँड से कल का पानी सर्वदा गिरा करता है, जो हौज से नाली द्वारा निकलकर फूल की क्यारियों को सींचता है। इस बाग में एक छोटा चिड़ियाखाना (जन्तुशाला) है, जिसमें अनेक बाघ, भालू, बन्दर, हरिन, भेड़िया, नीलगाय और भाँति-भाँति के चिड़िये पाले जाते हैं।"[1]

अपनी दक्षिण भारत की यात्रा का वर्णन करते हुए पं० रामनरेश त्रिपाठीजी लिखते हैं—

"आज २६ वर्षों से मैं यात्रा कर रहा हूँ, मानों मैं यात्रा के ही लिए पृथ्वी पर आया हूँ। मेरे दाहिने हाथ की रेखाओं में भी यात्रा-ही-यात्रा लिखी है। बीस वर्ष की आयु में मेरी यात्रा प्रारम्भ हुई, पर समाप्त कब होगी, यह मैं नहीं जानता। सम्भवत: यात्रा को मैं एक जीवन से नाप नहीं सकूँगा। अपनी यह दक्षिण यात्रा मेरे लिए चिरस्मरणीय रहेगी। कुर्ग के प्राकृतिक सौन्दर्य की जो छटा मेरे नेत्रों तथा मस्तिष्क-पटल पर अंकित हो गई है, वह मेरे जीवन-पर्यन्त अदृश्य न होगी—

"प्रकृति महारानी का मंजुल महल कुर्ग है
पद्मा का सुख-शान्ति-सदन आनन्द दुर्ग है,
जैसा बाहर यहाँ प्रकृति का तन सुन्दर है,
उससे भी कुर्गीय जनों का मन सुन्दर है।
शिमला नैनीताल नीलगिरि और मसूरी
है इसके समक्ष सब की छविराशि अधूरी।
क्योंकि वहाँ पर कृत्रिमता क्षम से वक्षित है,
किन्तु यहाँ पर नैसर्गिक सौन्दर्य उचित है।
भारत में सर्वोच्च सुयश पद के अभिलाषी
हैं उद्यमी सुसभ्य, सच्चरित कुर्ग निवासी,
हे प्रभु! इनका भवन सभी विभवों से भर दो,
भारत का उद्धार इन्हीं के कर से कर दो।।[2]

पं० मंगलदेव शर्मा ने अपने जयपुर-भ्रमण में वहाँ की एक सुन्दर घाटी 'गलता' का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। इस घाटी की मनोरंजक यात्रा के विषय में वे लिखते हैं—

"गलता घाटी जयपुर का सबसे सुन्दर दर्शनीय स्थान है। जयपुर नगर से पूर्व की ओर तीन मील दूर गलता एक अत्यन्त मनोरम पहाड़ी घाटी है जहाँ पहाड़ में से एक स्वच्छ जलधारा नीचे बने हुए एक कुण्ड में गिरती है। प्रतिदिन प्रातःकाल

१. मेरी दक्षिण यात्रा—पं० रामनरेश त्रिपाठी—विशाल भारत, फरवरी १९३४
२. वही।

सैकड़ों स्त्री-पुरुष गलता स्नान करने जाते हैं। जिस कुण्ड में जलधारा गिरती है, उसमें कोमल पुरुष स्नान करते हैं। मार्ग में ही सूर्य भगवान का मंदिर है। जलधारा मंदिर से आगे एक सुन्दर घाटी में नीचे उतरकर आती है। बड़ा ही मनोरम दृश्य है और प्रातःकाल तो जब सूर्यदेव अपनी सुकोमल सुनहरी किरणों का प्रसार करते हुए घाटी के नीचे से दर्शन देते हैं तो समस्त पर्वत-प्रदेश, जलधारा और दोनों जल-कुण्ड स्वर्णाभ हो उठते हैं। ऊँचे-ऊँचे शिखरों पर नागफनी और विशाल प्रस्तर-खण्डों के बीच कलोलें करते हुए लंगूर बड़े भले दिखाई देते हैं।"[1] श्रीगणेश पाण्डेयजी ने अपने 'छतरपुर भ्रमण' में वहाँ की प्रकृति पर ही विशेष दृष्टि रखी है। वे वहाँ का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"सारा राज्य जंगलों और विंध्य-पर्वत की श्रेणियों से घिरा हुआ है। उपजाऊ तथा खेती योग्य जमीन का बहुत अभाव है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य इतना मनमोहक एवं आकर्षक है कि वह यात्रियों को चकित कर देता है। पहाड़ियों की चोटियाँ कहीं भी अधिक ऊँची नहीं हैं। ये पेड़ों और पौधों से आच्छादित रहती हैं। किसी ऊँची चोटी पर चढ़कर दूर तक दृष्टि डालने पर वृक्षों और वनस्पतियों की हरियाली बहुत सुन्दर जान पड़ती है। उधर से निगाह हटाने को जी नहीं चाहता। वर्षा ऋतु में तो यह दृश्य और भी मनोरम हो जाता होगा, इसमें सन्देह नहीं।"[2] अपने मेवाड़-दर्शन में केदारनाथ चटर्जी ने वहाँ के भ्रमण में दृष्टिगोचर होनेवाले प्राकृतिक दृश्यों, सवारियों और अनुभवों को भी अंकित किया है। उदयपुर की प्राकृतिक छटा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"उदयपुर की यह सौन्दर्य-छटा कल्पना के भी बाहर है। कलकत्ता की तरह वहाँ ट्राम, बस आदि का सुभीता न था, रहने का भी आराम न था, परन्तु फिर भी धूसर पर्वतों से परिवेष्ठित—हरी-भरी उपत्यका के गले में स्वच्छ नील ह्रदों की माला, उनके तट के तोरणों, गुमटियों और छतरियों से सुशोभित संगमरमर के विशाल प्रासाद और वक्षःस्थल पर रत्नों की तरह उज्ज्वल जग-विलास आदि मंदिर, प्रतिक्षण में धूप और छाया के परिवर्तन में उनका नवीन रूप—इन सब दृश्यों को देखते ही समस्त कष्ट सार्थक मालूम होते हैं। दिल्ली के दीवानए-खास की तरह उदयपुर के लिए भी कहा जा सकता है—

अगर फिरदौस बर रूए जमीनस्त।
हमीनस्त-ओ हमीनस्त-ओ हमीनस्त॥

अर्थात्—

अगर दुनियाँ में है जन्नत कहीं पर।
यहीं पर है, यहीं पर है, यहीं पर॥[3]

---

१. जयपूर—पं० मंगलदेव शर्मा—चांद, जून १९३४
२. मेरी छतरपुर यात्रा—श्रीगणेश पाण्डेय—विशाल भारत—दिसम्बर, १९३१
३. मेवाड़-दर्शन—केदारनाथ चटर्जी—विशाल भारत, अगस्त, १९३०

पं० श्रीराम शर्माजी ने पं० पद्मसिंह शर्मा के गाँव की ओर की हुई अपनी लाहौर की यात्रा में वहाँ के भ्रमण का बहुत ही सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रातःकालीन दृश्य का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सूर्योदय हो चुका था। प्रातःकाल के कुहासे में छिपी, नजर से ओझल दून घाटी घूँघट काढ़े, सिमटी-सिकुड़ी खड़ी थी। जैसे ही सूर्य-ताप बढ़ा और लारी सहारनपुर-चकरौता सड़क पर घड़घड़ाई कि दून घाटी और शिवालिक के अंचल दृष्टिगोचर हो गए। सहारनपुर से टिमली केवल ३५ मील है और दून घाटी में प्रवेश करते ही मनोहर दृश्य सामने आता है। पेट की अंतड़ियों की भाँति पहाड़ी सड़क टेढ़ी-मेढ़ी कहीं बल खाती हुई और कहीं समतल चकरौता की ओर बढ़ती है।"[१] शर्माजी की शिकारी वृत्ति ने अपनी प्रतिभा की बन्दूक दाग कर सड़क की अंतड़ियाँ प्रकृति की पेट से निकाल ली हैं। अपने काश्मीर-भ्रमण में ईश्वरचन्द्र शर्मा ने वहाँ के काश्मीरियों की शोभा का बड़ा ही सुन्दर वर्णन लिखा है—

"ऐश्वर्य के उस प्रभातकाल में काश्मीरियों की प्रतिभा खूब चमकती थी। उनके शरीर पर चाँदी से धवल कोमल ऊनी वस्त्र शोभा देते थे, और उनके मुँह से शास्त्र-चर्चा की वासन्ती शोभा नए-नए रूप में प्रगट होती थी। एक ओर उनके निर्मल घर सूर्य के प्रकाश में हँसते रहते थे, दूसरी ओर चाँदी और सोने की मूर्त्तियाँ कान्ति-प्रवाह में मंदिरों को तैरता हुआ प्रकाशित करती थीं। एक ललितादित्य ने ही ऐसे हजारों मंदिरों की प्रतिष्ठा कराई थी। इसके अतिरिक्त भी न जाने कितने नृपतियों और धन-कुबेरों ने देव-मंदिरों के निर्माण में अपरिमित धन व्यय किया था। कल्हण ने लिखा है, काश्मीर का तिलभर भी भाग तीर्थों से रहित नहीं है—

चक्रभृद्विज येशादिकेश वेशानभूषिते।
तिलांशोऽपि न यत्रास्ति पृथग्यास्तीर्थं बहिष्कृतः॥"[२]

श्री नर्मदा प्रसाद खरे ने अपनी 'भेड़ाघाट की गोद' नामक लेख में अपनी यात्रा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वहाँ के सुहावने कक्ष का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"प्रकृति के इस सुहावने कक्ष में पहुँचते ही हमें प्रकृति माता के अनन्त वैभव का कुछ दिग्दर्शन होता है, हमारी आँखें खुलती हैं और हमें विदित होता है कि प्रकृति का कोश इस प्रकार के अगणित स्थान रत्नों से भरा हुआ है। सुजला-सुफला शस्य-श्यामला भारत-भूमि धन्य है जहाँ ऐसे अनूठे स्थानों का प्रादुर्भाव हुआ है कि जिन्हें देखकर रोता हुआ मनुष्य भी हँस पड़े।

विदेशी यात्री यहाँ की अनोखी छटा देखकर भारत में डाह करने लगते हैं। एक अंग्रेज ने लिखा है—

---

१. लाहौर की यात्रा—पं० श्रीराम शर्मा—सुधा, जनवरी, १९३४, पृ० १४६

२. काश्मीर में एक मास—ईश्वरचन्द्र शर्मा; चाँद, मई १९३०, पृ० ३३

"वह कौन मनुष्य होगा जो मेड़ाघाट के श्वेत शैल-शृंगों के दर्शन कर अपने जीवन में उसकी प्रतिभा भूल जाय ?"...आँखें यहाँ थकती नहीं। शरद् काल की चन्द्र-ज्योत्सनामयी रजनी थी। इसकी रम्यता और भव्यता और भी निखर पड़ी थी। प्रपात का कल-कल निनाद वशीकरण का काम कर रहा था। काली चट्टानों के मध्य में नर्मदा का शुभ्र सलिल ऐसा दृष्टिगोचर होता था जैसे काले घुँघराले केशों के बीच किसी तरुणी का चन्द्रानन। कलकल ध्वनिमय प्रकृति-संगीत विरही की वीणा के-से गान सुना रहा था।"[1] प्राकृतिक मनोरंजक वातावरण में खरे महोदय की तन्मयता उक्त उद्धरण से बहुत कुछ स्पष्ट होती है।

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय अपनी पेकिंग-यात्रा में देखे गए पर्वतों के प्राकृतिक एवं मनोरंजक दृश्यों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि वहाँ की हरियाली देखने ही योग्य है जो बरबस ही मानव के मन को आकृष्ट कर लेती है। उनके कथनानुसार—

"उन्चासों हवाएँ अस्तब्ध हैं, बादलों के समूह दूर नीचे विचरते हुए दीख रहे हैं। कुछ सरसर उड़ रहे हैं, कुछ धवल गायों की तरह जैसे नीचे की हरियाली देख मचल पड़ते हैं और उनको भेद जब कभी नजर उस हरियाली तक पहुँच पाती है, जो जमीन पर बिछी हुई है; जो पहाड़ों की चोटियों तक मढ़ी हुई-सी चढ़ती चली गई है, तो अहसास होता है कि प्रकृति के जादूगर ने मोटे, गुदगुदे कालीन बिछा दिए हैं। और जहाँ-तहाँ तो हरे खेतों का ऐसा प्रसार है कि लाल हरी रौनक खड़ी हो गई है, जैसे बीर-बहूटियों के अनन्त मैदान रच गए हों। और देखता चला जाता हूँ प्रकृति की अनुपम छवि जहाज के इस दाहिने झरोखे से। पहाड़ और जंगल, खेत और मैदान, नदी और झील नीचे बिखरे पड़े हैं। फैले मैदानों में हरी घास और ऊँचे पौधों के बीच पानी की धारा चाँदी-सी चमक रही है। लगता है प्रकृति नहा-धोकर बाल बिखेरे चमकती माँग काढ़े पड़ी है। उसकी अभिराम साड़ी दूर तक फैली पहाड़ों और जंगलों पर अपने अंचल का साया डालती चली गई है।"[2] स्विटज़रलैण्ड की यात्रा का वर्णन करते हुए सेठ गोविन्ददास ने वहाँ के मनोरंजक दृश्यों की तुलना काश्मीर के दृश्यों से की है और लिखा है—

"काश्मीर की तरह स्विटजरलैण्ड भी भूलोक का स्वर्ग है। काव्यमय प्रवृत्ति के लोगों ने उसकी तुलना मृग-मरीचिका से की है। ऊँची-ऊँची पर्वतश्रेणियों के हिमाच्छादित शिखर, मुस्कराती, खिलखिलाती झीलें, पुष्पों और हरियाली से लहलहाते चरागाह, घने छायादार जंगल और नये-पुराने गाँव व शहर सचमुच ही स्विटजरलैण्ड को इतना सुन्दर और आकर्षक बना देते हैं कि वह एक मृग-मरीचिका बनकर पर्यटक की स्मृति में सदा ही उलझा रहता है।"[3] डॉ० धनीराम ने स्विटज़रलैण्ड की यात्रा में वहाँ के मनोरंजक दृश्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

---

१. मेड़ाघाट की गोद में—नर्मदाप्रसाद खरे—सरस्वती, सितम्बर १९३२, पृ० ३२३
२. कलकत्ते से पेकिंग—डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० १४५
३. पृथ्वी-परिक्रमा—सेठ गोविन्ददास, पृ० ९०

"ग्लेशियर का दृश्य भी बड़ा अद्भुत है। दिन में जब सूर्य की किरणें इस पर पड़ती हैं, तो यह चाँदी का चमकता हुआ पर्वत प्रतीत होता है। संध्या को ऐसा मालूम होता था, मानो कोई बड़ा राक्षस सफेद चद्दर ओढ़े पर्वत की चोटी पर बैठा है। कभी-कभी ग्लेशियर का कुछ भाग एकाएक बड़ा शब्द करते हुए नीचे फिसल पड़ता है और अनेक प्राणियों को दबाकर मार डालता है।"[1] अपनी वायुयान की यात्रा में सत्यदेवजी ने लिखा है—

"आखिर एक बजकर पाँच मिनट पर हमारे पक्षी महाशय ने पंख मारकर उड़ना शुरू किया। पहले धीरे-धीरे जैसे कोई ढलान पर चढ़ता है, उड़ान प्रारम्भ हुई। घास का वृहत् मैदान इसीलिए है ताकि पक्षी खूब सुचित होकर उड़ सके। उड़ान पहले आहिस्ते-आहिस्ते हुई। आठसौ फीट ऊपर पहुँचकर पक्षी वेग के साथ रास्ता काटने लगा। मैं खिड़की के शीशे द्वारा नीचे के दृश्य देख रहा था। उड़न-खटोला कभी सातसौ फीट पर हो जाता, कभी फिर ऊपर आ जाता। नीचे गाँव-के-गाँव, खेतों-के-खेत तथा कस्बे गुजर रहे थे। सड़कें साँपों की तरह बल खाती हुई सफेद सूत की तरह जान पड़ती थीं। बड़े-बड़े जंगल, मीलों लम्बे, ऊपर से कितने छोटे दिखलाई पड़ते थे।"[2] इसी प्रकार यशपालजी ने सूर्यास्त होने के समय का मनोरंजक दृश्य अंकित किया है—

"सूर्य लगभग क्षितिज पर पहुँचकर छिपा ही चाहता था कि विमान ने चाल पकड़नी आरम्भ की। कुछ ही मिनट में हम भारत की पृथ्वी पीछे छोड़ अरब सागर पर उड़ने लगे। सूर्य उत्तर-पश्चिम मे अस्त हो रहा था और हमारा विमान भी अपनी पूरी शक्ति स उसी ओर उड़ा जा रहा था। सूर्य भारत से जितना ही दूर जाता विमान पश्चिम की ओर बढ़ उसे झाँकने का यत्न कर रहा था। दक्षिण की ओर अंधेरा हो चुका था परन्तु उत्तर की ओर लाल प्रकाश बना था और बहुत देर तक बना ही रहा। विमान रुठकर छिपने के लिए पश्चिम की ओर भागती संध्या का पीछा कर रहा था।"[3] रामशरण विद्यार्थी ने 'काश्मीर के पथ पर' यात्रा मे एक मनोरंजक वर्णन करते हुए लिखा है—

देखते-देखते नील वर्ण आकाश धवल रूप में परिणत हो गया और बड़े ही शांत भाव से हिम-वर्षा होने लगी। सारी भूमि पर श्वेत हिम की चादर-सी बिछ गई। हरी-भरी घाटी श्वेत वस्त्र धारण कर सर्व प्रकार श्वेत-ही-श्वेत दृष्टिगत होने लगी। सारे मैदान के झाड़ और पौधे हिममय दीख पड़ने लगे। भेड़, बकरी, गाय आदि सब ही इस श्वेत बर्फ के वस्त्रों से आच्छादित हो गईं। थोड़ी देर में तनिक प्रकाश-सा प्रकट हुआ और हम सबने अनुभव किया कि अब हिम-वर्षा समाप्त

१. मेरा यूरोप भ्रमण—डा० धनीराम—चाँद, मई १९३२, पृ० ८६
२. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ९३-९४
३. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० १५

हो गई। हृदय में नवस्फूर्ति और शरीर में रुधिर की तीव्रगति-सी होने लगी। मन मग्न हो आनन्द से उछलने लगा। इसी नवशक्ति से संचारित शरीर और हृदय के साथ हम लोग अपने डेरों से बाहर आए। बाहर का दृश्य देख चंचल मन मचल पड़ा और बालकों के समान क्रीड़ा करने को मन मचलने लगा। हम सब लोग उतावले तथा बावले-से इस विशाल बर्फ की चादर पर दौड़ने का प्रयत्न करने लगे।"[1] मनोरंजन की दृष्टि से की गई पर्वत की पैदल यात्रा का वर्णन करते हुए परिव्राजकजी ने लिखा है—

"आनन्द में मस्त जा रहा था। जहाँ प्यास लगती, झरनों का ठण्डा स्वच्छ जल पी लेता। पर्वतेश्वर हिमालय के सुरम्य दृश्यों को देख-देख मन मुदित हो रहा था। देवदारु उन्नत मुख किए सुमधुर स्वर से सर-सर नाद कर मेरे चित्त को आह्लादित करते थे। जंगलों की अनोखी छटा का मज़ा लेता हुआ आगे बढ़ा। सड़क कहीं-कहीं घने वृक्षों से आच्छादित है, पादपों की शाखाएँ एक-दूसरे के गले में बाँह डाले प्रेमपाश मे बँधी है। कहीं-कहीं पत्तों पर से वर्षा के बिन्दु टप-टप गिर रहे थे।"[2] अपनी पर्वतीय यात्रा में मनोरंजन एवं भ्रमण के आनन्द को वर्णित करते हुए देवदत्त शास्त्री 'विरक्त' ने लिखा है—

"सुमरोल पार करते ही देवदारु की मंजरियों की सुगंध चारों तरफ फैल जाने से भृंग-वृन्दों का मधुर गुंजन श्रवण-सुख उत्पन्न करने लगता है। वृक्षों के सुन्दर नवीन कोमल पत्ते फूटकर चारु-चामर की भांति झूम-झूमकर काश्मीरगामी अतिथियों का स्वागत कर रहे थे। पार्श्व भाग के नीचे ही, कलकलनिनादिनी द्रुतगति से बहती हुई गंभीर नदियाँ, कलघोष करती हुई सैकड़ों फीट ऊँचाई तक अपने मुक्तासम निर्मल नीर को उछालकर प्रवासी काश्मीर यात्रियों का मार्जन कर रही थी। शाखा-प्रशाखाओं पर बैठे हुए पक्षीगण मधुर कलरव से मंजुल गान कर रहे थे। चारों दिशाओं मे उत्तुंग पहाड़ियाँ यात्रियों को घेरे हुए उनकी अभिभावक बन रही थीं। पद्मपराग नूतन किसलय की सुरभि तथा निर्झरणी के जलप्रपात, क्लान्त और परिश्रान्त यात्रियों को आह्लादित कर रहे थे। वनश्री का दृश्य कल्पना के सम्मुख आते ही मैं उसे पद्माकर की कवित्त कसौटी में मन-ही-मन इस प्रकार कसने लगा—

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलिन-कलिन किलकंत है।
कहै 'पद्माकर' परागन में पौन हू में,
पानन में पिक में पलासन पलंग हैं।
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में,
देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है।

१. कैलाश पथ पर—रामशरण विद्यार्थी, पृ० ८४-८५
२. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १२७

बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरो बसंत है।"[1]

अपने जीवन में कुछ भ्रमण का आनन्द एवं यात्रा का मनोरंजन करने के लिए तिब्बत की यात्रा में गया हुआ लेखक कैलास पर्वत के दर्शन कर लिख उठता है—

"यहाँ से आगे उत्तर की ओर दूर कैलाश शिखर देख पड़ा। अहा ! प्रकृति के वैचित्र्य की कोई सीमा नहीं। यही प्रकृति-निर्मित शिवाला है। प्रायः बनारसी शिवालों का आदर्श यही शिखर है। कालिदास की प्रतिभा का यही सौभाग्य है—

"गत्वा चोर्ध्वं दश-मुख भुजोच्छ्वा सित प्रस्थ-सन्धेः,
कैलासस्य त्रिदश-वनिता-दर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृंगोच्छ्रायैः कुमुद-विशदैर यो वतत्य स्थितं खं,
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः॥
(५८, पूर्वमेघ)

अर्थात् ऊपर उठकर उस कैलाश के अतिथि होना जिसकी पठारियों की जोड़ें दशानन की भुजाओं द्वारा ढीली कर दी गई है, जो देव-बन्धुओं के अर्थ सीसे का काम कर रहा है, जो कुमुदनी की भाँति शुभ्र ऊँचे शिखरों को आकाश में फैलाकर इस प्रकार खड़ा है मानों प्रत्येक दिवस का इकट्ठा हुआ शंकरजी का ठहाके का हास्य है।"[2] अपनी सोलन की पहाड़ी यात्रा एवं वहाँ के मनोरंजक रमणीय दृश्यों को देखकर वनारायण टंडनजी लिखते हैं—

"पटियाला महाराज का बाग भी देखा जो सचमुच स्वर्गीय कानन के समान रमणीय और शोभायमान था। उस बाग ने तो काश्मीर के शालीमार और निशात की याद दिला दी, जिसमें सुरभिमय स्मृति वर्षों से कारु के खजाने की तरह संचित थी। चारों ओर फव्वारे उड़ रहे थे, फूल फूल रहे थे, कलियाँ चटख रही थीं, पक्षी मधुर-मधुर तानों से प्रभाती गान कर रहे थे, पेड़ और पौधे खूब हरे-भरे और घने थे। बाग की बारहदरी बेरौनक, निष्प्राण-सी पड़ी थी; क्योंकि महाराजा दूर-सुदूर चाइल के ठंडे पार्वत्य प्रदेश में रंगरेलियाँ मना रहे थे।"[3] अपनी कैलाश-यात्रा में स्वामी सत्यदेवजी को भी बड़े मनोरंजक दृश्य दिखाई देते हैं। यात्रा करते हुए जाने का वर्णन वे लिखते हैं :—

"सरयू के किनारे-किनारे प्रकृति माता के दृश्यों का आनन्द लेता हुआ मैं चला। कपकोट से तीन मील तक सरयू घाटी का दृश्य बड़ा ही मनोहर है। सरस वन पहाड़ियों पर गाय-बकरी चर रहे थे। किनारे-किनारे जहाँ घाटी चौड़ी हो गई है, भूमि मखमली घास से लदी हुई बड़ी सुहावनी दीख पड़ती है। दोनों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ सरयूजी की शोभा बढ़ाती हैं। नदी का पाट चौड़ा है, पर जल

१. मेरी काश्मीर यात्रा—देवदत्त शास्त्री 'विरक्त' पृ० ३७
२. तिब्बत में २३ दिन—कृष्णवंश सिंह बाघेल, पृ० ६०-६१
३. सोलन के पहाड़ों में—शिवनारायण टंडन—वीणा, फरवरी १९३८, पृ० ३१०

कम है, क्योंकि अभी वर्षा आरम्भ नहीं हुई थी।"[1] अपनी काश्मीर यात्रा में वहाँ के मनोरंजक दृश्यों को देखकर 'विरक्तजी' की लेखनी थिरक उठती है—

"काश्मीर के सदृश ही सुहावने प्राकृतिक दृश्य, कवि-प्रतिभा और सौष्ठव को निखार देते हैं। सरस रसों की सुधा-धारा यदि मंजुल काव्य-सरोवर में बहाना हो तो काश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करें, जहाँ बारह मास बसन्तश्री का साम्राज्य रहता है। विशद कल्पना के कुंज काश्मीर में, सहृदय कवि के लिए कमी किस बात की। उपमा, पद-लालित्य और अर्थ-गौरव आदि विशिष्ट गुण सहज ही आ जाते हैं। लेखनी जबरदस्ती सौन्दर्य लिखने के लिए उत्सुक होकर थिरकने लगती है।"[2] काश्मीर और सीमा प्रान्त में कृष्णवंशसिंह बाघेल ने वहाँ का प्रभातकालीन मनोरंजक सौन्दर्यवाला दृश्य अंकित किया है—

"प्रभातकालीन दृश्य स्वर्णमय था। पहलगाँव के चारों ओर के हिमाच्छादित शिखर भगवान् भुवन-भास्कर की किरणों से सुनहला वेष धारण कर रहे थे। पत्थरों को बहाती, तीव्रगामिनी 'लम्ब्रोदरी' नदी के दर्पणवत् स्वच्छ सलिल पर सूर्य-रश्मियाँ खेल रही थीं। वही प्रखर कर्म के सूर्य यहाँ कोमल किरणों से काम ले रहे थे। वह धूल और दुर्गन्धि आदि से रहित पवित्र पवन, वह हरे-भरे वृक्ष, सम्पूर्ण संसार सुनहली रश्मियों से चमाचम हो रहा था।"[3] काश्मीर के पर्वतीय दृश्यों से आनन्द, मनोरंजन का एक साथ ही प्राप्त होना नेवटियाजी ने किस प्रकार वर्णित किया है—

"बादलों से आच्छादित पर्वतों की एक अर्द्धगोलाकार श्रेणी, थोड़े-से वृक्ष और एक-दो जीर्ण-शीर्ण दीवालें जिनका रंग और वह शाही शान काल के गाल में विलीन हो चुके थे। उन हरे-भरे वृक्षों में कितनी कोमलता थी, झील को वेष्टित करनेवाली उन पहाड़ियों की बाह्य रेखाओं में कितना सौन्दर्य था, उन बादलों और स्फटिकोज्ज्वल जल में कितनी चमक थी, इन सारे दृश्यों को पूर्ण करने के लिए लाला रुख के सदियों पुराने बगीचे की भग्नप्राय दीवालें वह कारुणीक आभा प्रदान कर रही थीं जिसमे प्रकृति का वह सौंदर्य सजीव और मन को एक प्रकार का उत्साह प्रदान करने में समर्थ हो गया था।"...इसी मानसबल ने जिसमें हमें कोई विशेष आकर्षण मालूम नहीं होता था, श्री यंगहसबैंड को ये पंक्तियाँ लिखने के लिए प्रेरित किया था—

"The Manasbal Lake set like a jewel deep and clear among the mountains, with clumps and avenues of these some red and purple foliaged trees upon its edge, and reflecting in its surface the white snowy range of the distant Pir Panjal, seemed like the supreme gem of all Kashmir."[4]

१. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १९.
२. मेरी काश्मीर यात्रा—देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० १२६
३. काश्मीर और सीमा प्रान्त—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० १४
४. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ४५

हिमालय के पर्वतीय दृश्यो से श्रीधर पाठकजी इतना अधिक प्रभावित हुए कि मनोरंजन के साथ-ही-साथ वे हिमालय पर कविता भी लिखने लगे—

"रूरे-रूरे गाम अधिक अन्तर सों सोहत ।
रूपवती, पर्बती, सती, जुवती मन मोहत ।।
अगनित पर्वत-खंड चहूँ दिसि देति दिखाई ।
सिर परसत आकाश, चरन पाताल छुआई ।।
सोहत सुन्दर खेत-पाँति तर ऊपर छाई ।
मानहु विधि पट हरित स्वर्ग-सोपान बिछाई ।।
गहरे-गहरे गर्त खडु दीरघ गहराई ।
शब्द करत ही घोर प्रतिध्वनि देत सुनाई ।।
तहाँ निपट निश्शंक वन्य-पशु सुख सों बिचरत ।
करत केलि कल्लोल मुदित आनन्दित विहरत ।।
कहुँ ईंधन को ढेर सिद्ध-आवास जनावत ।
कहुँ समाधि-स्थित जोसी की गुहा सुहावत ।।
विविध विलच्छन दृस्य, सृष्टि-सु्‌या-सुख-मंडल ।
नन्दन-बन अनुरूप भूमि अभिनय रगस्थल ।।
प्रकृति परम चातुर्य अनुपम अचरज आलय ।
श्रीधर दृग छकि रहत, 'अटल छवि' निरख हिमालय ।।"[1]

सूर्यनारायण व्यासजी तो मसूरी शैल की सैर अपनी तबियत को राहत देने के लिए—मनोरजन करने के लिए ही गए थे । उन्होने वहा के मनोरंजक दृश्यो को देखकर लिखा है—

"जिस दिन कुहरा न हो, आसमान स्वच्छ निरभ्र हो, उस दिन की शोभा रात के समय देखते ही बनती है, मानो सारे आकाश मे नक्षत्रगण प्रकाशित हो रहे है । बिजलियो की कतारें इतनी सुन्दर, इतनी आकर्षक मालूम होती है कि घण्टो देखते रहने को जी चाहता है । जितनी ही ऊँचाई पर आप होगे, आपके स्थान से पर्वतमालिका, विद्युल्लता-परिवेष्ठित दीप्तिमान् मालूम देगी । पर यह शोभा प्रायः कुहरे से टिकने नही पाती । बादल की रिमझिम, इतस्तत. क्रीडा बनी ही रहती है । निकट से भागते हुए एक-दूसरे से होड लगाते हुए ये निर्जीव धूम्र पटल ऐसे उडते जाते है कि वाह ! जरा ही रस-फुहियाँ बरस गई कि फिर कुहरा छाने लगते है ।"[2]
छुट्टी के दिनो को बिताने एवं मनोरजन की दृष्टि से की गई अलमोड़ा की सैर का वर्णन करते हुए श्री चक्रचर 'हस' लिखते हैं—

"यहाँ काले-काले पत्थर नजर आते हैं । विशाल बर्फ की चट्टानो के पीछे एक

१. हिमालय—श्रीधर पाठक—विशाल भारत, मई, १९३४, पृ० [illegible]
२. मसूरी शैल की सैर—पं सूर्यनारायण व्यास, सुधा, जुलाई १९३६, पृ० ५४३

चार मील लम्बा सफेद ढालू मैदान नजर आता है। यही मैदान पिण्डारी ग्लेशियर है और पिण्डारी नदी का उद्गम स्थान भी है। इस ओर कस्तूरी मृग, चकोर आदि पक्षी और रीछ दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ बैठने के लिए बर्फ की शिलाएँ हैं। प्रकृति-सौन्दर्य विशेष आकर्षक है। यहीं से वापस अल्मोड़ा लौटना पड़ता है। जीवन-पर्यन्त पिण्डारी ग्लेशियर की नैसर्गिक छटा नहीं भूल सकती।[१] हंसजी का पिण्डारी ग्लेशियर वर्णन सुन्दर बन सका है। इसी प्रकार की मनोरंजक यात्रा का वर्णन करते हुए प्रो० मनोरंजन ने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"बाहर सुन्दर चाँदनी खिली हुई थी। उसके प्रकाश में पास के पहाड़ों पर जमी बर्फ चमचमा रही थी। उधर अलकनन्दा बह रही थी अपनी अनवरत गति से। सामने छोटी-छोटी पहाड़ियाँ थीं और दूसरी ओर बड़े-बड़े दिग्गज से पहाड़।"[२] चाँदनी के प्रकाश में श्वेत हिम की छटा का वर्णन प्रो० मनोरंजन की यात्रा को और भी मनोरंजक बना देता है।

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि मनोरंजन-वृत्ति को लेकर की गई यात्राओं में एक हल्कापन, मन का उल्लास, क्रीड़ा-वृत्ति आदि भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। उन्हें पूर्णतया निरुद्देश्य तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु उनका उद्देश्य बहुत कुछ गौण हो जाता है। इस प्रकार के वर्णन साहित्यिक दृष्टि से शुद्ध साहित्य की श्रेणी में रखे जा सकते है।

वर्णन-शैली का बाह्य रूप

शैली से हमारा तात्पर्य लेखक के भाव प्रकट करने के ढंग से है। शैली साहित्य के बाह्य रूप को अलकृत करने के अतिरिक्त उसके भागवत रूप को भी विकसित करती है। भावों के पोषक उपादान के रूप में यह रस-संचार करने में भी सहायक होती है। भाव-सौन्दर्य की सार्थकता शैलीगत सौन्दर्य पर भी निर्भर है। सुन्दर शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य विकसित नहीं हो पाता है। प्रत्येक लेखक को अन्तर्तम भावनाओं और व्यक्तित्व के अनुसार शैली का अपना विशिष्ट महत्त्व निर्मित होता है। पाश्चात्य साहित्य में शैली के बाह्य रूप का उल्लेख साधारणतया तीन अर्थों में होता है। मरे[3] ने 'दि प्राबलम आफ स्टाइल' में इन तीनों अर्थों पर विस्तार से विचार किया है। हम यहाँ उसके मुख्य शीर्षकों को ही ले रहे हैं—

---

१. भारत के कुछ दर्शनीय स्थान—चक्रधर हंस, पृ० ४१

२. उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो. मनोरंजन, पृ० १७३

३. The problem of style—

(i) The person idiosyucrasy of expression by which we recognise a writer.

(ii) The technique of expression.

(iii) Style is the lightest achievements of literature.

(J. M. Murry, Page 8)

१. अभिव्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताएँ (जिनसे किसी लेखक-विशेष को सरलता से पहचाना जा सके

२. अभिव्यंजना के विधान

३. साहित्य की उच्चतम निधि

श्रेष्ठ वर्णन-शैली में उपर्युक्त तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य के साहित्यिक मूल्यांकन में हमें वर्णन-शैली का बाह्य रूप विभिन्न रूपों में मिलता है। आगे इन रूपों का हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

वर्णन-शैली के बाह्य रूप

१. पद्य-शैली

२. वर्णनात्मक निबन्ध-शैली

३. पत्र-शैली

४. डायरी-शैली

१. पद्य-शैली—हिन्दी का यात्रा-साहित्य पद्य-रूप में हमें बहुत कम मिलता है। जो साहित्य हमें इस रूप में मिलता भी है वह अधिकतर प्राचीन ढंग का ही है। नवीन काव्य-शैली में इस प्रकार का साहित्य नहीं के बराबर है। इस प्रकार के नवीन साहित्य की आज के युग में कोई भी प्रणाली नहीं है। फिर भी हमें पद्य-रूप में दो प्रकार का यात्रा-साहित्य प्राप्त होता है—

१. पद्यात्मक

२. गद्य-पद्य-युक्त, वर्णनात्मक निबन्धों के साथ

उपर्युक्त दोनों रूपों का हम अलग-अलग मूल्यांकन करेंगे।

१. पद्यात्मक शैली—हिन्दी काव्य में यात्रा-परम्परा महाभारत, रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। यह यात्राएँ पद्यात्मक शैली में ही विरचित हैं। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में पृथ्वीराज तथा जयचन्द आदि की अनेक युद्ध-यात्राओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार जायसी के पद्मावत में 'सिंहल द्वीप यात्रा' मिलती है। यही परम्परा कहीं-कहीं रीतिकाल में भी उपलब्ध हुई है और वहाँ से होती हुई आधुनिक काल में आई जिस पर विशेष रूप से काव्य लिखे गए। इस प्रकार पूर्ण पद्यात्मक शैली में लिखा गया यात्रा-साहित्य हिन्दी में अधिक अवश्य नहीं है, फिर भी थोड़ा-बहुत मिलता है। इस प्रकार के प्राप्त साहित्य को देखकर हम कह सकते हैं कि इस युग में ऐसे साहित्य के प्रस्तुतकर्ताओं में पं० श्रीधर पाठक, हरिहरशरण मिश्र, वेणीमाधवजी का नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त प्रमुख लेखकों में से प० श्रीधर पाठक के काव्य में हमें सबसे अधिक प्रबन्ध-सौष्ठव दिखाई पड़ता है। इनका मार्मिक स्थलों का चयन और शब्द-मनोरंजन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। अपनी देहरादून यात्रा का वर्णन उन्होंने बड़े ही मधुर तथा हृदयग्राही शब्दो में किया है—

पहुँचेउ सहर बहिरवा तुरतहि धाय
सुन्दर सदर देहरवा जहाँ रह्यो छाय
सोभा सुघर सरसवा अस दरसाय
प्रफुलित पुलक हरसवा हिय न समाय
बड़ि-बड़ि सड़क सुरहवा दरस रसाल
सरसत सुथर चौरहवा चारु बिसाल
बंगलन बिसद अहतवा सुघर सजाव
बिलसत मंजु महतवा रुचिर बनाव
जित-जित जात सुदृगवा चंचल ढीठ
तित-तित परत सुरगवा सोभा ढीठ
बरनन करन लेखनिया लखि बउरात
बिलमत बहुरि पेखनिया बलि बलि जात
लता कुंज द्रुम पथवा सुलख सुढंग
सुमन जाति तरु जुथवा सुघर सुरंग ॥[1]

पाठकजी के बरवा छन्द में पूर्वीय शब्दों का प्राधान्य है, यही उसकी परम्परा भी है। प्रवाह, सन्तुलन एवं कल्पना इस काव्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। इस श्रेणी के अन्य कवियों में ऐसी भावुकता तथा प्रबन्धात्मकता नहीं प्राप्त होती है। प्रबन्ध-सौष्ठव के सारे गुण इनमें हमें मिलते हैं।

काव्य-रूप में वर्णित यात्राओं के कवियों में प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति अधिक प्रेम है। अनेक कवियों ने प्रकृति के विभिन्न पक्षों पर बड़ी रोचक कविताएँ की हैं। प्रकृति इस समय की कविता का प्रधान वर्ण्य-विषय है। श्रीधर पाठक ऐसे ही कवि हैं जिनकी यात्रा की मधुर स्मृति प्रकृति-प्रेम में लिपटी हुई है। हिमालय की अप्रतिम शोभा पर वे मुग्ध हैं। इनमें प्रकृति के प्रति सच्चा प्रेम है और ये तन्मय होकर प्राकृतिक शोभा का अपूर्व वर्णन करते है। काश्मीर और देहरादून की यात्रा का इन्होंने बड़ा रमणीय वर्णन किया है। पाठकजी के लिए इस प्रदेश का एक-एक अणु शोभा से मंडित है। काश्मीर कवि के लिए देवताओं का निवास-स्थान है, स्वर्ग है—

"धन्य यहाँ की धूल धन्य नीरद नभ तारे।
धन्य धवल हिम-शृंग तुंग दुर्गम दृग प्यारे॥
धन्य सुथर गिरिचरन सरित निर्झर-रव-पूरित।
लघु दीरघ तरु विहंग बोल कोकिल कल कूजित॥
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुर कानन सुन्दर।
यही अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर॥[2]

---

१. देहरादून—पं० श्रीधर पाठक, पृ० १४-१५, पद्मकोट, इलाहाबाद, १९१५
(लेखक को यह पुस्तक पं० श्रीधर पाठक के पौत्र श्री पद्मधर पाठक से प्राप्त हो सकी थी।)

२. काश्मीर-सुषमा—श्रीधर पाठक, पृ० १

कवि के लिए काश्मीर प्रकृति देवी का शृंगार-गृह है, यहाँ पर प्रकृति अपना रूप सँवारती है—

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति ।
पल-पल पलटति भेष छनिक छवि छिन-छिन धारति ।।
बिहरत विविध बिलास भरी जोबन के मद सनि ।
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बन ठनि ।।[1]

काश्मीर यात्रा के इस संवेदनात्मक चित्रण के विपरीत पाठकजी का 'देहरादून' चित्रात्मक वर्णन का निदर्शन है । इसमें कवि ने प्रकृति का चित्र ज्यों-का-त्यों सामने रख दिया है । देहरादून के निकट के जंगलों का चित्रण निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है—

अगम घोर घन बनवा जंगल जार,
गहवर गर्त कठिनवा कुवट कुढ़ार ।
भिरत जहाँ तरवरवा बिरवा बाँस,
भरत बतास अधिकता दीरघ साँस
तिम दुर्गम दलदलवा नरवा नार,
सुठि जलपात सुथलवा विषम कगार ।।[2]

निम्नलिखित पंक्तियों में पहाड़ की तरेटी से मसूरी का वर्णन बड़ा रोचक बन पड़ा है—

तहँ मन सहर मसुरिया भवन दिखात,
जदपि बसत बहु दुरिया नियर जनात ।
सिखर-श्रेनि वन बिचवा सो सित मात,
चित सुदूर उचनिचवा निपट सुहात ।
तहँ जब घुँअर बदरवा पट लपटात,
सुन्दर झीन चदरवा सम दरसात ।
छिन बरसात दरसवा छिन दुरि जात,
छिन-छिन जुरत बदरवा छिन छितरात ।
पुनि जब स्याम सघनवाँ घन घुमड़ात,
गिरि बन सिखर भवनवाँ सबहि दुरात ।[3]

कवि को प्राकृतिक वस्तुओं से सच्चा प्रेम है । इसी कारण कवि अपने देहरादून के बँगले में लगे हुए फूलों को नहीं भूल सका है । कवि उस चिड़िया को भीं नहीं भूल सका जो आम की डाल पर बैठकर चहचहाती थी—

१. काश्मीर-सुषमा—श्रीधर पाठक, पृ० ५
२. देहरादून—पं० श्रीधर पाठक, पृ० २२
३. वहीं, पृ० २४

रह्यो नीक निज डेरवा बृहत अहात,
विविध फूल-फल पेड़वा ललित लखात।
खिल रहि कुसुम कि अँरियाँ बिछरहिं दूब,
घमलन भवन दुअरिया सजि रहिं खूब।
चमकत विहग चपलवा रंग-बिरंग,
क्रीड़त करत कलोलवा बहु-बहु रंग।

× ×

तिन महँ एक खगबरवा अतिहि मलूक,
बैठि सुचित तरवरवा करत हो कूक।
सोइ मम भवन अहतवा आमन डार,
ह्वैथित नित अविरतवा करत गुहार।
तिहि सुर सुनत दुमरवा ऊतर देत,
फिर-फिर बोल मधुरवा उरहरि लेत।
सो सुर अंजत पियरवा बिसरत नाहिं,
गुंजत मंजु हियरवा कुंजन माहि ॥१॥[1]

पाठकजी ने 'देहरादून-शिमला यात्रा' मे भी यथेष्ट मात्रा में प्रकृति का चित्रण किया है। कवि को प्रकृति के प्रति सहज प्रेम और आकर्षण है। देहरादून में एक नदी की कछार का प्रकृति-चित्रण करते हुए पाठकजी लिखते हैं—

तहँ संग कौन इसनवा निजल निनार
परेउ सरित रिसयनवा केरि कछार
छुट बड़ सुथर पथरवा विविध प्रकार
गोल तिकौन चकरवा चारु अकार
कोसन सरित गरमवा अमित प्रमान
बिछि रहे अरब खरबवा रतन समान
सो सुठि सैल चरनवा साजत साज
सेत असेत बरनवा उपल समाज
बिच-बिच रेत बजरिया सेत सुहात
निरखत निपुन नजरिया रुकि-रुकि जात।[2]

कवि ने नदी के कछार में पड़े हुए विभिन्न प्रकार के पत्थरों का कैसा सुन्दर चित्रण किया है। वे पत्थर मानों रत्न के समान है। बीच-बीच में नदी की रेत ऐसी चमक उठती है कि नज़र उस पर रुक-रुक जाती है। कवि ने इस प्रकृति-चित्रण में मनोवेगों को उद्दीप्त कर दिया है; पर वह उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के फेर में अधिक नहीं पड़ा है। समस्त प्रकृति निश्चल है।

---

१. देहरादून—पं० श्रीधर पाठक, पृ० २७

२. वही, पृष्ठ २३-२४

हिमालय की प्राकृतिक दृश्यावली की सुन्दरता को देखकर पं० श्रीधर पाठकजी लिखते हैं—

दूरे-दूरे गाम अधिक अन्तर सों सोहत
रूपवती, पर्वती, सती, जुवती मन मोहत
अगनित पर्वत-खंड चहूँ दिसि देत दिखाई
सिर परसत आकाश चरन पाताल छुआई
सोहत सुन्दर खेत पाँति तर ऊपर छाई
मानहु विधि पर हरित स्वर्ग-सोपान बिछाई
गहरे-गहरे गर्त खड्ड दीरघ गहराई
शब्द करत ही घोर प्रतिध्वनि देत सुनाई
तहाँ निपट निश्शंक, वन्य-पशु सुख सों विचरत
करति केलि कल्लोल, मुदित आनन्दित विरहत
कहुँ ईंधन को ढेर सिद्ध आवास जनावत
विविध विलच्छन हस्य सृष्टि सुखमा सुखमंडल
नन्दन वन अनुरूप भूमि अभिनय रंगस्थल
प्रकृति परम चातुर्य अनूपम अचरज आलय
श्रीधर दृग छकि रहत, अटल छवि निरख हिमालय ॥[1]

रोला छन्द में लिखा हुआ उपर्युक्त वर्णन नन्ददास की शैली का स्मरण दिला देता है। आगे चलकर कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा रत्नाकर ने भी प्रबन्ध-रचना के लिए इस शैली को अपनाया। खड़ी बोली कविता में मधुर शब्द-संचयन की पटुता उक्त उद्धरण में स्पष्ट है।

लोचनप्रसाद पाण्डे के 'धुआँधार' में भी चित्रात्मक वर्णन मिलता है। धुआँधार जल-प्रपात की शोभा अंकित करनेवाली कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

रव झर्झर सुखकर सुभव धारा दुग्ध समान।
प्रखर प्रताप प्रवाहयुत नीर पतन उत्थान ॥
नीर पतन उत्थान शैल सुषमा से शोभित।
उत्थित धूमाकार जहाँ है जलकण अगणित ॥
करते रविकर इन्द्रधनुषमय जिसका अवयव।
धुआँधार का दृश्य नर्मदा तांडव भैरव ॥[2]

श्री हरिहरशरण मिश्र प्राचीन परिपाटी से चली आई कृष्ण की मथुरा-यात्रा का मधुर भाषा में अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। छप्पय छन्द में आलंकारिक भाषा-शैली में कवि ने मार्मिक वर्णन किया है—

१. हिमालय—पं० श्रीधर पाठक—विशाल भारत, मई १९३४, पृ० ६०८
२. धुआँधार—लोचनप्रसाद पाण्डे, सरस्वती, खंड १०, सं० ५, १९१८

प्रेम नेम यह अटल कोउ प्रतिदिन न जानहिं,
जदपि हीय में बास, तऊ नैनन नहिं राख्यौ,
तातें मोहित सबै गोपि तुम यह अभिलाख्यो ॥
यों बहुविधि सखिन सुझाइ हरि बिदा भए उततैं तुरत,
तजि सुभ्र कातिकी निसा ज्यों अस्ताचल में रवि दुरत ॥[१]

विगू मिश्र उपनाम वेणीमाधव कवि ने ब्रजभाषा में ब्रज-यात्रा का वर्णन लिखा है, जो ब्रजभाषा के माधुर्य से अनूठा है। इसमें प्रबन्ध-सौष्ठव अधिक नहीं है, पर दृश्य-चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। देखिए—

अब मधुवन के चरित नाम अस्थान गनाये।
जहँ गोचारन करी स्याम अति ही सुख पाये ॥
तहाँ अहै मधुकुंड भुंड पापिन के तरते।
ता पच्छिम है कदम वृक्ष देखत मन हरते ॥
कवि माधव वाही वृक्ष तर कृष्ण बैठकी जानिये।
प्रभु तहँ मार्यो मधु दैत्य को ताको सुजस बखानिये ॥[२]

जीवन-दृष्टि की भाँति प्रत्येक कवि की प्रकृति विषयक चेतना भी उसकी अपनी ही होती है। प्रकृति का भिन्न-भिन्न रूपों में सिंहावलोकन और चित्रण करने के लिए प्रत्येक कवि स्वतन्त्र होता है। यात्रा-सम्बन्धी काव्य का अध्ययन करने पर विदित होता है कि एक ही काल मे एक ही वर्ग के कवियों का प्रकृति के प्रति भिन्न दृष्टिकोण रहा है। प्रकृति का निरीक्षण करके कवि उसके सूक्ष्मतम तत्त्वों के प्रति आकर्षित होता। है प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का पृथक् परिगणन न कराकर वह सबको एकत्रित करके सश्लिष्ट वर्णन भी करता है। उसका मन प्रकृति-दर्शन मे रम जाता है, वह आत्म-विभोर हो उठता है और अपनी तल्लीनता में हृदय की मुक्तावस्था को प्राप्त होता है। उसके प्रकृति-दर्शन की यह विशेषता होती है कि वह पाठक को उसके प्रत्यक्ष दर्शन का-सा आनन्द देता है।

लाला कल्याणचन्द्र ने अपनी केदार-यात्रा का वर्णन करते हुए जैकरी छन्द में लिखा है—

आगे धारी चट्टी सोय। सिरोबगड़ चट्टी पुनि जोय ॥
आगे रुद्रप्रयाग सुहावन। मंदाकिनी दरस अति पावन।
मिली अलकनन्दा मन्दाकिनि। बड़े भाग अस्नान कियो जिनि ॥
जहँ नारद को विद्या गान। कियो उपदेश शंभु भगवान ॥
करि असनान पूजि शिव आदर। मंदाकिनी कूल चलि सादर ॥
लसि तरंगिनी गंगा आई। संगम रवि प्रयाग कहि गाई ॥

१. कृष्ण की मथुरा-यात्रा—हरिहरशरण मिश्र, माधुरी, अगस्त-सितम्बर १९२८, पृ० १८३
२. ब्रजयात्रा—पं० विगू मिश्र, पृ० ३, बिहार बन्धु, बाकीपुर, १८९४

करि मज्जन चलि आगे जैये। मुनि अगस्ति के दरसन पैये ॥
आगे चन्द्रपुरी है पावन। जहँ लछिमीनारायण भावन ॥[1]

इन कवियों ने प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरण नहीं किया, यही कारण है ये प्रकृति में मानव-हृदय का-सा स्पन्दन नहीं पा सके। इन्होंने अपने परिभ्रमण में प्रकृति-वर्णन के स्थान में अधिकतर वर्णनात्मक रूप को ही प्रमुखता दी। उस समय इन यात्रा-वर्णनों को लोग स्वान्तः सुखाय ही लिखते थे परन्तु उनमें प्रकृति को उद्दीपन रूप में वर्णन करने की प्रवृत्ति अधिक सहज न थी। उस समय उन्हें प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में अनेक भावों को भरने का आकर्षण न था वरन् वे अधिकतर ऐसे काव्य लिखते थे जिससे यात्रा का पथ-प्रदर्शन हो सके। रचना-कौशल और प्रतिभा का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता था तभी तो ऐसे उदाहरण दृष्टव्य हैं जिनसे केवल सूचना-भर ही मिलती है; पर हैं वे छन्दों में बद्ध। छन्दों में बद्ध करके यात्रा का सारा वृत्तान्त लिखा गया था। चौपाई में बदरीनाथ यात्रा के एक दृश्य का वर्णन करते हुए कल्याणचन्द्रजी लिखते हैं—

अब सुनु मंदिर भीतर सो हैं। नर नारायण प्रतिमा दो हैं ॥
बदरीनारायण के बायें। अरु समीप नारद बैठाये ॥
दाहिनि दिसि ऊधो कुबेर हैं। यहि विधि मूरति सबने रहें ॥
करि दरसन पुनि बाहर आये। श्री लक्ष्मी के दरसन पाये ॥
करि पूजन बहु विनय सुनाई। परिकरमा कीजै मनलाई ॥
चरणामृत दे सीस नवाये। फिरि श्री गरुड़ के दरसन पाये ॥
करि मंदिर परिकरमा फेरी। दरसन लहो पुरी के हेरी ॥[2]

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने काश्मीर और दक्षिण भारत की यात्रा करके हिन्दी के काव्य-साहित्य को समृद्ध किया है। त्रिपाठीजी ने अपने खण्ड-काव्यों में प्रकृति के नाना दृश्यों का कल्पना से पूर्ण रोचक वर्णन किया है। 'पथिक और स्वप्न' अपने प्राकृतिक चित्रों के लिए विख्यात हैं। पथिक में दक्षिण भारत तथा रामेश्वर के सागर-तट का वर्णन है और स्वप्न में काश्मीर की सुषमा अंकित की गई है। खंड-काव्यों की कथा भ्रमण में देखे गए प्रकृति के बीच चलती है। कवि ने संवेदनात्मक और चित्रात्मक दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। स्वप्न के प्राकृतिक दृश्य जिसमें काश्मीर यात्रा की सुषमा अंकित है, बड़े रोचक एवं सजीव हैं। वेगवती पर्वतीय सरिता के चित्र को देखिए :—

पर्वत-शिखरों का हिम गलकर जल बनकर नालों में आकर।
छोटे-बड़े चीकने अगणित शिला-समूहों से टकराकर ॥

---

१. बदरी-केदार यात्रा—ला० कल्याणचन्द्र, पृ० ५-६, सन् १८५६ ई० में लिखित एवं सन् १८६० ई० में ब्रजभूषणलाल गुप्त, कानपुर, द्वारा प्रकाशित।

२. बदरी-केदार यात्रा—लाला कल्याणचन्द्र, पृ० १४

गिरता-उठता फेन बहाता करता अति कोलाहल हर-हर ॥
वीर-वाहिनी की गति से वह बहता रहता है निसवासर ॥[1]

निम्न पंक्तियों में काश्मीर के चिनार वृक्षों की सायंकालीन शोभा चित्रित हुई है—

इस विशाल तरुवर चिनार की अति शीतल छाया सुखदायक ।
चरण चूमने को आतुर-सी पहुँची है गिरि की काया तक ॥
हिम शृंगों को छोड़ रही हैं दिनकर की किरणें क्षण-क्षण पर ।
तिरती हैं वे घन-नौका पर नभ-सागर में विविध रूप धर ॥[2]

सागर-तट की यात्रा के बाद लिखी गई निम्न पंक्तियों में सागर की उमड़ती लहरों का वर्णन है—

रेणु स्वर्ण कण सदृश देखकर तट पर ललचाती हैं ।
बड़ी दूर से चलकर लहरें मौज भरी आती हैं ॥
चूम-चूम निज देश चरण यह नाच-नाच गाती हैं ।
यह शोभा यह हर्ष कहाँ आँखें जग में पाती हैं ॥[3]

'पर्वत-स्मृति' में प्रो० मनोरंजन बदरीनाथ धाम के आसपास के दृश्य का चित्रण करते हैं—

गिरि सरिता का यह अल्हड़पन, खेल चपल लहरों का ।
चीड़ विपिन की सुरभि लिए सुन्दर समीर का झोंका ॥
पयस्विनी के सुन्दर तट पर ये लहराते धान ।
बटोही फिर वह मीठी तान ।
सन्ध्या की वह म्लान माधुरी शीतल सुन्दर छाया ।
अंधकार की चादर ओढ़े ऊँचे गिरि की काया ॥
धीरे-धीरे हाय गए सारे स्वप्न समान ।
बटोही फिर वह मीठी तान ॥[4]

इसमे चित्रात्मक वर्णन के साथ-साथ संवेदनात्मक प्रणाली का भी उपयोग हुआ है । इसमें प्रकृति-वर्णन के साथ प्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म तथा आवश्यक संकेत भी मिलते हैं। संवेदनात्मक वर्णन में कवि की भावना प्रकृति के रूपों को अपने रँग में रंग देती है और भावावेश में कवि की प्रकृति के रूप में अपनी प्रतिकृति दिखाई पड़ती है। यही प्रकृति रीतिकाल में कवियों के लिए अनुराग का विषय न होकर नायक और नायिका के अनेक भावों को उद्दीप्त करने का साधन मात्र थी। इसी कारण इस काल के कवियों ने प्रकृति-वर्णन में अधिकांशतः वियोग में बारहमासा और संयोग में षट्ऋतु का उल्लेख किया है। हिन्दी यात्रा-साहित्य के प्राप्त काव्य में प्रकृति को

१. स्वप्न—पंडित रामनरेश त्रिपाठी, पृ० २६
२. वही
३. पथिक—पं० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १५
४. गुनगुन—प्रो० मनोरंजन, पृ० ५३

उद्दीपन रूप में नहीं किया गया है। प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप करके कहीं-कहीं उसका मानवीकरण भी किया गया है। अधिकतर कवियों ने व्यवहारिक भाषा का प्रयोग किया है। पंडित श्रीधर पाठकजी ने अपनी शिमला-देहरादून यात्रा का वर्णन 'बरवा' छन्द में ही लिपिबद्ध किया है, क्योंकि यह छन्द उन्हें बहुत प्रिय था। इस बरवा में पूर्वीय प्रयोगों का प्राधान्य है और वा प्रत्यय का अप्रतिरुद्ध व्यवहार किया गया है। यह विशेषकर पाद-पूर्ति वा विनोद-वृद्धि की दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है। 'वा' के प्रयोग के कुछ उदाहरण विनोदार्थ दिए जाते हैं—असबबवा, सहिबवा, रिसपनवा, बहिरवा, देहरवा आदि।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी यात्रा-साहित्य की वर्णन-शैली के वाह्य रूप में पाया जानेवाला काव्य-साहित्य प्रबन्ध-सौष्ठव, कलात्मकता, प्रकृति चित्रण, वस्तु-वर्णन, दृश्य-चित्रण, कल्पनात्मकता, आलंकारिकता एवं भाषा-शैली और छन्द की दृष्टि से पूर्ण साहित्यिक है।

गद्य-पद्ययुक्त शैली—हिन्दी यात्रा-साहित्य में इस प्रकार की रचनाएँ भी बहुत अधिक नहीं हैं। इस प्रकार का यात्रा-साहित्य केवल वे ही लेखक दे सकते हैं जो कवि भी हों और घुमक्कड़ भी अर्थात् कवि और घुमक्कड़ साथ-साथ। इस प्रकार के साहित्य-लेखकों में प्रमुख रूप से प्रो० मनोरंजन, पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार एवं ग्रामीणजी हैं।

गद्य-पद्य-मिश्रित साहित्य लिखने की परम्परा नवीन नहीं है। संस्कृत-साहित्य में इसका रूप चम्पू-काव्य में मिलता है। इस प्रकार की रचना-शैली में प्रबन्ध-सौष्ठव का पुट भले ही हमें मिल जाय परन्तु उसकी सारी विशेषताएँ कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती हैं। इस प्रकार की साहित्यिक यात्राओं में स्थल-चयन एवं प्रवाह भले ही हमें प्राप्त होता है, पर ऐसी कविताओं का साहित्यिक मूल्यांकन करने पर उनमें प्रबन्ध-पटुता, आलंकारिकता, दार्शनिकता आदि गुणों की कमी रहती है। इतना अवश्य है कि यात्रा-वर्णन को नीरसता से बचाने के लिए ऐसा गद्य-पद्य-मिश्रित साहित्य बहुत ही सुन्दर प्रमाणित होता है। एक विशेषता और है कि इन कविताओं के छन्दों में मात्राओं अथवा वर्णों का संख्या और उनका दीर्घ लघु क्रम भी उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि प्रसंगानुकूल आया हुआ अन्त्यानुप्रासक्रम।

उपर्युक्त लेखकों में से प्रो० मनोरंजन की प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में हमें काव्य-सौष्ठव के गुण प्राप्त होते हैं। एक दिन दुपहरिया के समय गंगा के एक सुहावने दृश्य को देखकर अपनी यात्रा के मार्ग में एक स्थान पर विश्राम लेता हुआ कवि लिखता है :—

पत्थर पर उछल-उछलकर, चट्टानों से टकराती।
मतवाली यह सरिता यों, किस ओर वेग से आती ?

निर्मम अत्याचारी के, दुर्गम कारागारों को।
क्या तोड़ चला विद्रोही, पत्थर की दीवारों को ?[१]

सरिता के सुहावने दृश्य का वर्णन साधारण रूप में किया गया है। इसी प्रकार यमुना का दर्शन कर नदी पर ही बैठकर ग्रामीणजी उसका वर्णन करने लगते हैं, जिसमें उनके आत्म-चिंतन के भाव भी भरे हुए हैं :—

धनि माता बसुन्धरा तेरी छटा लखि,
भारत पूत अघात नहीं।
कहुँ सुन्दर दिव्य गिरी बन हैं,
जहँ नेकहु दुःख लखात नहीं।।
झरात झराझर है झरना,
सुनिके तनहूँ अलसात नहीं।
करि आतम चिन्तन बैठि रह्यो,
तहँ माया की बात सुहात नहीं।।[२]

इस प्रकार कवि ने प्रकृति के अभ्यांतरिक चित्रण का सुन्दरतम रूप तो देने का प्रयत्न किया है परन्तु प्राकृतिक वस्तु के रूप, भाव और वातावरण को लेकर वह अधिक सफल नहीं हुआ है। इस चित्रण में कल्पना एवं सजीवता का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है।

इसीके ठीक विपरीत श्री गोपाल नेवटियाजी ने अपने प्रकृति-चित्रण में प्रकृति का ज्ञान स्वतः निरीक्षण द्वारा प्राप्त किया है, ऐसा प्रतीत होता है। अपने प्रकृति-चित्रण में उन्होंने प्रकृति का केवल वास्तविक चित्रण ही नहीं किया है वरन् निर्मल पर्वत-श्रेणियों एवं शीतल समीर का वर्णन कर दिया है। प्रकृति उनके लिए केवल नेत्रानन्द का विषय नहीं रही है वरन् उनकी आत्मा के अनुरंजन का साधन बन गई है। उस सौन्दर्य-दर्शन में कितनी आत्म-विस्मृति थी जैसा कुछ कवि के मनोगत भावों में आया उसकी वाणी ने इस प्रकार प्रकट किया। अपनी काश्मीर-यात्रा के बीच किए गए प्रकृति-दर्शन का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

मरुस्थली की शोभा को चमकाकर रूप-रतन से।
नभ दुकूल से आच्छादित, नित-विरहित हरित वसन से।।
स्वर्ण कान्ति-सम शोभामय इस अतिशय कोमल तन को।
प्रकृति सुन्दरी दिखा रही है अपने प्रेमी जन को।।
जाते-जाते क्षितिज प्रांत पर देख स्थान निर्जन-सा।
कर पसार, आलिंगन-आतुर होकर विह्वल मन-सा।।

---

१. उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० ५८।
२. यमुना-दर्शन—ग्रामीणजी—मर्यादा, जुलाई, १९१६, पृ० १८

चूम रहा है प्रकृति रूप में मुग्ध भानु धरती को।
विस्मृत कर दूँ इस क्रीड़ा में ताप-तप्त जगती को ॥[१]

उपर्युक्त वर्णन में न तो भावों को अधिक उद्दीप्त करने का प्रयत्न है और न अलंकार अथवा चमत्कारपूर्ण शब्द-योजना का विशेष प्रदर्शन। कवि का भावुक हृदय दर्शन में रम गया है और वह इस प्रकृति-क्रीड़ा में जगती के ताप को विस्मृत करना चाहता है। प्रकृति सहयोग उसे आनन्द प्रदान करता है और उसका आन्तरिक उल्लास उसे अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करता है।

इसी भाँति पं० रामनरेश त्रिपाठी भी प्रकृति-दर्शन में रम गए हैं। अपनी अद्भुत विचार-शैली में उन्होंने कुर्ग के प्राकृतिक सौन्दर्य की जो छटा मस्तिष्क-पटल पर अंकित की है वह कभी भी अदृश्य होनेवाली नहीं है। इसमें उन्होंने अपनी कल्पना चमत्कारिता को ऐसा ढाला है कि दृश्य-विधान में सर्वत्र सजीवता ही दृष्टिगोचर होती है। वे लिखते है—

प्रकृति महारानी का मंजुल महल कुर्ग है,
पद्मा का सुख-शांति-सदन आनन्द दुर्ग है,
जैसा बाहर यहाँ प्रकृति का तन सुन्दर है,
उससे भी कुर्गीय जनों का मन सुन्दर है।
शिमला नैनीताल नीलगिरि और मसूरी,
हैं इसके समक्ष सबकी छवि-राशि अधूरी।
क्योंकि वहाँ पर कृत्रिमता श्रम से रक्षित है,
किन्तु यहाँ पर नैसर्गिक सौन्दर्य उदित है।
भारत में सर्वोच्च सुयश पद के अभिलाषी,
है उद्यमी, सुसभ्य, सच्चरित कुर्ग-निवासी ॥[२]

दृश्य-चित्रण जितना हमें श्री गोपाल नेवटिया में मिलता है, उतना इस श्रेणी में आए किसी भी लेखक मे नहीं। पूर्णिमा के दिनों में बालू के टीले पर बैठकर कवि घण्टों उस हसते हुए चाँद को देखता रहता है। चाँद की हँसी उसे घण्टों हँसाती रहती है और उसका रोम-रोम मुकुलित हो जाता है। चाँदनी से आलोकित क्षितिज प्रान्त पर सिकता-समूह और नील-नभ को गाढ़ालिंगन में निमग्न देखकर कवि के हृदय-सिन्धु मे हास्योर्मियाँ आन्दोलित होती हैं और उस शांति और सौन्दर्य में उसकी सजीवता और माधुर्य भरी वाणी नभ-मंडल में छा जाती है। वह लिखता है—

चारु चन्द्र की मुदित चन्द्रिका नभ-पथ में जब आती।
कंचन सम सिकता-समूह पर रजत-राशि बरसाती।

१. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० २

२. मेरी दक्षिण यात्रा—पं० रामनरेश त्रिपाठी—विशाल भारत, फरवरी १९३४

सुन्दर तर रमणीय वेश में प्रकृति रमा इठलाती।
मेरे मन को मुग्ध बनाकर रूप-सुधा भर जाती॥
रव विहीन यह परम शांति की सुखकर भूमि दिखाती।
आदि नाद की तान प्रणव होकर मन में छिड़ जाती॥
कभी कभी केका मयूर की बैठ वायु के रथ में।
आती है इस परम शांतिमय-निर्जन-नीरव पथ में॥
सुन-सुनकर इस मधुर तान को नव-जीवन भरता हूँ।
ईश तुम्हारा रूप मनोहर मैं देखा करता हूँ॥[1]

इस प्रकार नेवटियाजी के चित्रणों में जो सजीवता, नाटकीयता एवं दार्शनिकता हमें देखने को मिलती है वैसी अन्य लेखकों में नहीं। इस श्रेणी के अन्य लेखकों के प्रबन्ध-सौष्ठव में न वैसा स्थल-चयन है, न प्रवाह और संयोजन ही। माधुर्य और प्रसाद से पूर्ण भाषा इनकी अपनी विशेषता है।

प्रो० मनोरंजनजी ने भी एक स्थान पर पर्वतीय दृश्य का वर्णन किया है। सामने मन्दाकिनी की निर्मल धारा वेगपूर्वक अपने लक्ष्य की ओर प्रवाहित हो रही है, चन्दापुरी की सुषमा का अनोखा दृश्य दृष्टव्य है—

उधर से मन्दाकिनी है निर्मल, इधर से चन्द्रा चमक रही है।
बहार लहरों की है निराली, गरज रही है, तमक रही है॥
खड़े हुए आसपास गिरिवर, तरंग का रंग देखते हैं।
हवा है वृक्षों से खेल करती, ठुमक रही है, ठमक रही है॥
उधर है केदार का नज़ारा, निराला है रंग हिम-शिखर का।
जिसे आ सूरज की दिव्य किरणें, सुनहली चादर से ढँक रही हैं॥
बरफ की लहरें उधर से आकर, लुटा रही कोष मोतियों का।
नदी ये निर्मल परम मनोहर, चमक रही है, झमक रही हैं॥[2]

मनोरंजनजी का उपर्युक्त वर्णन दृश्य-चित्रण की दृष्टि से अच्छा बन पड़ा है, पर इसमें व्यवहारिक भाषा होने पर भी अधिक माधुर्य नहीं आ सका है, वरन् यह गज़ल की शैली में गाया हुआ गीत ही रह गया है।

श्रीनिधि सिद्धान्तालंकारजी ने शिवालिक की घाटियों के यात्रा-संस्मरणों को बहुत ही सुन्दर और कलात्मक रूप दिया है। यद्यपि इनके इन चित्रों में अधिक सजीवता, स्वाभाविकता नहीं मिलती है; पर वास्तव में इनके ये चित्र साहित्यिक अवश्य हैं। वे लिखते हैं—

१. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ४
२. उत्तराखंड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० ८६

कैसे विस्मृत हो सकते हैं,
वे, प्रशांत-सरिता-तट-शायी—
विस्तीर्ण सैकत पुलिन,
जिन पर ज्योत्सनामयी रजनियाँ
कराया करती थीं निद्रामग्न हरिण यूथों को
निर्मल चन्द्रिकाओं के अजल-स्नान।

हैं आ रहे याद मुझे
वे झिल्ली-झंकार पूर्ण, निस्तब्ध जलाशय,
जिनके आर्द्र-सैकत तटों पर अंकित
निशीथ-जल पानार्थी-सिंहों के अभिनव पद-चिह्न
बना दिया करते थे,
पार्श्व भूमिओं को दिन में भी आतंक-पूर्ण।

क्या, भूल सकूँगा कभी,
उस, शोभांजन-द्रुम-वासिनी,
वन पुजारिणी, माधवी लता को,
जो घाटी के वार्षिक कुसुमोत्सवों पर
किया करती थी स्तुति गायक-भ्रमरों को,
अपने अभिनव पुष्प पात्रों में
मकरन्द चरणामृत वितीर्ण॥[१]

पं० श्रीधर पाठकजी ने एक पर्वतीय दृश्य की रमणीयता का जो सुन्दर वर्णन किया है उसमें उनकी कल्पनात्मकता दृश्यचित्रण के साथ ही बड़ी प्रवाहपूर्ण बन पड़ी है। इसमें वे एक ऊँचे पर्वत पर खड़े होकर दृश्यों का अवलोकन करते हैं जहाँ से उन्हें सभी पर्वतों के भव्य दृश्य दिखाई देते हैं एवं हरे-हरे पहाड़, सुन्दर सीढ़ियोंवाले खेत, पतले-पतले झरने और चाँदी के समान चमकीली नदियाँ। दूर-दूर तक पहाड़-ही-पहाड़ थे, जिनकी चोटियों पर मेघमाला विश्राम कर रही थी। क्षितिज के दर्शन कर वे लिखते हैं—

अगनित पर्वत-खंड चहुँ दिसि देत दिखाई।
सिर परसत आकास चरन पाताल छुआई॥
सोहत सुन्दर खेत पाँति-तरु ऊपर छाई।
मानहु विधि पट हरित स्वर्ग-सोपान बिछाई॥[२]

---

१. शिवालिक की घाटियों में—श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार, पृ० २-३
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५३

२. हिमालय—पं० श्रीधर पाठक, 'विशाल भारत' मई १९३४, पृ० ६०८

पर्वत-शिखरों पर के जल-प्रवाह का एक सुन्दर चित्र नेवटियाजी ने इन पंक्तियों में चित्रित किया है—

पर्वत-शिखरों का हिम गलकर जल बनकर नालों में आकर।
छोटे-बड़े चीकने अगणित शिला-समूहों से टकराकर ॥
गिरता-उठता फेन बहाता करता अति कोलाहल हर-हर।
वीर-वाहिनी की गति से वह बहता रहता है निशि वासर ॥
मानो जलदों के शिशुगण दल बाँध खेलते हुए परस्पर।
अति उतावलेपन से चलकर गोल पत्थरों पर गिर-गिरकर ॥
उठते फल फेंकते-हंसते तथा मानते हुए महोत्सव।
सागर मे मिलते जाते है पथ में करते हुए महारव ॥
इनका बाल-विनोद देखते हुए किसी तीरस्थ शिला पर।
सतत सुगंधित देवदारु की छाया में सानन्द बैठकर ॥
सिर धर हरि के पद-पद्मों पर करके जीवन-सुमन समर्पण।
बना नहीं सकता क्या कोई अपने को आनन्द-निकेतन ॥[1]

पर्वत-शिखरो के सौन्दर्य के बीच उस सौन्दर्य के निर्माता को याद करके उसके पद-पद्मो पर जीवन-सुमन समर्पण करने की कल्पना की कोमलता काश्मीर मे पद-पद पर अनुभूत होती है। प्रवाह और कौतूहल से पूर्ण 'श्रीनगर' मे हमे सबसे अधिक काव्य-सौष्ठव मिलता है।

उच्चतम शिखर-शृ ग पर चमकती हुई सूर्य-किरणो का अनूठा नैसर्गिक दृश्य प्रो० मनोरजन के शब्दो मे सुन्दर बन पडा है—

ऊँची हिम की चोटी पर
थी अधकार की छाया।
काली-सी दीख रही थी
उसकी वह उज्ज्वल काया ॥
तम का घूँघट सरकाकर
मुसकाती ऊषा आई।
तन पुलक उठा हिमगिरि का
मुख पर नव लाली छाई ॥
हँसती-हँसती फिर आई
रवि की किरणे मस्तानी।
चाँदी के ऊपर मानों
फेरा सोने का पानी ॥

१. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ७७

हिम के उज्ज्वल दर्पण में
रवि ने अपना मुख देखा।
खिंच गई उधर शिखरों पर
हँसती किरणों की रेखा॥
यों हुआ दृश्य-परिवर्तन
जगमग उज्ज्वलता छाई।
प्रकृति दुलहिन ने अपनी
सुन्दर शोभा दिखलाई॥[1]

श्री गोपाल नेवटियाजी ने यात्रा-उपासक होने के कारण प्रकृति के विराट, विकराल, भव्य एवं सरस सभी रूपों के दर्शन किये। प्रकृति में उन्हें इतनी अधिक संवेदन-शीलता का आभास मिला है कि वह इनके 'काश्मीर' ग्रन्थ का एक प्रधान अंग-सी बन गई है। प्रकृति के प्रेमपाश में बँधकर भी वे मानों सौन्दर्य से विमुक्त नहीं हो सके हैं। अपनी ओज और माधुर्यपूर्ण भाषा में नाटकीयता एवं सजीवता से पूर्ण उनके सभी दृश्य चित्रण हैं। कल्पना और दार्शनिकता तो उनकी कलात्मकता की विशेषता ही है। यात्रा के पूर्व उन्होंने वहाँ के स्त्री-सौन्दर्य की बीसों चटपटी बातें सुनी थीं, पर उनका समर्थन करने के लिए उनके नेत्र बड़े उत्सुक थे। पर कान और आँख का विवाद बहुत दिनों तक बना ही रहा। महाकवि देव की ये पंक्तियाँ यहाँ उन्हें काश्मीर में अगोचर ही थीं—

जोबन के रंग भरी, ईंगुर के अंगन पै,
ऐंड़िन लौं आंगी छाजै छबिन की भीर की।
उचके उचौहैं कुच झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की॥
गुल गुले गोरे गोल कोमल कपोल,
सुधा बिन्दु बोल, इन्द्रमुखी नासिका ज्यों कीर की।
'देव' दुति लहराति छूटे छहरात केस,
बोरी जिमि केसरि किसोरी कसमीर की॥

काश्मीर यात्रा में पं० रामनरेश त्रिपाठीजी ने वहाँ की सुन्दरता एवं दृश्यावली को देखने के अतिरिक्त वहाँ के अन्य दृश्यों का भी अवलोकन किया। उन्होंने अपनी यात्रा में वहाँ के सुन्दर और असुन्दर सभी दृश्यों को देखा है और निजी अनुभव के आधार पर लिखा है—

१. स्वर्ग से बड़ी है काश्मीर की बड़ाई जहाँ
बास करती है बहु वेष धर के रमा।

---

१. उत्तराखंड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० ९१-९२

सरिता, पहाड़, झील, झरनों बनों में जहाँ
छाई सब ओर है अकथनीय सुषमा।
घास छीलती हैं जहाँ अप्सरा अनेक खड़ी
धान कूटती हैं परी किन्नरी मनोरमा,
सड़कें बुहारती घृताची रति रंभा जहाँ,
गोबर बटोरती हैं मेनका तिलोत्तमा॥

× × ×

२. मूत भरी गलियाँ पुरीष भरे घर द्वार
गंदी हवा, बादी जल, देश उजबक है।
लोग बड़े झूँठे, महा मलिन लुगाइयाँ हैं
व्याप रहा जिनमें सुजाक आतिशक है॥
खाने को करम मांस मछली पनीर भात
कांगड़ी का कंठहार आठ मास तक है॥
काश्मीर देखा, सब बूझ लिया लेखा
यदि स्वर्ग है यहीं तो फिर कौन सा नरक है॥

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि इन कवियों ने जहाँ काश्मीर के अत्यन्त रमणीक दृश्यों का अवलोकन किया वहाँ दूसरी ओर वहाँ की वास्तविक स्थिति का वर्णन भी अपने यात्रा-ग्रन्थों में किया है। इस प्रकार उनकी यात्रा एकांगी न रहकर सर्वांगी हो गई है। उनके काव्य में प्रबन्ध-सौष्ठव के सभी लक्षण पूर्ण रूप से अवश्य नहीं मिलते हैं, पर जो लक्षण हैं वे यथेष्ट हैं जिनमें कलात्मकता, प्रकृति चित्रण एवं दृश्यविधान सभी-कुछ है।

गद्य-पद्यात्मक शैली में लेखकों की कृतियाँ अत्यन्त मनोरम बन पड़ी हैं। कविता के उद्धरणों ने उन्हें विशेष रोचक बना दिया है। इस प्रकार की शैली आगे चलकर प्रायः समाप्त हो गई, इस पर चलते रहना हिन्दी यात्रा-साहित्य की लोकप्रियता का कारण बन सकता, इसमें सन्देह नहीं।

★

: ८ :

निबन्ध

यदि हम यह कहें कि गद्य-काव्य का पूर्ण और वास्तविक रूप निबन्ध में ही प्राप्त होता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि गद्य-काव्य के अन्य विभिन्न रूप वैयक्तिक शैली के प्रयोगों के इतने अधिक निकट नहीं जितना कि निबन्ध, और न ही वे शुद्ध गद्य के रूप को प्रकट कर सकते है। यथा, कहानी और उपन्यासों में गद्य की भाषा माध्यम के रूप में ही प्रयुक्त की जाती है। वस्तुतः निबन्ध के सम्बन्ध में इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है—

"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों मे ही सबसे अधिक सम्भव होता है।"[१]

शुक्लजी के उपर्युक्त कथन से यह प्रमाणित होता है कि गद्य का पूर्ण विकसित और शक्तिशाली रूप निबन्ध में ही चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है, इसीलिए भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी निबन्ध गद्य-साहित्य का सबसे अधिक परिपक्व और उच्चतम रूप बन जाता है।

फिर हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही बौद्धिक, तार्किक तथा वर्णनात्मक विषयों की विवेचना के लिए निबन्ध का ही आश्रय लिया जाता रहा है। शनैः शनैः इसका अर्थ एक ऐसा लेख जिसमें कि अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण या ग्रंथन हो, बन गया। आज हिन्दी में 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया जाता है जिस अर्थ में 'ऐसे'[२] शब्द का अंग्रेजी में। सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखक मौनटेन ने सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया। उसके अनुसार, "निबन्ध स्मृति, छायाओं, उद्धरणों और कथात्मक इतिवृत्तों का पंचामृत होता है।"[3] अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ० जानसन का कथन है कि "निबन्ध मन की ऐसी विशृंखल विचार-तरंग है, जो अनियमित और अपच है।"[४] इसी प्रकार की विचारधारा वर्सफोल्ड की भी है, वह लिखता है—"निबन्ध का परिचय उसके बाह्य रूप के लघुत्व में मिलता है और उसमें

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ५०५, संस्करण सं० २०१२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

२. Essay.

३. "An essay is a medley of reflection, quotations and Anecdotes."
—Montaigue.

४. An essay is a loose sally of the mind, and irregular, undigested piece not a regular and orderly composition or performance.
—Dr. Johnson.

लेखक का आत्माभिव्यंजन वर्तमान रहता है।"[1] जे० टी० शिपले अपने कोष में इसका अर्थ साधारण रूप में देते हुए कहता है—

"सामान्य रूप से निबन्ध किसी निश्चित विषय पर अपेक्षित विस्तार में लिखी गई गद्यमय रचना है।"[2] इनसाइक्लोपेडिया अमेरिकाना के अनुसार—"मूल रूप से निबन्ध शब्द का तात्पर्य नाटक, उपन्यास और काव्य के समान किसी निश्चित विषय पर व्यक्तिगत और सीमित निरीक्षण पर आधारित विश्लेषणात्मक अथवा तर्कयुक्त गद्यखण्ड से है, यह साहित्य की प्रमुख विधा है।"[3] इसी प्रकार का भाव हमें इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटानिका में भी मिलता है।[4] शुक्लजी के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य विद्वानों की भी निबन्ध के प्रति यही धारणा दिखाई देती है।

बाबू गुलाबराय के अनुसार—"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[5] डॉ० जगन्नाथ शर्मा की धारणा कुछ और ही है। वे लिखते हैं—"निबन्ध में तर्क और पूर्णता के प्रति उदासीनता, किसी विषय अथवा उसके वंश का लघु विस्तार स्वच्छन्द तथा आत्मीयतापूर्ण शैली के द्वारा लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना प्रधान होती है।"[6]

उपर्युक्त हिन्दी और अंग्रेजी के समीक्षकों के निबन्ध की रूपरेखा का

---

१. The essay is distinguished by the brevity of its external form and by the presence of the element of reflection.

—Worsfold.

२. "In general, it is a composition, usually in prose, of moderate length and on a restricted topic.

—Dictionary of World Literary Terms.—J. T. Shipley, page 145.

३. The word has come to mean primarily an analytical or interpretative piece of prose literature, based on observation, dealing with its subject from a limited or personal view with the drama, the novel and poetry, it is a main division of Literature.

—The Encyclopaedia Americana—Vol. 30, page 508 (1947 Edition) New York.

४. Essay is a form of Literature, the essay is a composition of moderate length, usually in prose, which deals in an easy, cursory way with a subject and in strictness, with that subject only as it affects the writer.

—Encyclopaedia Britanica, page 716, Vol. 8 (1946 Edition)

—University of Chicago.

५. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय, पृ० २३६, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १६५०

६. आदर्श निबन्ध—डा० जगन्नाथ शर्मा, पृ० ६, बनारस, सं० २००८

विश्लेषण करके एक व्यापक और समुचित परिभाषा निम्न प्रकार से दी जा सकती है—

"तर्क और पूर्णता का अधिक विचार न रखनेवाला गद्य-रचना का वह प्रकार निबन्ध कहलाता है, जिसमें किसी विषय अथवा विषयांश का लघु विस्तार में स्वच्छंदता एवं आत्मीयतापूर्ण ढंग से ऐसा कथन हो कि उसमें लेखक का व्यक्तित्व स्वतः झलक उठे।"

निबन्ध का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उसमें विश्व के संपूर्ण तत्वों, भावनाओं, वस्तुओं और क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का विवेचन हो सकता है। हमें यहाँ पर विशेषकर वर्णनात्मक निबन्धों की ही विवेचना करनी है।

वर्णनात्मक निबन्ध—यद्यपि आजकल हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विभिन्न वर्णनात्मक लेखों में से बहुत कम ऐसे होते हैं जिन्हें शुद्ध यात्रा-सम्बन्धी वर्णनात्मक निबन्ध माना जा सके, क्योंकि उनमें न लेखक की शैली का पूर्ण रूप से प्रकाशन ही हो पाता है और न लेखक का व्यक्तित्व ही उभर पाता है।

फिर भी, वर्णनात्मक निबन्धों में प्राकृतिक उपकरणों तथा भौतिक पदार्थों को देखकर ही वर्णन किया जाता है। इसमें किसी प्राकृतिक वस्तु जड़ अथवा चेतन, कोई स्थान, प्रान्त अथवा और किसी मनोहर तथा आह्लादकारी दृश्य का एवं शिकार पर्वतारोहण, दुर्गम प्रदेशों की यात्रा, साहसपूर्ण कृत्यों, ऐतिहासिक घटनाओं आदि का ही वर्णन रहता है। इस प्रकार के यात्रा सम्बन्धी वर्णनात्मक निबन्ध हिन्दी साहित्य में बहुत अधिक हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य मे इस प्रकार के वर्णनात्मक निबन्ध विशेषकर दो रूपों में ही मिलते हैं। प्रथम तो पुस्तक रूप में; दूसरे मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों में लेखों के रूप में। इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण देश एवं संसार से रहता है। ये लेख लगभग सभी शैलियों में लिखे जाते हैं, पर मुख्यतः इनकी वर्णन-शैली व्यास-शैली कहलाती है जिसमें वर्ण्य-विषय की लम्बी-चौड़ी विवेचना की जाती है। उसमें पाठक के मस्तिष्क में संपूर्ण वस्तुस्थिति को समझाकर बिठा देने की प्रवृत्ति लक्षित की जा सकती है। इन्साइक्लोपेडिया अमेरिकना के अनुसार वर्णनात्मक निबन्ध वह है जिसमें लेखक का व्यक्तित्व किसी रंगीन चित्र को आँक सके।[1] इसके साथ ही मेरे विचार से वर्णनात्मक निबन्धों में नाटकों के संभाषणों का-सा आनन्द एवं उपदेशकों की शैली के सभी गुण भी होने चाहिए। साथ-ही-साथ साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक एवं सजीव वर्णन का होना भी आवश्यक है।

वर्णनात्मक निबन्ध भाव, विचार एवं साहित्यिक मूल्याकन की दृष्टि से तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—

1. The Descriptive essay is that which gives a picture coloured by the personality of the writer.

   —Encyclopaedia Americana, page 508, Vol. 30 (1947, New York).

१—इतिवृत्तात्मक, जिनमें दृश्यों को यथा रूप वर्णित कर दिया जाय। इसमें लेखक की स्थिति बिलकुल निर्लिप्त रहती है। वह केवल वर्णनकर्त्ता मात्र दिखलाई देता है।

२—भावात्मक एवं आलंकारिक, जिनमें रस और भावों की व्यंजना हो और भाव विचारों से अधिक प्रधान हों। वातावरण-प्रधान अथवा व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध भी इसीके अन्तर्गत लिए जा सकते हैं।

३—दार्शनिकता-प्रधान निबन्धों में दार्शनिक भावों की प्रधानता होना अनिवार्य है। यद्यपि ये निबन्ध बहुत-कुछ वैयक्तिकता-प्रधान होते हैं तथापि दार्शनिक दृष्टि की विशेषता इन्हें अन्य वैयक्तिकता-प्रधान निबन्धों से अलग करती है।

१—इतिवृत्तात्मक—इतिवृत्तात्मक वर्णन हिन्दी यात्रा-साहित्य में यथेष्ट मिलते है। निराडम्बर शैली मे विभिन्न दृश्यों का सामान्य वर्णन इस प्रकार के निबन्धों की विशेषता है। गोविन्दहरि फडके ने अपनी तीर्थयात्रा में इस प्रकार का वर्णन किया है। उदाहरणार्थ देखिए—

"वहां गौरी कुंड है, उसके चारों ओर की भूमि चारसौ हाथ ऊँची है। इस पाषाणमय पहाड़ को फोडकर ही भागीरथ का प्रवाह गौमुख से नीचे उतरा है। यही भागीरथी का स्वर्ग से अवतरण है, इसी स्थान को गौरी कुंड कहते हैं। कुण्ड के ठीक मध्य भाग में मनोहर शिव-लिंग है। यहाँ भागीरथी का प्रवाह पच्चीस हाथ की ऊंचाई से गौमुख से सदा शिव-लिंग पर गिरता रहता है। यह चमत्कार देखने योग्य है। यही गंगा को शिव की जटा मे रखने का दृश्य है। भागीरथी के असंख्य जलबिन्दु शिलाखण्ड से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उनके तुषारों से इन्द्रधनुष की भांति विविध छटाएँ दीख पड़ती हैं। वे तुषार फिर शिव-लिंग पर आकर गिरते हैं। इस प्रकार वहाँ कई अपूर्व छटाएँ दीख पड़ती हैं।"[1] लेखक के वर्णन में केवल उतना ही सौन्दर्य चित्रण किया गया है जितना पाठक के हृदय को स्पर्श करने के लिए पर्याप्त हो; अन्यथा सरल शैली है।

अपनी कैलाश-यात्रा का वर्णन करते हुए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने लिखा है—

"वर्षा हो रही थी। छतरियाँ तानकर चल पड़े। तेजम के पास जो नदी रामगंगा से मिलती है, उसको जाकुला कहते हैं। इसका कठिन पुल पारकर, इसके किनारे-किनारे, ऊपर पहाड़ पर चढ़े। मखमल-जैसी हरियाली से लदे हुए दो पहाड़ों के बीच यह जाकुला नदी बहती है। घाटों का रास्ता तंग है, इसलिए पहाड़ी दृश्यों का स्वरूप बड़ा बन्य है। स्थान-स्थान पर ऊँची-चौड़ी पहाड़ी भूमि पर भोटिओं की झोपड़ियाँ बनी हैं। बादल घाटी में बड़ी मौज से क्रीड़ा कर रहे थे, जिधर का मौका पाते, उधर ही उलट पड़ते थे। सामने जल-प्रपात दिखाई दिया। श्वेत सूत के तागे

१. मेरी तीर्थयात्रा—गोविन्दहरि फडके, चित्रमयजगत्, जून १९१८, पृ० २४०

की तरह जल की धारा पहाड़ पर से वक्रगति से नीचे आ रही थी। क्या ही नैसर्गिक दृश्य था![1] इसमें सत्यदेवजी कैलाशपर्वत का एक साधारण-सा चित्र प्रस्तुत करते हैं। रामगोपाल मूना अपनी 'धुआँधार की यात्रा' का वर्णन बड़े ही मार्मिक ढंग से करते हुए लिखते हैं—

"हम लोग मोटर से उतरकर सबसे पहले सीधे धुआँधार नामक जल-प्रपात की ओर चल दिए, जो यहाँ से दो मील के लगभग है। धुआँधार का दृश्य अति नेत्ररंजक है। यहाँ नर्मदा नदी संगमरमर की ऊँची-नीची चट्टानों से बहती हुई आकर एकदम ३० फीट नीचे जोर से गिरती है। नीचे पानी गिरने के कारण जलकरण इतने अधिक उड़ते हैं कि धुएँ की भाँति दिखलाई पड़ते हैं। इसीलिए इस प्रपात का नाम धुआँधार पड़ गया है। डूबते हुए सूर्य की रोशनी इन जल-कणों पर अलौकिक दृश्य दिखला रही थी। इसके आगे जहाँ तक निगाह जाती थी, संगमरमर की चट्टानें दिखाई पड़ती थीं। चट्टानों के बाद नदी के दोनों किनारों की ओर जंगली पौदों के दृश्य थे।"[2] मूनाजी ने इसमें धुआँधार का अलौकिक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न मात्र ही किया है।

श्री मोशियो आर० तूर्त ने अपनी ईरान यात्रा में वहाँ के शहरी निर्माण का वर्णन करते हुए लिखा है—

"पुराने शहर में अनेकों सुन्दर और बड़ी-बड़ी मसजिदें हैं, जिनके मीने के काम के हरे और नीले गुम्बद सूर्य की रोशनी में पन्ने और नीलम के बड़े-बड़े ढोकों के समान दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त सभी सड़कों पर छोटे-छोटे छप्पर और फव्वारे दिखाई देते है। चारों ओर सब्जी-ही-सब्जी है। इस्फहान का शहर बाग और फल-फूल के बगीचों के बीच में बसा है। इन बगीचों में अनेकों तालाब और पुष्करिणी हैं, जिनसे चारों ओर शान्तिदायिनी शीतलता छाई रहती है। फिर ये बाग-बगीचे और सारा शहर चारों ओर पहाड़ियों से घिरा है, जिनका कोमल वर्ण और उग्र बाह्य रेखाएं दूर से दिखाई पड़ती हैं।"[3] इसके अतिरिक्त काश्मीर-यात्रा में देखी गई पर्वतीय नदी का बड़े सरल ढंग से वर्णन करते हुए ईश्वरचन्द्र शर्माजी लिखते हैं—

"यह स्थान एक लम्बे-चौड़े मैदान में है, जिसे चारों ओर से ऊँचे-ऊँचे पहाड़ घेरे हुए हैं। पास ही लिदर नाम की नदी बहती है। वह कहीं शिलाओं से टकराकर उछलती और कहीं वेग से गिरती हुई किसी अतल तल में जाकर गिरती वज्र गंभीर ध्वनि करती है। पहाड़ों के शरीर देवदारु के लम्बे-लम्बे वृक्षों से घिरे हुए हैं।

१. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ३०
२. धुआंधार की ओर—रामगोपाल मूना, सुधा, अगस्त १९३७, पृ० २४
३. मेरी ईरान यात्रा—मोशियो आर० तूर्त, चित्रमयजगत्, अप्रैल १९३१

लिदर की शीतलता से सनी हुई मृदु मन्द वायु देवदारु के वृक्षों को धीरे-धीरे झुलाती है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि इतिवृत्तात्मक निबन्धों के रचयिता अपने अनुभवों को सरल, स्पष्ट भाषा-शैली में पाठकों के हृदय तक पहुँचाना चाहते हैं। उनमें आलंकारिकता का पूर्णतया अभाव नहीं है; फिर भी वे व्यर्थ के आडम्बर से दूर हैं, उनके कथन, चित्रण सीधे हृदय पर प्रभाव डालते हैं। इस दृष्टि से यात्रा-साहित्य के लिए यह शैली बहुत उपयोगी तथा उपयुक्त प्रमाणित होती है।

२. भावात्मक एवं आलंकारिक—भावात्मक एवं आलंकारिक वर्णन करने वाले यात्रा-साहित्य के अनेक लेखक हैं जिनमें वे अपने विचार बहुत सीधे-सादे और स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हैं। भावात्मक निबन्धों में लेखकों ने अपने उस भावोद्रेक को व्यक्त किया है जिसमें वे विभिन्न दृश्यों को देखकर आत्म-विस्मृत हो जाते हैं। इन भावात्मक निबन्धों में भावात्मकता पर अधिक बल होता है, विचारों का स्थान गौण हो जाता है। इस प्रकार इन निबन्धों में काव्यात्मकता बढ़ जाती है। इसी काव्यात्मकता को व्यक्त करने के लिए आलंकारिकता की भी आवश्यकता पड़ने लगती है। यहाँ पर क्रमशः भाव-प्रधान सरल शैली एवं अलंकार-प्रधान कलात्मक शैली के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

भावात्मक शैली में हमें भक्तिभावना, दार्शनिकता एवं कवित्वमयता के दर्शन होते हैं। कृपानाथ मिश्र ने अपनी 'विदेश की बात' नामक पुस्तक में इसी प्रकार का दृश्य उपस्थित किया है—

"जिस समय हम लोगों का जहाज लाल सागर की ललित तरंगों पर नृत्य करता हुआ आगे जा रहा था, उस समय हम सभी आनन्द से भरपूर थे। ज्योत्सना तथा समुद्र का अपूर्व आलिंगन हमें एक अपार्थिव सौन्दर्य का सन्देश सुना रहा था। शांत तथा सुप्त शिशु के विश्वास की तरह तरंगों का मधुर उच्छ्वास चित्त में चंचलता उत्पन्न कर रहा था।"[2] वेणी शुक्लजी ने 'लंदन पेरिस की सैर' में प्रयाग से बम्बई तक की गई यात्रा का वर्णन करते हुए भावुकता के साथ अपनी भक्ति-भावना का भी परिचय दिया है—

"कुछ देर में सीटी देकर गाड़ी खुली और पुल पर पहुँची। पुल पर से मैंने बड़े प्रेम और भक्ति के साथ अपने जन्म-स्थान पुनीत प्रयाग, दक्षिण से घूमकर आई हुई नील-वसना यमुना और उत्तर से आती हुई श्वेत-सलिला भगवती भागीरथी को गद्‌गद होकर प्रणाम किया। प्रयाग से दो स्टेशन बाद शंकरगढ़ लाइन के दोनों ओर विन्ध्याचल की मनोरम कैमूर की श्रेणी आरम्भ हो जाती है, जिसके चित्रकूट आदि मनोरम स्थानों को भगवान रघुकुल-कमल दिवाकर ने बनवास के समय अपनी चरण-

१. काश्मीर में एक मास—ईश्वरचन्द्र शर्मा, चांद, मई १९३०
२. विदेश की बात—कृपानाथ मिश्र, पृ० २५

रज से पवित्र कर और भी रमणीक बना दिया है ।"[1] अपनी अमरनाथ यात्रा का वर्णन करते हुए राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह ने लिखा है—

"प्रातःकाल उन्हीं शैल-शिखरों पर उषःकाल की अनुपम ज्योति देखकर शेक्सपियर की इन पंक्तियों का स्मरण हो आया—

> Nights Candles are burnt out, and jocund day,
> Stands tip toe on the misty mountain tops.

हिमालय की चोटियों पर ही कहते हैं, परमात्मा की महिमा दिखाई पड़ती है । अमरनाथ में हम उस ईश्वरीय महिमा की एक झलक अवश्य पाते हैं । रास्ते की कठिनाइयाँ बहुत हैं । मार्ग दुर्गम है, गौरीशंकर शृंग की चढ़ाई से कम नहीं, पर इन सारी कठिनाइयों का पारितोषिक हमें मनोमुग्धकारी प्राकृतिक सौन्दर्य के रूप में मिलता है । कहीं बड़े-बड़े पहाड़, कहीं बड़ी-बड़ी घाटियाँ, कहीं मीलों तक फैली हुई फर्श और कहीं बड़े और कहीं छोटे जल-प्रपातों का समूह, पर्वत-सरिताओं की उद्वेलित तरंगें, वन्य-कुसुमों का सौरभ, कैलाश से आई हुई हवा, पर्वतों पर छाई हुई मेघमालाएँ, हृदय में तरह-तरह के भावों का संचार करती हैं, एक दूसरी ही दुनिया को पहुँचा देती है । कहीं तो हम प्रशान्त चेष्ट, मन्त्रमुग्ध-से हो जाते हैं और कहीं आनन्द से उछलने लगते हैं, अपने क भूल-सा जाते हैं । अंतरात्मा प्रकृति से जा मिलती है । मार्ग की सारी कठिनाइयाँ प्रकृति के इन दृश्यों में विलीन-सी हो जाती हैं ।"[2] राजेश्वरप्रसादजी ने ईश्वरीय महिमा की छटा का इसमें अच्छा दिग्दर्शन किया है । इसमें उनकी भक्त्यात्मक भावना ही प्रधान रही है । चक्रधर 'हंस' बदरी-केदार की यात्रा का वर्णन करते हुए रास्ते की पर्वत-शृंखलाओं का दृश्यविधान भी प्रस्तुत करते हैं । इनके पर्वतीय दृश्य-विधान में भी भक्ति-भावना का प्राधान्य है। देखिए—

"इस जनसागर की जय-ध्वनि से अनन्त आकाश गूंज रहा था । पहाड़ों से टकराती हुई ध्वनि गुफा, कन्दराओं में प्रतिध्वनित हो रही थी । आबाल-वृद्ध, अमीर-गरीब सभी एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे थे । एक ही भाव से प्रभावित थे । कितना रमणीक दृश्य था वह ! सघन वृक्षों से आच्छादित पर्वत-शृंखलाएँ दूर तक चली गई थीं, नीचे पतित पावनी भगवती अलकनन्दा कलरव के साथ चट्टानों से उछलती-कूदती किसी अनजान के साथ भेंट करने के लिए चली आ रही थी । दोनों ओर तटों पर स्वर्ण-कणों के साथ चमकती हुई सुन्दर सिकता मन को लुभा रही थी, मानों किसीने उज्ज्वल मोती का चूर्ण बिखेर दिया हो ।"[3]

अलंकार-प्रधान कलात्मक शैली में हमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की प्रधानता मिलती है । इस शैली के कुछ उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किए जाते हैं ।

---

१. लन्दन पेरिस की सैर—वेणी शुक्ल, पृ० ४

२. मेरी अमरनाथ की यात्रा—राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह, सुधा, अक्तूबर १९२२, पृ० ३२७-२८

३. भारतवर्ष के कुछ दर्शनीय स्थान—चक्रधर 'हंस', पृ० १०

सोलन के पहाड़ों की यात्रा का भावात्मक आलंकारिक वर्णन करते हुए शिवनारायण टंडनजी ने लिखा है—

"पेड़ों की पत्तियाँ और फुनगियाँ कोमलता और हरियाली का खजाना छिटका रही हैं। तरह-तरह के फूल अपनी लाल, नीली, पीली और गुलाबी अदा किता से प्रकृति सौन्दर्य को वैसे ही लुभावना बना रहे हैं जैसे कि रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहने हुए सौन्दर्य की प्रतिमाएँ सभा और सोसाइटियों की रंगत को बढ़ाया करती हैं। कलियाँ चटख-चटखकर खिल रही है, पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदें शबनम के मोतियों की तरह झलक रही हैं। मधु-मक्खियों और प्यासे भौरों की पंक्तियों-की-पंक्तियाँ उनका रस लेने में रुँधी-विंधी पड़ी हैं।"[1] उपर्युक्त उद्धरण में लेखक की दृष्टि अलंकारविधान पर अधिक टिकती दिखलाई देती है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अपनी कैलाश-यात्रा में विशेष भावुकता का परिचय देते हैं। उनके मन का उल्लास, तन्मयता, विभोरता इस उद्धरण में दृष्टव्य है—

"धोए-धाए वृक्ष, हरियाली से लदी हुई पहाड़ियाँ, स्थान-स्थान पर जल की कलकल ध्वनि, पशु-पक्षी सब प्रसन्न, वर्षा का अन्त—सचमुच मनुष्य को खुशी के मारे नशा-सा चढ़ जाता है। भला मैदान के रहनेवाले इस सुख को क्या जानें। लू में मरनेवाले, धूल फाँकनेवाले, पसीने की बदबू में बसनेवाले इस मज़े को अनुभव नहीं कर सकते। यह मज़ा सचमुच सबसे निराला है।"[2] कभी-कभी प्राकृतिक दृश्यावली का बहुत ही उदात्त रूप वर्णित करने के प्रयत्न में लेखक की शैली अत्यधिक आलंकारिक हो जाती है। देखिए, अपनी काश्मीर-यात्रा का वर्णन करते हुए पंडित देवदत्त शास्त्री 'विरक्त'जी लिखते हैं—

"अपनी सरस सुषमा और देदीप्यमान आभा से विपिन मही को बहुगुणमयी बनानेवाली निराले फूलों की विविध दलवाली जड़ी-बूटियाँ शोभायमान हो रही थीं। कहीं-कहीं अचानक समतल जमीन सामने दृष्टिगोचर हो जाती। वह भी कमनीयता से निर्लिप्त न रहती बल्कि सघन तरु-पुंजों से युक्त रहती थी। प्रान्तर भाग में सरसता और सुन्दरता के आलय सरोवर मुकुल मंजुल महीरुहों से आक्रान्त हो अपने कराम्बुज हिलाकर कलित काश्मीर की कमनीयता लिख रही हैं।"[3] इस प्रकार की काव्यावली में कुछ कृत्रिमता की झलक दिखाई पड़ने लगती है। कृष्णवंशसिंह बाघेल ने अपने वर्णनों में एक मध्यम मार्ग ग्रहण किया है। स्वल्प आलंकारिकता के साथ सरल शैली में उनके वर्णन अत्यन्त रोचक लगते हैं—

"वसुन्धरा देवी चारों ओर लहलहाते धान के खेतों की हरी ओढ़नी-सी ओढ़ रही थी, जिसके कोर (किनारे) का काम अरुण वर्ण की पकी हुई धान की बालियाँ कर रही थीं। इधर लम्बोदरी नदी की फैली हुई धारा मन को प्रसन्न कर रही थी।

१. सोलन के पहाड़ों में—शिवनारायण टंडन—वीणा, फरवरी १९३८, पृ० ३१३
२. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १४२
३. मेरी काश्मीर यात्रा—पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० ४८

जहाँ पर दृष्टि जाती थी, सब भूमि धान से हरी और बीच-बीच सूर्य-रश्मियों से चमकता हुआ स्वच्छ चाँदी-सा पानी। माल भूमि के गाँवों का दृश्य भी चित्ताकर्षक था।"[1] पंडित सूर्यनारायण व्यास अपनी विदेश की कृत्रिम साधनों द्वारा की गई यात्रा में आस्ट्रेलिया के भावात्मक दृश्य को देखकर लिखते हैं—

"रात के बाद यूरोप का दूसरा स्वर्ण-विहान हुआ। अरुण की रक्तिमा नभ-मण्डल पर फैलने लगी। तारागण झिलमिल हो एक-एक कर विलीन होता जा रहा था। धीरे-धीरे प्रकाश फैला, रजत राका को बिदा मिली। सुनहरे प्रातःकाल के दर्शन से मन के अरमानों का पुनः जागरण हुआ। अब रेल अपनी निरन्तर गति से भू-भाग को तय करती हुई प्रगति पथ पर अग्रसर होती जा रही थी। आस-पास के वृक्ष, लताओं की दौड़-धूप जारी थी। वे एक-दूसरे से होड़ लगा रहे थे। दोनों ओर खेतों की हरियाली, अंगूर की लताएँ, मनहर पर्वत-मालिकाएँ, बनराजी मन को बहुत आकर्षित कर रही थीं। अतृप्त नयनों से इस शोभा को निहारता हुआ रात की चिन्ता को भुलाता जा रहा था। ग्रामों के भवन रंग-बिरंगे किन्तु साथ ही अपनी अभिनवता लिये, सहज दृष्टि को आकर्षित किए बिना नहीं रहते थे। द्वारों पर, खेतों पर, भवनों की गैलरियाँ या वायु-वाहिनियों पर विविध रंगों के कुसुमों की लताएँ, गमले आदि योरोपीय ग्रामीणों की सुरुचि और कला-प्रवीणता का प्रदर्शन करते हुए हृदय पर एक हल्की-सी मोहक मुद्रा अंकित करते हैं, जाते थे।"[2] इसी प्रकार ठाकुर गदाधरसिंहजी राजतिलक संवाद का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"नवल वसंत के आगमन से जिस भाँति समस्त वृक्षावली नये-नये पत्र-पल्लवादि से हास्यमयी हो जाती है, नन्हीं-नन्हीं वेला, चमेली, नवेली आदि अपनी तनिक-तनिक-सी कलिकाओं को प्रातःकालीन मंद समीर के स्पर्श से जिस भाँति विकसित कर देती हैं, और कोकिल आदि पक्षियों को प्रलोभित करके तन्मय बना देती हैं, ठीक उसी भाँति विलायत में राजतिलकोत्सव के शुभ संवाद ने हम भारतवासियों को विकसित और प्रफुल्लित कर दिया।"[3] पं० मंगलदेव शर्मा ने अपनी जयपुर की यात्रा में पर्वत-प्रदेश के जल-कुण्डों की स्वर्णिम आभा प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। इस यात्रा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"मार्ग में ही सूर्य भगवान का मंदिर है। जलधारा मंदिर से आगे एक सुन्दर घाटी में नीचे उतरकर आती है। बड़ा ही मनोरम दृश्य है और प्रातःकाल तो जब सूर्यदेव अपनी सुकोमल सुनहली किरणों का प्रसार करते हुए घाटी के नीचे से दर्शन देते हैं तो समस्त पर्वत-प्रदेश, जलधारा और दोनों जलकुण्ड स्वर्णाभ हो उठते हैं। ऊँचे-ऊँचे शिखरों पर नागफनी और विशाल प्रस्तर-खण्डों के बीच कलोलें करते हुए

---

१. काश्मीर और सीमा प्रान्त—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० ४७
२. सागर-प्रवास—पंडित सूर्यनारायण व्यास, पृ० ६७
३. हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ०२

लंगूर बड़े भले दिखाई देते है।"[१] केदारनाथ चट्टोपाध्याय ने 'कवीन्द्र' के साथ ईरान की यात्रा में एक भावात्मक एवं सुन्दर चित्र का दिग्दर्शन कराया है—

"बाग में चिनारों की छटी हुई डालों पर हरे-हरे नये पत्ते लहलहा रहे थे। नरगिस, गुले मुहम्मदी, बनफशा, अनारकली वगैरह के फूलों से क्यारियाँ और रविशें जगमगा रही थीं। हवा खूब ठण्डी थी, मगर सर्दी की अधिकता की तीक्ष्णता उसमें नहीं थी। बुलबुलों ने गज़लें अलापना शुरू कर दिया था। शहर के बाहर चारों तरफ पीले रंग के घास-पात से खाली नगे पहाड़ों की दीवारों से घिरे हुए सख्त खेत हैं, और दूरी पर पर्वत-दुहिता, दुस्तर जाम की सफेद चोटी हीरे-जैसे तुषार का किरीट पहने हुए धूप में चमचमा रही थी।"

० ० ●

जो शीराज बुलबुल और गुलाब की लीलाभूमि था, जो शीराज साकी के प्यालों से ढुलकी हुई 'शीराजी' से सिंचा रहता था, जो शीराज गुलाब की सुगन्ध से सुरभित तथा सुरम्य महलों, मस्जिदों और कारवाँ सरायों से सज्जित था, जो शीराज सोने चाँदी, कालीन और लकड़ी की कारीगरी की भूमि था……।"[२] चट्टोपाध्यायजी इस यात्रा वर्णन में विदेशी काव्य द्वारा अधिक प्रभावित हैं, जिसकी छाप स्पष्ट ही है।

मसूरी शैल की सैर में वहाँ की नागिन-सी चक्करदार सड़कों एवं पर्वतमालाओं की हरित परिधानमयी लावण्यता का वर्णन करते हुए व्यासजी ने लिखा है—

"अब मसूरी के लिए हमारे मन में अनेक कल्पनाएँ उठ रही थीं। रास्ते की शोभा, पर्वत-पंक्तियों और नागिन की तरह बलखाती हुई मोटर रोड बड़ी मनमोहक मालूम हो रही थी। पाताललोक में हमारी कार ऊपर आसमान से स्पर्श करके बलखाती हुई चली जा रही थी। ज्यों-ज्यों ऊपर उठ रही थी, ऊपर की पर्वत-पंक्ति अपनी हरित परिधानमयी सुन्दरता से मन अनुरंजित कर रही थी। नीचे का दृश्य भी बड़ा सुहावना था।"[३] पर्वतीय दृश्यों को देखकर भावात्मक लेखक की तबियत मचल उठती है। इसी प्रकार का उदाहरण 'सुधांशु'जी की यात्रा में भी दृष्टव्य है। वाराह क्षेत्र की यात्रा में देखी गई सरिताओं का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"यहाँ की प्रातःकालीन शोभा बड़ी मनमोहक है। जहाँ तक दृष्टि पहुँच सकती है, सारी पहाड़ियाँ हरिद्वर्ण ही देख पड़ती हैं। कहीं-कहीं झरने पहाड़ के ऊपर से नीचे की ओर गिरते देख पड़ते हैं, और उस पर बाल-रवि की अरुण मंजुल किरणें सुन्दरता की पराकाष्ठा कर देती हैं। पहाड़ के नीचे की ओर प्रखर स्रोतस्विनी कौशिका घोर गर्जन करती हुई उत्ताल तरंगों के साथ बहती है। समीप ही

१. जयपुर—पं० मंगलदेव शर्मा—चाँद, जून १९३४
२. कवीन्द्र के साथ ईरान को—केदारनाथ चट्टोपाध्याय, विशाल भारत, सितम्बर १९३२, पृ० ५६९
३. मसूरी शैल की सैर—पं० सूर्यनारायण व्यास, सुधा, जुलाई १९३६, पृ० ५४१

कोका नदी की क्षुद्र, पर बलवती धारा चट्टानों से लड़ती-झगड़ती कौशिका का आलिंगन करती है। कौशिका भी उसका आलिंगन स्वीकार कर उसे सहर्ष हृदय से लगा लेती है।"[1] गिरीन्द्रनारायण सिंह ने शिमला के अंचल की यात्रा में वहाँ की प्राकृतिक छवि का अलंकारपूर्ण, भावात्मक वर्णन बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णित किया है। इनके इस वर्णन में हमें कहीं-कहीं दार्शनिकता का पुट भी प्राप्त होता है। देखिए—

"इस प्रदेश का सौन्दर्य यहाँ की स्त्रियों के कपोलों या नेत्रों में रहकर अंचल की ओट में छिपा नहीं है। इस प्रदेश का सौन्दर्य इसकी प्राकृतिक छवि में ही समाहित है। प्रातःकाल ही जब सूर्योदय होता है, भगवान भास्कर की प्रथम किरणें तरु-शाखाओं और शैल-शिखरों पर लोटती हैं, तब उसका प्रथम दर्शन होता है। सन्ध्या समय जब भगवान भानु धीरे-धीरे उतरकर सुदूर पर्वतों के अंचल में अपना मुख छिपा लेते हैं, उस समय जो आकाश सुनहला-रुपहला रूप धारण करता है, दिशाएँ उस विराट सौन्दर्य से पुलकित होती हैं। पीछे से शैल-शिखरों से धूप लड़खड़ाती हुई भागने लगती है, उस समय जो अपूर्व दृश्य उपस्थित होता है, वह सचमुच नेत्रों में चकाचौंध डाल देता है। अंधकारमयी रजनी में, सुनसान विभावरी में जब ऊपर आकाश में असंख्य तारिकाएँ अपनी झिलमिल ज्योति से उसे आलोकित करने का प्रयत्न करती हैं, नीचे दूर-दूर के पहाड़ों पर चारों ओर कुटिया से, या शहरों से दीपशिखाओं की झिलमिल आभा जब प्रतिद्वन्द्विता पर उतारू होती है, उस वक्त वह दृश्य देखने लायक होता है। फिर जब ज्योत्सनामयी यामिनी मे निशानाथ ऊपर हँसते हैं और उनकी हँसी नीचे विशाल वृक्षों की डाली-डाली में, पत्ते-पत्ते में, पत्थरों के छोटे-बड़े खण्डों मे और झरनों के जलस्रोत में प्रतिध्वनित होती है, अजलि भर-भर रजत-रश्मि रस चारों ओर बिखेरती है तो मनुष्य वह अकथ सौन्दर्य टकटकी बाँध कर न जाने कब तक देखा करता है। जब निशानाथ अपनी सुदूर यात्रा समाप्त कर मलिन मुख से पहाड़ों में लुकते-छिपते अपने इच्छित लोक की ओर प्रस्थान करते हैं, उस समय जो एक विचित्र सन्नाटा—एक अजब औदास्य चारों ओर फैल जाता है, वह अनुभव भी विचित्र ही होता है। फिर जब शरद ऋतु में शैल-शिखरों के कंठ में तुषारमाला पड़ती है और उसका दृश्य दूर-दूर से देख पड़ने लगता है या जब सारा-का-सारा प्रदेश हिमकण आच्छादित हो जाता है। वृक्ष, जल, थल और कण-कण में उसकी सत्ता विराजने लगती है, उसके विराट् सौन्दर्य का दर्शन होने लगता है, तब तो हृदय जिस अभिनव आनन्द से पुलकित हो उठता है उसका वर्णन भी असम्भव है। गर्मियों में जब वृक्षों के पत्ते झरने लगते हैं, डालियों मे नव पुष्प-पल्लवों का कल कूजन होने लगता है, भीनी-भीनी सुगन्ध से दिशाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं, तन-मन में घोर क्रान्ति होने लगती है।"[2] गिरीन्द्रनारायणजी ने प्रकृति को बड़े ही काव्यात्मक

१. बाराह क्षेत्र की यात्रा—लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु', सुधा, मई १९२८, पृ० ४०४

२. शिमला के अंचल में—गिरीन्द्रनारायण सिंह, माधुरी, वर्ष ८, खण्ड २, सं० ३, पृ० ४७५

रूप में देखने का प्रयत्न किया है, इसमें वे सफल भी रहे हैं। साथ ही यह यात्रा-वर्णन लेखक की उदार दृष्टि का परिचायक भी है।

भावात्मक अलंकारों से पूर्ण निबन्धों में लेखकगण भावावेश में आकर अपनी भावनाओं का एक तूफान-सा खड़ा कर देते हैं। उनके हृदय में रस की एक धारा-सी उमड़ पड़ती है जो उनकी लेखनी से कागज पर ढल पड़ती है। रामेश्वरदयाल दुबे 'हिमालय के अन्तराल में' अपनी यात्रा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"लारी हमें बहुत दूर ले जा चुकी थी। वह हरे-भरे खेतों और बेंत के वृक्षों के बीच में, पहाड़ी सड़क पर उछलती-कूदती-सी जा रही थी। आगे सड़क के किनारे हृदयहारिणी हरियाली से ललित-कलित अनार के मनोरम कुंज शीतल समीरण के मन्द-मन्द झोंकों में झूम रहे थे। हरियाली के बीच मौन मुसकान से मुखरित, कोमल कुसुम-कलियाँ किस रूप-राशि के अरुण अधरों को लज्जित न करती थीं! अस्ताचल पर उतरते हुए दिनकर की अन्तिम किरणों से आलोकित इन सजीव सुषमा के हरित कुंजों का दृश्य ही अनोखा और अद्भुत था। चीड़ के वृक्षों के नीचे खड़े होकर मैं जब कभी घाटी की ओर निहारता तो निहाल हो जाता। घाटी की दूसरी तरफ ढालो पर चीड़ का जगल रिमझिम फुहार मे झूम-झूमकर स्नान कर रहा था। बीच मे कही पर दूध से भी अधिक सफेद झरने झर-झर कर रहे थे और ऊपर बादल की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ शून्याकाश म तैरती हुई, आकर वृक्षो की चोटियाँ चूम रही थीं। सामने विस्तृत काश्मीर घाटी थी, जिसके एक कोने मे बादलों की द्वारपटी हटाकर प्रभाकर हँस रहा था, जिसकी सुनहरी दृष्टि का पवित्र प्रसाद पाकर बाईं ओर की हरी-भरी घाटी मे प्रकृति नटी ने इन्द्रधनुषी चीर पहन लिया और उसके सरस अधरों पर मधुर मुसकान थिरकने लगी। प्रकृति नटी की इतनी सुन्दर शोभा आज तक न देखी थी और न फिर कभी देखने को ही मिली। दिवाकर की चंचल चपल किरणों ने हरित विटपावली का सोता हुआ सौन्दर्य जगा दिया था, और वारिदों के व्योम से उतरकर उसके पल्लव-दलों के किनारे निर्मल मोती लटकाकर उसे और भी सुन्दर बना दिया था। इस मनोहर दृश्य ने मानस में सदैव के लिए अपना स्थान बना लिया।"[1]

मेवाड़ प्रदेश की यात्रा में उदयपुर की सौन्दर्य-छटा का जो दिग्दर्शन केदार-नाथ चटर्जी ने किया है, वह अनूठा है। देखिए—

"उदयपुर की यह सौन्दर्य-छटा कल्पना के भी बाहर है। कलकत्ता की तरह वहाँ ट्राम, बस आदि सवारियों का सुभीता न था, रहने का भी आराम न था, मगर फिर भी धूसर पर्वतो से परिवेष्ठित हरी-भरी उपत्यकता के गले में स्वच्छ नील ह्रदों की माला, उनके तट के तोरणों, गुमटियों और छतरियों से सुशोभित संगमरमर के विशाल प्रासाद और वक्षःस्थल पर रत्नों की तरह उज्ज्वल जगविलास आदि मन्दिर

---

१. हिमालय के अन्तराल में—रामेश्वरदयाल दुबे, सुधा, अक्तूबर १९४०

प्रतिक्षण में धूप ग्रौर छाया के परिवर्तन में उनका नवीन रूप, इन सब दृश्यों को देखते ही समस्त कष्ट सार्थक मालूम होते थे। दिल्ली के दीवान-ए-खास की तरह उदयपुर के लिए भी कहा जा सकता है—

ग्रगर फिरदौस बर रूए ज़मीनस्त।
हमीनस्त-ग्रो हमीनस्त-ग्रो हमीनस्त॥

ग्रर्थात्—

ग्रगर दुनियाँ में है जन्नत कहीं पर।
यहीं पर है, यहीं पर है, यहीं पर॥[1]

रायबहादुर हीरालाल श्रीनगर का वर्णन करते हुए लिखते है—

"वर्तमान नगर का कलेवर नक़शे का-सा जान पडता है, जिसमे ऊंचे-ऊंचे चिनार सफेदा के वृक्षों की कतारें, उद्यानों ग्रौर क्रीड़ास्थलों की हरियाली, डल झील के पानी की भरमार, वितस्ता (झेलम) की सर्प-समान वक्रगति, उसके किनारे-किनारे गाँवों की हर्म्यविली, मन्दिरों की सुनहरी, रूपहरी झलमलाहट, महलों, बंगलों ग्रौर बस्ती के मकानों की बाहुल्यता तथा चारों ग्रोर बर्फ से ढँके पहाडों की मेखला पेक्षक को मुग्ध कर देती है। मुँह से केवल यही निकल पडता है, 'धन्य श्रीनगर'।" इसी दृश्य को देखकर कविवर श्रीधर पाठक का उद्गार यों निकल भागा—

धन्य नगर श्रीनगर वितस्ता कूलनि सोहै।
पुलिन मौन प्रतिबिम्ब सलिल शोभा मन मोहै॥[2]

पंडित पद्मसिंह शर्मा के गाँव की यात्रा का वर्णन करते हुए पं० श्रीराम शर्माजी कल्पना के भावलोक मे पहुँचकर मसूरी का वर्णन करने लगते है। उनकी रचना में ग्रलंकारों की झड़ी लग जाती है—

"परेड से मसूरी का दृश्य क्या है मानों कविता-कामिनी काव्य-रचना के लिए प्रोत्साहन कर रही है। बिजली के झिलमिलाते बल्ब दीपावली की शोभा नहीं देते। वे तो मसूरी नगर की प्रेमिका की करधनी में जटित मणियाँ हैं। परेड से मसूरी स्वर्ग की परियों की क्रीड़ाभूमि है, हिमालय की छवि का एक काव्यमय दृश्य ग्रथवा प्रकृति-सुन्दरी के मद-भरे रसीले नयन।"[3] भुमरा के प्रस्तर-खण्डों की यात्रा का वर्णन करते हुए लक्ष्मीकांत पाठक 'कान्त' ने लिखा है—

"मनोहारिणी वन्य-छटा का ग्रानन्द लेते हुए हम लोग मन्दिर के निकट पहुँचे। शिवजी के उस मन्दिर के ध्वंसावशेष को प्रकृति-परी ने ग्रपने ग्रंचल में शरण दे रक्खा है। सुन्दर ग्राम्रहरित तथा ग्रामलक वृक्ष ग्रब भी उसकी ग्रतीत गौरव-गाथा कह रहे हैं।"[4] कान्तजी के इस वर्णन मे पुरातत्व का प्राधान्य है।

---

१. मेवाड़-दर्शन—केदारनाथ चटर्जी—विशालभारत, अगस्त १९३०
२. श्रीनगर—रायबहादुर हीरालाल—सुधा, अगस्त १९३१
३. पं० पद्मसिंह शर्मा के गाँव की यात्रा—पं० श्रीराम शर्मा, सुधा, जनवरी १९३४
४. भुमरा के प्रस्तर-खंडों में—लक्ष्मीकान्त पाठक, सरस्वती, अक्तूबर १९४२

सन्तरामजी शिमला-शैल की पैदल-यात्रा का वर्णन करते हुए मीलों बिखरे रेत के मैदान का दृश्य भी उपस्थित करते हैं—

"नीचे भूमि पर पहाड़ी रेत की मीलों तक फैली हुई स्वच्छ चादर और ऊपर काँस के श्वेत फूलों का लहराता हुआ वन, शरद की चाँदनी रात में ऐसा प्रतीत होता है मानों क्षीर-सागर उमड़ रहा हो। गाँव के चारों ओर हरियाली है। धूलि का नाम तक नहीं। पावस में नहाई-धोई पहाड़ियाँ बड़ी सुन्दर दीखती हैं।"[1]

कार्तिकप्रसादजी खत्री अपनी काश्मीर-यात्रा में वहाँ के पर्वतों और सरिताओं का शब्दालंकारयुक्त माधुर्यपूर्ण वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"श्री कामाक्षा तीर्थ और आसाम देश के दुर्गम दुरारोह उत्तुंग भूधर शृंग और गहन वन, सरस, सरसी निर्झर-निर्झरी, विविध कुसुम भरी दरी आदि चित्त चमत्कारी मनोहारी अद्भुत अलौकिक, अकथनीय प्राकृतिक शोभामयी विधाता की कौशलपूर्ण लीलाभूमि को निहार, चकित चित्त उन स्थानों में ऐसा लुब्ध हो गया था कि वहाँ से उतर आने पर भी हृदय-पट पर खचित व चमत्कारिक चित्र आठों पहर मेरे नयनों के आगे झूला ही करता और मन-पखेरू वैसे ही अटवी में विचरने को उत्कंठित रहा करता।"[2] अपनी शिकारी यात्रा का वर्णन करते हुए पं० श्रीराम शर्माजी प्राकृतिक दृश्यावली का भी वर्णन करते हैं—

"एक मील तक हमारा मार्ग नदी के किनारे-किनारे था। भागीरथी की सहायक भिलगना धनुषाकार में उछलती-कूदती, अपने सहवासी शैल-शिखरों, द्रुमदलों और अलि-चुम्बित पुष्पों को अंतिम प्रणाम और कदाचित हमारा तिरस्कार करती हुई अपने प्यारे से मिलने के लिए दौड़ी जा रही थी। यों तो प्राकृतिक दृश्य नयनाभिराम था।"[3] माझुली की यात्रा में वहाँ सौन्दर्यपूर्ण वातावरण को देखकर अज्ञेयजी लिखते हैं—

"नागकेसर के फूल तब पूर्ण विकसित हो चुके थे, पंखुड़ियाँ झरने लगी थीं और केसर की मादक गंध छोटी पहाड़ियों और उपत्यकाओं को लाँघती हुई शून्य में फैल रही थी। तीसरे पहर बड़े-बड़े शुभ्र बादल उठते थे और बच्चों की तरह नाना प्रकार के जन्तुओं का रूप धारने की क्रीड़ा करते हुए आकाश के प्रांगण के पार निकल जाते थे। मंदिर श्रेणी के नीचे बिछे हुए सरोवर का नीला विक्षुब्ध हो उठता था और मानों उसे परचाने के लिए किनारे के अशोक वृक्ष के दो-चार खिले फूल झरकर उस पर आ गिरते थे......।"[4] बिलीसी के सांस्कृतिक स्थान का वर्णन करते हुए यशपालजी ने लिखा है—

---

१. शिमला-शैल की पैदल यात्रा—संतराम—सरस्वती, जुलाई १९४२
२. काश्मीर यात्रा—कार्तिकप्रसाद खत्री—हिन्दी गद्य-पद्य संग्रह, पृ० ४२
संग्रहकर्ता—चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण सन् १९१८ ई०
३. शिकार—पं० श्रीराम शर्मा, पृ० ६४
४. अरे यायावर रहेगा याद—सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', पृ० १६३

"यों तो प्रकृति ने ही स्थान को रमणीक बनाया है, उस पर मनुष्य के लिए सम्भव सभी उपायों का उपयोग भी हुआ है। खूब प्रशस्त कुंज और क्यारियाँ, सदाबहार पेड़-पौदों से भरी हुई हैं और स्थान-स्थान पर फव्वारे। स्टेशन के सामने स्तालिन की एक विशालकाय मूर्ति भी बनी हुई है। उद्यान के घास के बड़े-बड़े मैदान हैं जहाँ फुटबाल इत्यादि खेला जा सकता है···बाग के समतल ही आस-पास फैली हुई नीलंग्र पहाड़ियों पर जमी हुई बरफ भी ऐसी ही मालूम होती है कि श्वेत स्फटिक के दर्पण बाग की शोभा उभारने के लिए जमा दिए गए हों। बाग, बनस्पति और हिम के मेल से बनाया गया जान पड़ता है। नगर से ढाई हजार फुट ऊँचे उठ जाने की बात भी नहीं भूलती क्योंकि बिलीसी नीचे कालीन की तरह बिछा दिखाई देता रहता है। यही अनुभूति होती है कि स्वर्ग की ओर—अलौकिक स्थान की ओर उठ आए हों, वही अलौकिक स्थान कोहकाफ की परियों का देश जिसकी दंतकथाएँ संसार-भर में प्रसिद्ध है और जो पच्चीस वर्ष पूर्व मनुष्य के चरणों के लिए दुर्गम और कल्पना से ही प्राप्य था, आज सचमुच बिलीसी के सर्वसाधारण के लिए क्रीड़ा-स्थल बन गया है।"[1] यशपम्लजी की विदेश यात्रा का यह वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

संक्षेपतः भाव-प्रधान तथा आलंकारिक शैली के लेखकों की कृतियाँ अत्यन्त हृदयस्पर्शी तथा मनोरम हैं। प्रधानतया इन लेखकों में एक तन्मयता, उल्लास, मस्ती का वातावरण दृष्टिगत होता है। इन्होंने प्रकृति को अपनी पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया है और उसके नाना रूपों का बहुमुखी अंकन प्रस्तुत किया है। इन चित्रों में लेखकों की सूक्ष्मदर्शिता लक्षित होती है।

आलंकारिकतापूर्ण शैली में यद्यपि कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कृत्रिमता भी दृष्टिगत होती है, तथापि भावोल्लास को व्यक्त करने के लिए आलंकारिकता, कवित्वमयता में सहायक होती है। वास्तव में भावुकता को चरितार्थ करने में ही यह शैली सहायक होती है।

स्वदेश यात्राओं के उदाहरण ऐसे लेखकों ने विशेष सुन्दर तथा मार्मिक चित्रित किए है, विदेश यात्रा के दृश्य कुछ कृत्रिम-से लगते हैं।

सामूहिक रूप से देखने पर ऐसा लगता है कि इस शैली के लेखक और उनकी कृतियाँ प्रचुर हैं—इनमें मनोरमता तथा सौन्दर्य-भावना भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है।

३. **वातावरण-प्रधान**—वातावरण-प्रधान यात्रा-साहित्य के निबन्धों में लेखक अपने यात्रा-वर्णन में भावों एवं विचारों को अधिक महत्व न देकर वातावरण-चित्रण को प्रधानता देता है। इस प्रकार के निबन्ध हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः निकलते हैं। इन निबन्धों की विशेषता यही है कि भावुक लेखक अपने वर्णनों के

---

१. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० २५४

बीच-बीच अनुभूति से विभोर होकर अनेक प्रकार के प्रभावशाली दृश्यों का तन्मयता-पूर्ण अंकन करने लगता है। ऋतु-वर्णन, पृष्ठभूमि निर्माण, प्रातः, सायं, गोधूलि, रात्रि आदि दृश्यों के मार्मिक चित्र, करुण, कोमल, शृंगारयुक्त, भयंकर, आतंकपूर्ण वातावरण का निर्माण अधिकतर इन लेखकों द्वारा किया गया है। इन लेखकों की शैली सरल, सुबोध, निराडम्बर ही विशेषतः पाई जाती है, यद्यपि कई लेखकों ने आलंकारिक, रूपकमय चित्र भी उपस्थित किए हैं।

कुछ उदाहरण यहाँ पर उपस्थित किए जाते हैं—बागेश्वर में सरयू नदी के दर्शन करके स्वामी सत्यदेवजी भक्ति-भावना से प्रेरित एक दृश्य की अवतारणा करते हैं—

"अहा ! क्या सुन्दर दृश्य है ? सरयू के किनारे पश्चिम की ओर पीठ कर खड़े होने से सामने निकट चण्डी पर्वत के दर्शन होते हैं। उसके ऊपर चण्डी महारानी का मन्दिर है। पीछे पश्चिम में नील पर्वत अपनी छटा दिखलाता है। इस पर भगवान् नीलेश्वर विराजमान है। पूर्व से भागीरथी की धारा आकर सरयूजी का चरण छूती है। भागीरथी और सरयू मिलकर जहाँ गोमती से भेंट करती हैं वहाँ संगम पर बाघनाथजी का प्राचीन मन्दिर है।"[1]

पंडित देवीदत्त शास्त्री अपनी काश्मीर यात्रा के प्राकृतिक दृश्य के आलंकारिक शैली में अभिव्यक्त वातावरण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

"पक्षीगण तो तरुवर-शिखरों की ऊँची-से-ऊँची डालियों पर बैठे चहक-चहक कर मधुर गीत सुना रहे थे। बेल और लताएँ अपने चिर प्रेमी तरुवरों पर लिपटी हुई प्रेमालिंगन का स्वर्गीय आनन्द ले रही थीं। लता-विपटों के इस लोल-कल्लोल, हाव-भाव और मूक-हास्य को देखकर नीरस हृदय में भी स्निग्ध, सात्विक स्नेह की अनुभूति का उदय हो जाता था। फल-पुष्प से लदी हुई, उत्तुङ्ग वृक्षों की शाखाएँ निर्घोषयुक्त प्रवहणशीला चिनाब निमग्नणा में झूम-झूमकर उठती और झुकती थीं।"[2]

ठाकुर गदाधरसिंहजी ने अपने ग्रन्थ 'चीन में तेरह मास' में पैकिंग पर चढ़ाई के समय का वातावरण भी इसी प्रकार आलंकारिक शैली में वर्णित किया है। देखिये—

"पीकिन चतुर्वेष्टन से मानो अग्निवृष्टि का मेघमण्डल-सा उमड़ पड़ा। धुआँ के बादलों से सचमुच सूर्य भगवान बिलकुल मन्द पड़ गए। तोपों के गर्जन, रूसी संगीनों की चमकदार बिज्जु-छटा, धूम्रमय घनघोर घटा और अविराम अग्निवर्षा को देखकर इन्द्र महाराज का पावस भी बंगलें झाँकता ही रह गया।[3]

१. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १६
२. मेरी काश्मीर यात्रा—पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० ४०-४१
३. चीन में १३ मास—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ७५

इसी प्रकार स्वदेश यात्रा में संतरामजी ने काश्मीर के वातावरण-प्रधान वर्णन में लिखा है—

"यदि इसी जन्म में स्वर्ग देखना हो तो काश्मीर जाइये। अपनी मनोहर दृश्यावली और नैसर्गिक विभूति के कारण काश्मीर एक आश्चर्य भूमि है। हिम से सदा ढँके रहनेवाले गिरिश्रृंग, चीड़ और देवदार के घने जंगलों से हरी-भरी पर्वत-मालाएँ, दिगन्तव्यापी श्यामल वनराज, मखमल के समान कोमल लम्बी घास की विस्तीर्ण चरागाहें, नृत्य करते हुए झरने, गाती हुई सरिताए, मीठे जल के सरोवर, साँप के सदृश बलखाते हुए नाले, गगनचुम्बी सफेदे के पेड़ों की पंक्ति-बद्ध सुन्दर सड़कें, स्वादिष्ट फलों और मनोहर पुष्पों की रम्य वाटिकाएँ—इन सब चीजों का अपूर्व संग्रह जैसा काश्मीर में मिलता है, वैसा संसार में किसी भी दूसरी जगह नहीं मिलता।"[1]

प्रभातकालीन वातावरण का वर्णन करते हुए कृष्णवंशसिंह बाघेल ने लिखा है—

प्रभातकालीन दृश्य स्वर्गमय था। पहलगाँव के चारों ओर के हिमाच्छन्न शिखर भगवान भुवन-भास्कर की किरणों से सुनहला वेष धारण कर रहे थे। पत्थरों को बहाती तीव्रगामिनी 'लम्बोदरी' नदी के दर्पणवत् स्वच्छ सलिल पर सूर्य-रश्मियाँ खेल रही थी। वही प्रखर कर्क के सूर्य यहाँ कोमल किरणों से काम ले रहे थे। वह धूल और दुर्गन्ध आदि से रहित पवित्र पवन, वह हरे-भरे वृक्ष, सम्पूर्ण संसार सुनहली रश्मियों से चमाचम हो रहा था।"[2]

"पं० सूर्यनारायण व्यास द्वारा अपनी जलयात्रा में सन्ध्या के एक सुन्दर वातावरण का दृश्य उपस्थित करते हुए, रूपकात्मक आलंकारिक शैली में वातावरण की सृष्टि की गई है—

"शाम हुई, भगवान भुवन-भास्कर अस्त होने चले। सागर की निर्मल लहरों पर एक अजीब दृश्य बन रहा था। कहीं-कहीं से अभ्राच्छादित आकाश में रक्तिम किरणें दूर जल-तल पर चित्रकारी कर रही थीं, तो कहीं से लहर उछल-उछलकर रंग-बिरंगी धाराएँ बनाकर प्रकृति की अपूर्व चित्रकारी बना देती थीं। अब रात का अँधेरा दूर से घुँघराली चादर-तरंगों को ओढ़ता हुआ चला जा रहा था। तारों की शोभा इस रजनी की साड़ी पर अजीब थी। लोल लहरों पर मानों सितारे जड़ी साड़ी हवा से उड़कर बार-बार चमक रही है। सागर ने रत्नमय अम्बर परिधान किया था।"[3]

---

१. स्वदेश-विदेश यात्रा—संतराम, पृ० १
२. काश्मीर और सीमाप्रान्त—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० १४
३. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनाराय व्यास, पृ० १३

सांध्यकालीन नवीन बेला के आगमन की अपूर्व शोभा का वर्णन करते हुए ठा० गदाधरसिंहजी ने भी उत्सव-सम्बन्धी वातावरण को सजीवता के साथ अंकित किया है—

"अब संध्या हुई। दीपावलि के चमत्कार ने सूर्यलोक को भी एक बार मात कर दिया। इस समय मकानों, द्वार-दीवारों, जनपथों के वन्दनवारों और महराबों की अपूर्व शोभा थी। दिन में जो बेल-बूटे मणि-माणिक्य के फूल-से लटकते हुए दीख पड़ते थे, रात्रि में वह सब प्रकाशित होकर चारों ओर किरणें बिखेरने लगे। ठौर-ठौर पर प्रकाशित शुभ सम्वाद राजा-प्रजा दोनों के लिए कल्याणवाद आदि की शब्दावली दर्शक के हृदय को अलग ही खींचे लेती थी।"[1]

पंजाब-यात्रा में पं० रामशंकर व्यास ने पर्वतीय प्रदेश के प्राकृतिक दृश्य का सुन्दर वातावरण उपस्थित करते हुए लिखा है—

"निशामुख में पर्वत के ऊँचे-ऊँचे शिखरों के बीच से चन्द्रमा का उदय मनोहर था, पूर्णोदय होते-होते कई कलाएँ दिखलाई दीं। उस समय आकाश स्वच्छ था। पर्वत नीलवर्ण हो रहा था। उसमें से चन्द्रमा का नखरे के साथ मुँह निकालना चित्त को लुभाता था। चन्द्रमा के ऊँचे होने पर प्रतिबिंबित जल-तरंगें कांचन-द्युति धारण करती थीं। गंगाजी की तीव्र धाराएँ चाँदनी की चादर ओढे हुए मन को डिगा रही थीं। ज्यों-ज्यों चाँदनी चढ़ती, त्यों-त्यों गंगाजी की शोभा बढ़ती और पहाड़ की छवि दूनी होती जाती थी।"[2]

अपनी लद्दाख यात्रा में राहुलजी वहाँ के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"चारों तरफ घेरे हुए पहाड़—जिनके पीछे की ओर हिमाच्छादित शिखरवाले पर्वत हैं—बीच में जगह-जगह लम्बे-लम्बे जलाशय, सर्प की भाँति कुटिल गति की जेहलम, दूर तक, शहर के बाहर भी, सेब, बादाम आदि के बागों में बने हुए छोटे-छोटे सुन्दर बंगले, हरी घासों से ढँके लम्बे-लम्बे क्रीड़ा-क्षेत्र, सुन्दर चिनार वृक्षों की मधुर शीतल छाया के अन्दर हरी घास के मखमली फर्शोंवाली सुभूमियाँ देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं।[3]"

शिमला का वर्णन करते हुए गिरीन्द्रनारायणसिंहजी ने निम्नलिखित वातावरण-चित्रण में अपनी भावना (Mood) को अंकित करने का सफल प्रयास किया है—

"दिनमणि जब सुदूर पर्वतों में लय होने लगते हैं, उस समय जो एक औदास्य का अनुभव होता है, सुनहले-रुपहले वस्त्राभूषणों से आकाश अपना शृंगार करता है

१. हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ० २३५
२. पंजाब यात्रा—पं० रामशंकर व्यास, पृ० ७
३. मेरी लद्दाख यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५३

पर्वतों की चोटियों से किरण लपटती-झपटती भागने लगती है—वह दृश्य, वह छटा, वह छवि गजब की होती है। फिर कृष्णपक्ष की अँधेरी रात में जब आकाश में असंख्य तारकपुंज अपना झिलमिल प्रकाश करते हैं और शिमला स्टेशन से शहर भर की अबोध पर्वतमाला के जर्रे-जर्रे से फूटकर निकलती हुई बिजली-वृत्तियों का, उज्ज्वल दीपशिखा का मनोमुग्धकरी दृश्य, उनका उपहास-सा करता हुआ देख पड़ता है—तब तो दर्शक उसकी गजब की चकाचौध को न जाने कब तक प्यासी आँखों से देखता रह जाता है।"[1]

इसी प्रकार सान्ध्य-काल का वर्णन करते हुए राजेश्वरप्रसादजी ने भी विषादमय तथा आतंकपूर्ण वातावरण का चित्र उपस्थित किया है—

हम लोग पंचतरनी उस वक्त लौटे थे, जब सन्ध्या होने जा रही थी—

"धूसर सन्ध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को।
अंधकार अवसाद कालिमा लिए रहा बरसाने को॥

अहा, उस समय की वह प्राकृतिक छटा हमें कभी न भूलेगी, जो कुछ काल बाद पहाड़ की चोटियों पर नज़र आई! नौ बज चुका था। निबिड़ अंधकार का साम्राज्य था, पर्वत प्रेतों की तरह खड़े थे, मौन अस्पष्ट; पर उनके शिखर पर अब भी प्रकाश छाया हुआ था, ज्योति विद्यमान थी, मानों किसीने आग जलाई हो।"[2]

गर्मी का वातावरण अंकित करते हुए पृथ्वीपालसिंहजी लिखते हैं—

जून का महीना था। कड़ाके की गर्मी पड़ रही थी। पंखा हाँकनेवाले के हाथ की नसें ढीली पड़ गईं, खस की टट्टी छिड़कनेवाले के सारे करम हो गए, मनों बरफ गल गई, अनेकों शरबत-सोडे की बोतलें ढरक गईं, परन्तु बेकली न मिटी। ऐसी गजब की गरमी मेरे होश में तो कभी पड़ी न थी। दिन में भयंकर लू चलती थी। याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं—लू नहीं बहती थी, आग बरसती थी। लोग राह चलते झुलस जाते थे, रेलगाड़ियों में से भुने हुए कबाब की तरह निकाले जाते थे। पानी का एक छींटा भी न पड़ा था। भुवन-भास्कर बड़ी शान से तप रहे थे, यह उन्हीं की सारी कृपा थी, उन्हींकी करतूत थी। मैं तो इस गर्मी से व्याकुल हो उठा। अपनी जान लेकर भाग खड़ा हुआ। मेरे बड़े भाई ने मेरा साथ दिया। हम दोनों मसूरी-यात्रा के लिए निकल पड़े।"[3]

भेड़ाघाट के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर कोई भी भावुक रह भी कैसे सकता है। यही बात नर्मदाप्रसाद खरे के साथ भी घटित हुई और उस घाट के सुन्दर वातावरण का अवलोकन कर उन्हें लिखना ही पड़ा। देखिए—

---

१. शिमला के अंचल में—गिरीन्द्रनारायणसिंह, माधुरी वर्ष ८, खंड २, सं० ४, पृ० ४८५
२. मेरी अमरनाथ की यात्रा—राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह, सुधा, अक्तूबर १९३२, पृ० ३२७
३. मेरी शैल यात्रा—पृथ्वीसिंह, बी० ए० एल-एल० बी०, सुधा, नवम्बर १९३२ ई०, पृ० ४६९

"आँखें यहाँ थकती नहीं। शरदकाल की चन्द्रज्योत्सनामयी रजनी थी। इसकी रम्यता और भव्यता और भी निखर पड़ी थी। प्रपात का कलकल निनाद वशीकरण का काम कर रहा था। काली चट्टानों के मध्य में नर्मदा का शुभ्र सलिल ऐसा दृष्टि-गोचर होता था जैसे काले घुँघराले केशों के बीच किसी तरुणी का चन्द्रानन। कल-कल ध्वनिमय प्रकृति संगीत बिरहो की वीणा के से गान सुना रहा था।"[1]

काश्मीर-यात्रा का वर्णन करते हुए वहाँ के नैसर्गिक दृश्यों से पूर्ण वातावरण का एक दृश्य-विधान श्री गोपाल नेवटियाजी ने अत्यन्त सरल तथा सीधी भाषा में प्रस्तुत किया है, यद्यपि वातावरण सृष्टि में उससे कोई बाधा नही पड़ती। वे लिखते हैं—"यह रमणीक उद्यान अपने चारों ओर के प्राकृतिक दृश्यों के कारण और भी चित्ताकर्षक हो गया है। उधान के पीछे की ओर महादेव गिरि के उच्च शिखर हैं। सामने डल झील के विशाल पाट में उसके उस ओर खड़ी पीर पंजाल श्रेणी की हिम-मंडित गिरिमाल झाँक रही है।···उद्यान की उस बारहदरी में बैठकर उद्यान के कोमल किसलय और मुकुलित पुष्प-राशि पर और महादेव गिरि की हिमाच्छादित उज्ज्वल धवल चोटियों पर और सामने उस विशाल झील में कमल वन पर, खिली हुई चाँदनी को देखने में कितना आनन्द है, कितना आकर्षण है!"[2]

अज्ञेयजी अपनी यात्रा में जंगलों के वातावरण को प्रस्तुत करते हुए लिखते है—"जंगलों के बीच-बीच में खुला घास-भरा प्रदेश आ जाता, जिसमें महाकाय सेमल के धवल गात पेड़ मानों आगामिष्यत् रक्त-प्रसूनों की सुलगाती हुई पूर्वानुभूति से कंटकित हो रहे थे, और कहीं-कहीं किंशुकों के झुरमुट। कुछ ही दिन में इनमें आग खिल जायगी, पहाड़ियों के पार्श्व को चिपटती हुई, लपलपाती एक के बाद एक रुख को लीलती हुई ऊपर तक फैल जायगी, आर ब्रह्मपुत्र का बालुका के पीले उत्तरीय में लिपटा हुआ नील गात, मानों वसन्त-श्री के लाल चुम्बनों से मुद्रांकित हो उठेगा।"[3]

उक्त उद्धरणों से भी यह स्पष्ट है कि प्रकृति के मुक्त रूप से प्रभावित हो कर ही यात्रियों ने वातावरण-प्रधान दृश्यों की रचना की है। भारतीय चित्रों में काश्मीर के ऊपर अधिक वर्णन मिलते हैं, यद्यपि अन्य दृश्यों के चित्र थी बड़ी सफलता के साथ उपस्थित किये गए है, पर्वतीय प्रदेश, भेड़ाघाट, मसूरी, तिब्बत आदि की निरावृत्त प्रकृति पर लेखकों की दृष्टि रही है।

वातावरण-प्रधान रचनाओं में काव्य-तत्व की प्रधानता है यह स्पष्ट ही है, अतएव ऐसी रचनाओं में वही लेखक अधिक सफल हुए हैं जो कवि-हृदय हों।

---

१. भेड़ाघाट की गोद मे—नर्मदाप्रसाद खरे, सरस्वती, सितम्बर १९३२, पृ० ३२३
२. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ५६
३. अरे यायावर रहेगा याद—अज्ञेय, पृ० ११

दार्शनिक निबन्ध

दार्शनिक निबन्धों की हिन्दी यात्रा-साहित्य में प्रचुरता नहीं है। वास्तव में यात्रा-साहित्य की वर्णनात्मक प्रवृत्ति में पूर्णतया दार्शनिक शैली का उपयोग संभव भी नहीं है। यात्रा के वातावरण अथवा व्यक्तिगत प्रवृत्ति के अनुसार निबन्धकार अपने निबन्धों में दार्शनिकता का समावेश करता है, यह नियोजन वर्णन-धारा के बीच-बीच में आवश्यकतानुसार होता चलता है। इसके अतिरिक्त लेखक की विद्वत्ता का प्रभाव भी उसकी कृतियों पर पड़ता हुआ दृष्टिगत होता है। दर्शन का विद्वान् लेखक स्वभावतः विशेष गम्भीर दार्शनिक व्याख्याएँ करता चलता है।

'सोलन के पहाड़ों में' यात्रा करते हुए वहाँ के दृश्यविधान के योग से उत्पन्न दार्शनिक भावों का गंभीर वर्णन करते हुए शिवनारायण टंडनजी लिखते हैं—

"इस बाह्य क्षेत्र दर्शन के योग से हमारे हृदय में निवास करनेवाले विश्व-ब्रह्माण्ड पुरस्थित पुरुषोत्तम के दर्शन होना दुर्लभ है। भागवतगीता में इस देह को नवद्वारपुर कहते हैं। श्रुति में भी देह के लिए पुर की संज्ञा है। परमात्मा का इस देह में अधिष्ठान होने के कारण उसे पुरिशय पुरुष कहते हैं। भागवत में पुरंजय की कथा में रूप को देह परस्थित आत्मा का तत्व कहा है। भगवान् इस देह को क्षेत्र कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यमिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

(भागवतगीता, अध्याय १३, श्लोक १-२)

यह देह नवद्वार मुक्त है। इससे बाहर निकलने पर हमारा ज्ञान और चैतन्य बहिर्मुखी होता है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दो मार्ग से चित्त बाहर जाकर बाह्य विषय ग्रहण करता है। उसे यदि पुनः अन्तर्निविष्ट न किया जाय तो अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त नहीं हो सकती, और देह पुरस्थित परमात्मा के दर्शन भी दुर्लभ ही समझना चाहिए।"[1] स्पष्ट है कि लेखक ने केवल बाह्य दृश्य का सूत्र पकड़कर गीता के आधार पर जीवन की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। अपनी काश्मीर यात्रा का साहित्यिक एवं दार्शनिक भावधारा के साथ वर्णन करते हुए 'विरक्त'जी लिखते हैं—

"काश्मीर केशर के साथ-साथ कविता की भी जन्मभूमि है। जिस प्रकार यह व्याकरण और दर्शनशास्त्र का क्रीड़ास्थल है, उसी प्रकार काव्य-कला का भी ललित लीलागार है। विद्वान कवियों ने अपनी प्रिय वसुन्धरा को चित्र-विचित्र रंगों

१. सोलन के पहाड़ में—शिवनारायण टंडन—वीणा, फरवरी १६३८, पृ० ३३०

से, सुन्दर नदियों से, फूल-भार से विनम्र अनेक तरुवरों से, सुगन्धमय कुसुमों तथा अन्य रमणीय पदार्थों से जिस प्रकार सुशोभित किया है वैसा कदाचित स्वयं प्रकृति-देवी ने भी किया है। महाकाव्य एक फव्वारा है, जिससे विज्ञान और आनन्द के जल-बिन्दु सदा झरते रहते हैं। काव्य-रस अधिक मधुर है अथवा सुधारस—इसका विवेचन गम्भीर है। सुखी मनुष्यों का जो समय अत्यन्त सुख से बीता है, काव्य उसका एक स्मारक लेख है, अथवा अविद्यामय लोक का आलोक है। वह इस जगत को अजर अमर बना देता है।"[1] लेखक ने उक्त उद्धरण में काव्यमय दार्शनिकर्ता का सहारा लेकर उसे आलंकारिक शैली में रूपक के आधार पर व्यक्त किया है।

श्री गोपाल नेवटिया काश्मीर की प्रकृति में दार्शनिक भावों का रूप देखकर लिखते हैं—

"काश्मीर का कलेवर प्रकृति के निरुपम सौन्दर्य से अलंकृत है। उस अज्ञात विश्व-सृष्टा की कमनीय कृति नदी, नाले, गिरि, शिखर और गहन वन के स्वरूप में यहाँ विद्यमान हैं। वह सौन्दर्य तो अद्भुत है, वर्णनातीत है। उस प्रकृति-निर्माता कलाकार ने जहाँ हरे-भरे वन, हिम-मंडित पर्वतमाला और विस्तृत जलराशि से पृथ्वी को अलंकृत किया है, वहीं उसी सौन्दर्य के बीच उपवन का निर्माण करके मनुष्य ने भी अपनी कला का परिचय दिया है।[2] उक्त उद्धरण में लेखक का प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है। उसकी रसात्मक दार्शनिकता के दर्शन भी इसमें होते हैं।

ठाकुर गदाधरसिंहजी अपनी एडवर्डड-तिलक (विलायत) यात्रा का वर्णन दार्शनिक भाव-भंगिमा द्वारा प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं—

"हमने अपने देश में खड्गपाणि, दुर्ग-विदारिणी मातेश्वरी दुर्गा का दर्शन करके मन को एक ही समय अनेक रूपों से आप्लावित मानों त्रिवेणी मज्जन कराया है। जब व्यक्ति या जाति की सरल प्रकृति रूपी देवी विराट् पराक्रम रूपी सिंह पर आरोहण हेतु प्रचंड रूप दर्शन देती थी, तब मन में कितने ही रसों का आविर्भाव होता और निस्तेज व्यक्ति भी कर्मवान् हो जाता था। इसी भाँति विद्या और ज्ञान-विज्ञान रूपिणी सरस्वती बुद्धि और विवेक द्वारा नीर-क्षीर विलगकारी हंस पर सवार होकर अपनी सौम्य, शान्त और जनमन मोदकारी रूप का दर्शन देती थी। तब हृदय और मन ज्ञान के प्रकाश से आलोकमय हो जाता और समस्त संसार हाँ, सृष्टि और सृष्टा दोनों ही हस्तामलक हो जाते थे।"[3] भारतीय संस्कृति पर

---

१. मेरी काश्मीर यात्रा—पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० १२३-२४
२. काश्मीर—श्रीगोपाल नेवटिया, पृ० ५०
३. हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ६५

आधारित भक्त्यात्मक दृष्टि उक्त उद्धरण में स्पष्ट है। अपनी यात्रा से लौटते समय की दार्शनिक भावधारा का वर्णन करते हुए अज्ञेयजी ने लिखा है—

"बड़े-बड़े श्वेत हरित पत्थर वैसे ही दूध और जहरमुहरे के घोल-सा पानी, फेन के आवर्त और वन सरस्वती का अप्रतिहत संगीत। घण्टे-भर बाद जब वहाँ से चलने को उठे, तब मैं बार-बार लौट-लौटकर देखता रहा। स्वर के साथ-साथ प्रपात का चित्र मेरे अन्तस में बस गया था, और मैं मानों मुड़-मुड़कर एक बन्धु को आश्वासन दे रहा था कि फिर आऊंगा···वह 'फिर आना' नहीं हुआ है, न जाने कभी होगा कि नहीं, किन्तु वह प्रतिश्रुति झूठ नहीं है, क्योंकि वह मनोभाव झूठ नहीं है। 'फिर आना' वास्तव में कभी होता ही नहीं, क्योंकि काल की दिशा में लौटना कभी नहीं होता। प्रत्येक आना नया होता है, घटना की आवृत्ति होती है, अनुभूति की नहीं···अनुभूति की आवृत्ति पुनरनुभूति केवल स्मरण में है···।"[1] शून्यवाद की-सी विषादमयी दार्शनिकता का आभास हमें अज्ञेयजी की उक्त वाक्यावली में मिलता है।

प्रो० सत्यव्रत विद्यालंकार की बरमा-यात्रा का एक उद्धरण हम यहाँ देते हैं—

"प्रशान्त सागर पर जहाज ऐसा तैरता है, जैसे तालाब में बत्तख। बिना पंख फड़फड़ाए सरोवर में जिस प्रकार बत्तख आगे चली जाती है, ठीक उसी प्रकार हमारा जहाज समुद्र की छाती पर मानों उड़ता-सा चला जा रहा था। समुद्र को इस प्रकार हारा हुआ देखकर मेरे पास बैठा हुआ एक यात्री चिल्ला उठा—देखो मनुष्य की शक्ति! जहाज क्या जा रहा है मानों मनुष्य प्रकृति को पछाड़ रहा है। मैंने कहा—नहीं प्रकृति चुप बैठी हुई मनुष्य को अपना लाड़ला पुत्र समझकर उसे इस प्रकार चले जाने की इजाजत दे रही है।"[2] लेखक ने प्रकृति में मातृभाव का आरोप करके अपनी सहृदय दार्शनिकता का परिचय दिया है।

संक्षेपतः यह कह सकते हैं दार्शनिक तत्व-प्रधान निबन्धों में भावुकता की ही प्रधानता है। विभिन्न दृश्यों को देखकर सहृदय, गंभीर लेखक अपने भावों का आरोप उन दृश्यों पर करता है। ये आरोप लेखक की वृत्ति के अनुसार परिवर्तनशील होते हैं। उपर्युक्त उद्धरणों को देखकर उक्त वृत्तियाँ स्पष्ट हो जाएँगी। इस दार्शनिक शैली के प्रयोग से यात्रा-साहित्य सम्बन्धी निबन्धों में सांस्कृतिक आधार की पुष्टि होती है और उनकी भारतीयता स्पष्ट होती है।

---

१. अरे यायावर रहेगा याद—अज्ञेय, पृ० १०१

२. बरमा की यात्रा—प्रो० सत्यव्रत विद्यालंकार, माधुरी विशेषांक, अगस्त-सितम्बर १६२८, पृ० २८५

पत्र-शैली

यात्रा-साहित्य में पत्र-शैली का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। पत्र-लेखन भी अन्य शैलियों के समान आत्माभिव्यक्ति का साधन है, किन्तु विवरणात्मकता, कथा-शैली, उपन्यास आदि से पत्र-शैली में विशेषता है—इसमें वैयक्तिकता तथा आत्मीयता का प्रतिफलन विशेष दृष्टिगत होता है। दूसरे, लेखक को थोड़े में अपनी बात कहनी पड़ती है।

साहित्यिक दृष्टि से पत्र-लेखक अपने पत्र को वैयक्तिक बनाकर भी जनरुचि के तत्व से युक्त रखता है। उसकी सफलता इसीमें है कि अपने आत्मीय को प्रत्यक्षवत् दृष्टिगत रखते हुए जनसाधारण के प्रति अपना सम्बन्ध बनाए रखे। अन्य शैलियों में ऐसा नहीं हो पाता। पत्र-साहित्य से भी व्यक्तिगत विशेषताओं के प्रकाशन के अतिरिक्त युग-भावनाएँ, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ भी अभिव्यक्त हो सकती हैं।

पत्रों के प्रकार—प्राय: पत्र दो प्रकार के होते हैं—

१. वैयक्तिक

२. व्यावहारिक

१. **यक्तिक पत्र**—जिस पत्र में लेखक के हृदय का स्पन्दन अधिक और विषय-प्रतिपादन या वर्णन-कथन की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है वह पत्र वैयक्तिक कहलाता है।

२. **व्यावहारिक पत्र**—जिस पत्र में लेखक के हृदय का स्पन्दन कम और विषय-प्रतिपादन या समाचार-कथन एवं व्यवहार की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक रहती है वह पत्र व्यवहारिक कहलाते हैं।

वास्तव में पत्र-साहित्य का महत्व उसके वैयक्तिक होने में ही है। व्यावहारिक पत्र केवल सम्बोधन तथा अंत में लेखक का नाम छोड़कर सच्चे पत्र नहीं कहे जा सकते। ये ऐसे ही पत्र है जो एक व्यवसायी कम्पनी दूसरी को लिखती है। हमारा उद्देश्य यहाँ पर वैयक्तिक पत्रों से ही है। परन्तु यह भी सत्य है कि यात्रा-सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करने के कारण वैयक्तिक पत्रों मे व्यावहारिकता का समावेश भी हो जाता है, अत: शैली में मिश्रण आवश्यक ही है।

यात्रा-साहित्य सम्बन्धी पत्रों के तत्व—सामान्य तत्वों के अतिरिक्त पत्रों के तीन प्रमुख तत्व होते हैं—आत्मीयता, स्वाभाविकता और संक्षिप्त गुण।

१. आत्मीयता—पत्र मे लेखक की आत्मीयता अवश्य प्रकट होती है। लेखक केवल वर्ण्य-विषय की दृष्टि से जब कुछ लिखता है तब उसका अपनापन दबा पड़ा रह जाता है। केवल विषय-विवेचन हो जाने से उसके पत्र में आत्माभिव्यक्ति कम

होती जाती है और उसके स्थान पर लोक-व्यवहार की झलक आने लगती है। परन्तु ऐसे पत्रों में आत्मीयता अर्थात् सापेक्ष दृष्टि की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। आत्मीयता का सम्बन्ध लेखक के अपने व्यक्तित्व के साथ भी है और दूरस्थ व्यक्ति के साथ भी। वह दूरस्थ व्यक्ति जो आत्मीय होना चाहिए, उसके साथ लेखक का किसी-न-किसी प्रकार का मानसिक सम्बन्ध अवश्य रहना चाहिए, तभी पत्र का वास्तविक स्वरूप निखर सकता है।

२. **स्वाभाविकता**—लेखक की आत्मीयता, सरल एवं सहज रीति से अभिव्यक्त होनी चाहिए। पत्र की भाषा इस रूप में निर्मित होनी चाहिए कि वह यात्रा-वर्णन के साथ ही पत्र भी समझा जा सके। उसके शब्दों में इतनी शक्ति रहनी चाहिए कि वह भाव-ग्राहक को वशीभूत कर सके, उससे तादात्म्य उपस्थित कर सके। दूसरा उससे मनोरंजन का लाभ उठा सके। अधिक कृत्रिमता के रहते पत्र भावग्राहक पाठक को न तो वश में ही कर सकता है और न उस पर प्रभाव ही डाल सकता है।

३. **संक्षिप्तता**—लेखक के पत्रों में संक्षिप्तता भी होनी चाहिए। संक्षिप्त वर्णन में बड़े भावों की अभिव्यक्ति आवश्यक है।

उपर्युक्त तीन तत्वों के अतिरिक्त यात्रा-साहित्य के अन्य रूपों के प्रमुख तत्व भी यात्रा-सम्बन्धी पत्र-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इनमें यात्रा-सम्बन्धी वर्णन भी रहता है, और तत्सम्बन्धी विचार भी। लेखक की वर्ण्य-विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया भी उनमें रहती है, तथा उसका आत्म-चरित्र उनमें अंकित रहता है। उद्देश्य की दृष्टि से पत्रों का यात्रा-साहित्य अन्य रूपों से भिन्न रहता है। जब वह केवल अपना ही वृत्तान्त प्रेषित करना चाहता है तब उसमें मानसिक प्रतिक्रियाओं की बहुलता से आत्मीयता बढ़ जाती है। इस स्थिति में लेखक का मूल उद्देश्य भले ही यात्रा का वृत्तान्त देना हो किन्तु वह वर्णन सामान्य मानव-जीवन के लिए न होकर आत्म-जीवन की अभिव्यंजना हो जाती है। शैली और भाषा भी यात्रा-साहित्य सम्बन्धी पत्रों में ऐसी होनी चाहिए कि वह दूर बैठे हुए पाठक को प्रभावित कर ले। हमारे पत्र के शब्द भी पाठक के हृदय का स्पर्श करनेवाले होने चाहिए। थोड़े-से शब्दों में अधिक-से-अधिक भावाभिव्यंजन पत्र की सबसे बड़ी विशेषता है।

हिन्दी यात्रा-साहित्य पत्र-शैली में बहुत अधिक नहीं है। कुछ ही लेखकों के ग्रन्थ पत्रों के रूप में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें यात्रा का वर्णन किया गया है। प्रमुख रूप से इस प्रकार के लेखकों में राहुल सांकृत्यायन (मेरी तिब्बत यात्रा १९३७ एवं यात्रा के पन्ने १९५२), योगेन्द्रनाथ सिनहा (दुनियाँ की सैर १९४१), डा० धीरेन्द्र वर्मा (यूरोप के पत्र १९४२), डा० भगवतचरण उपाध्याय (कलकत्ता से पीकिंग १९५३), महावीरप्रसाद पोद्दार (हिमालय की गोद में १९५४), श्रीमती विमला कपूर (अजाने देशों में १९५५), डा० जगदीशशरण शर्मा (ज्ञान की खोज में

१९५७), डा० परमेश्वरदीन शुक्ल (दुनियाँ की सैर ८० दिन में १९५७) आदि पुस्तकें पत्रों के रूप में यात्रा-साहित्य के उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

राहुल द्वारा आनन्दजी को लिखे गए पत्रों में हमें आत्मीयता के संकेत मिलते हैं। ल्हासा के उत्तर की ओर का वर्णन करते हुए राहुलजी ने लिखा है[1]—

पया (फेन्-बो)
३०-७-३४

प्रिय आनन्दजी,

आजकल वर्षा ऋतु है। भूले-भटके कितने ही बादल हिमालय के इस पार भी आ पहुँचते हैं। और मैदान और पहाड़ जिधर देखो उधर ही हरी मखमली छोटी-छोटी घास बिछी हुई है। तीन मास के लिए तो यहाँ की पर्वतमालाएँ अद्भुत सौन्दर्य धारण कर लेती हैं। हरी घास के अतिरिक्त कहीं-कहीं पीले, नीले फूल भी फूले दिखाई पड़ते हैं।

तुम्हारा
राहुल सांकृत्यायन

इसी प्रकार राहुलजी के कुछ भारत से और कुछ विदेश से भेजे गए पत्र भी 'यात्रा के पन्ने' ग्रन्थ में संगृहीत हैं जिनमें व्यक्तिगत व्यावहारिक सूचनाओं के अतिरिक्त साहित्यिकता का पुट भी मिला हुआ है। ये पत्र भी भदन्त आनन्द कौशल्यायन को ही लिखे गए हैं। कुछ लम्बे पत्रों में यात्रा का वृत्तान्त भी दे दिया गया है। इसी प्रकार के एक पत्र में कुल्लू की यात्रा का वर्णन करते हुए राहुलजी ने लिखा है[2]—

कुल्लू
२-१०-३३

प्रिय आनन्दजी,

अब मैं पहाड़ की ओर देखने लगा। यहाँ पतली बर्फ की तह से ढँके, मृत्तिका-शून्य छोटे बड़े पत्थर हैं। सारा पहाड़ पत्थरों की खिसकाहट से सजीव-सा मालूम होता था—यह कहना अतिशयोक्ति न होगी। वह दृश्य रोमांचकारी

---

१. मेरी तिब्बत यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५, प्रथम सं०, प्रयाग १९३७
२. यात्रा के पन्ने—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ३०९-१०

था ।'''दूर पहाड़ों पर हरी घास और लाल बूटियां दिखाई पड़ रही थीं, तो भी अभी वृक्षों का नाम नहीं था ।

—राहुल सांकृत्यायन

योगेन्द्रनाथ सिनहा ने अपने पत्रों में स्विटज़रलैण्ड की वास्तविक सुन्दरता का वर्णन अपने मित्रों को लिखा है। वे लिखते हैं[1]—

फ्लोरेंस
(इटली)
१७ अप्रैल, १९३७

प्रिय मित्र,

स्विटज़रलैण्ड बड़ा ही सुन्दर स्थान है, पर इसकी सुन्दरता मनचली रमणी की सुन्दरता है। संसार में और कहीं भी प्राकृतिक सौन्दर्य इस संपूर्णता से व्यवसायिक रूप में परिणत नहीं किया गया है। होटलों और रेस्तरां की संख्या देखकर चक्कर आ जाता है, सब पहाड़ियों पर जहाँ से अच्छा दृश्य मिल सकता है, इन्हें मौजूद पाइएगा। सभी छोटी-बड़ी झीलों और जल-प्रपातों का बनाव-सिंगार किया गया है।

इसी प्रकार के पत्र डा० धीरेन्द्र वर्माजी के भी हैं जिनमें यात्राओं के वर्णन की ही प्रधानता का एक उदाहरण दृष्टव्य है[2]—

"नीस में भी एक-दो दिन से कुछ-कुछ मौसम बदलता-सा मालूम हो रहा है लेकिन यहाँ पेरिस में तो काफी मौसम बदला हुआ मिला। कुछ-कुछ ठंड शुरू हो गई है। दिवाली का-सा मौसम मालूम देता है। एक हफ्ते से बादल रहने लगे हैं, और जब-तब बूँदा-बाँदी हो जाती है। कुछ-कुछ पतझड़ भी शुरू हो गया है। वैसे अभी पार्क वगैरह खूब हरे और फूलों से भरे हैं। यहाँ अब गरमी का मौसम बिलकुल नहीं मालूम होता। इकहरे गरम कपड़े हम सबने निकाल लिए हैं। नीस में तो कमीज-धोती पहने दिन भर धूप में काटता था।"

डा० भगवतशरण उपाध्यायजी ने यात्रा-सम्बन्धी पत्र सभी प्रकार के व्यक्तियों को लिखे थे—उनमें अपने परिवार के लोग, मित्र, सम्बन्धी, सरकारी अफसर, कवि, लेखक और उपन्यासकार भी आ जाते हैं। इनके पत्र अधिकतर

---

१. दुनियां की सैर—योगेन्द्रनाथ सिनहा, पृ० ६८
२. यूरोप के पत्र—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६५

लम्बे हैं। कान्तोन से लिखे गए पत्र में वे वहाँ की शोभा निहारते हुए लिखते हैं[१]—

कान्तोन
२१-९-५२

बाबूजी,

···देहात सुन्दर था, छोटी-छोटी बस्तियों से आकर्षक लगता था। गाँव थोड़ी-थोड़ी दूर पर बिखरे पड़े थे। जब तक छोटा कस्बा दृष्टिपथ में आ अटकता और हरे खेतों के प्रसार को मंजिल की भाँति जैसे रोक देता। सामने नीची पहाड़ियाँ दौड़ रही थीं, अधिकतर ऊसर सिवा, ठिंगनी झाड़ियों के; पर उनका सिलसिला आँखों को भला लगता था। क्षितिज तक फैला मैदान झीलों और तालाबों से भरा था। मैदान जो मालिकों के लिए वरदान सिद्ध होता अगर वे उसे जोतते या जिन्होंने उसे जोता था जमीन अगर उनकी होती। अनेक किसान बाँस की वह हैट पहने जिसका उन्होंने सभ्यता के आरम्भ मे आविष्कार किया था, कमर तक नंगे झुके खेत निरा रहे थे। अनेक अकेली भैंस से खेत जोत रहे थे।

आज्ञाकारी
भगवत

सुमेरु दर्शन के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए महावीरप्रसाद पोद्दार ने लिखा है[२]—

"कहीं-कहीं तो उन्हें अपने पैर टेकने को भी आधार न मिलता था। सुवासित परन्तु कँटीले गुलाब की झाड़ियों को पकड़कर 'चा' नामी पहाड़ी कोमल घास के सहारे अँगूठों को टिकाकर उन्हें अपने शरीर को सँभालना पड़ता था। बीच-बीच में उनमें और मृत्यु में केवल इन्चभर का ही अन्तर रह जाता था। किसीका पैर ज़रा भी फिसलता तो उसके सही तौर से स्वागत के लिए एक गहरा खड्ड यमुना की घाटी में बर्फ की शीतल शय्या बिछाए तैयार ही था। नीचे से यमुना का मन्द-मन्द कलकल निनाद हल्के शोक-गीत की भाँति सुनाई दे रहा था। यों पौन घण्टे के करीब उन्हें मौत के जबड़े में चलना पड़ा। सचमुच वह एक विलक्षण स्थिति ही थी। एक ओर मृत्यु मुँह खोले खड़ी थी, दूसरी ओर प्रफुल्लित और उल्लसित करनेवाला सुगंधित पवन था।

स्वामी राम ने अपने यात्रा-मार्ग का वर्णन करते हुए लिखा है।[३]

---

१. कलकत्ता से पेकिंग—डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० १९
२. हिमालय की गोद में—महावीरप्रसाद पोद्दार, पृ० ७२-७३
३. वही, पृ० ११४

गोल चाँद का यौवन फूट-फूट कर बाहर निकल रहा है। चारों ओर सुन्दरता बरस रही है। पवन चारों दिशाओं में निर्भय विचर रहा है। जो सामने पड़ता है उसीको चूमता है। चटकीले, चमकीले फूलों को तो बार-बार चुम्बन करता है। इन विराट् पर्वतों की चोटियों पर सुन्दर-सुन्दर खेत कामदार कालीनों की भाँति बिछे हुए हैं।······कल-कल करते हुए नाले और दरारों और करारों पर शोर मचाती हुई नदी, दोनों यहाँ मौजूद हैं। किन्हीं-किन्हीं चोटियों पर तो दृष्टि चारों ओर बेखटके दूर तक जाती है। न उसकी राह में कोई बड़ा पर्वत आड़े आता है न उसकी राह को कोई दुष्ट मेघ ही रोकता है। किसी-किसी गिरि-शिखर को तो गगनभेदी और घनच्छेदी होने का इतना अधिक उत्साह है कि ठहरना भूल ही गया है, मानों आकाश में पहुँचकर ही दम लेगा।

जहाज से विदेश यात्रा करते समय विमला कपूर ने अपने पत्र में डेक का व्यावहारिक वर्णन लिखा है। अपने पत्र में वे लिखती हैं[1]—

५ जुलाई, १९५१

प्रिय प्रभा,

···शाम और सुबह के समय तो अधिकतर हम लोग डेक पर ही रहते हैं, क्योंकि इस समय इसकी शोभा चरमावस्था पर पहुँच जाती है। चारों ओर चहलकदमी करते हुए युवक-युवतियों पर पुते हुए पाउडर, क्रीम और सेंट की सुगन्ध से सारी डेक महकने लगती है। यहाँ से आँख उठाकर जब कभी नीचे की ओर देखते हैं तो लहरें मारता हुआ अथाह सागर और प्रकृति का मनोरम स्वरूप दृष्टिगत होता है। हृदय और मस्तिष्क दोनों ही इस वातावरण में विभोर से हो जाते हैं और प्रकृति के बिखरे हुए सौन्दर्य का आनन्द उठाने लगते हैं। प्रातःकाल के बालरवि की सुनहरी रश्मियाँ जब सर्वप्रथम हमारे जहाज की छतों का आलिंगन करती हैं तो एक अनुपम दृश्य की सृष्टि होती है। रात्रि में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब सागर की लहरों से अठखेलियाँ करता हुआ दिखाई पड़ता है। पूर्णमासी के दिन डेक पर खड़े होकर प्रकृति का यह सौन्दर्य देखते ही बन रहा था। चारों ओर छिटकी चाँदनी और पूरे चाँद को देखकर पूरी शक्ति के साथ उछलती हुई लहरें और लहरों को चीरकर आगे बढ़ता हुआ हमारा जहाज, सबकी शोभा सचमुच अद्वितीय थी।···

तुम्हारी
चाची

अपनी विदेश यात्रा में मिचिगन से भेजे गए आत्मीयतापूर्ण पत्र का उल्लेख करते हुए डॉ० जगदीशशरण शर्मा लिखते हैं[2]—

---

१. अजाने देशों में—विमला कपूर, पृ० २८

२. ज्ञान की खोज में—डा० जगदीशशरण शर्मा, पृ० ९

मिचिगन (यू० एस० ए०)
अप्रैल, २९, १९५३

प्रिय प्रेम,

आज मेरा जन्म-दिन है, हुआ करे। मेरे लिए तो सभी दिन महत्व-पूर्ण हैं। एक-एक क्षण अपनी महत्ता की छाप लगाकर न जाने कहाँ गायब हो जाते हैं। अगर आज से मैंने तुम्हें अपनी दूसरी विदेश यात्रा के दौरान में पहली विदेश यात्रा की कहानी लिखनी आरंभ की है तो शायद इसका महत्व मेरे लिए सिर्फ मनोरंजन ही नहीं होगा। मैं चाहता हूँ कि जब तक मैं तुमसे दूर, विदेश में हूँ, तुम्हें मेरी जुदाई का ज़रा भी आभास न हो। मैं पूरी कोशिश करता रहूँगा कि सप्ताह में एक बार तो अवश्य ही इस लम्बी कहानी को थोड़ा-थोड़ा लिखकर तुम्हें भेजता रहूँ। इसलिए भेजने में मैं दो लाभ और भी देखता हूँ। प्रथम, मेरा हिन्दी लिखने का अभ्यास होता रहेगा। दूसरे, जब तुम इसे सव्यसाची के सामने पढ़ोगी तो उस पर अच्छा असर पड़ेगा। और, उसे भी मेरी अनुपस्थिति का आभास न होगा।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि पत्रों के रूप में हिन्दी यात्रा-साहित्य यद्यपि बहुत कम है और जो है भी उसमें व्यावहारिकता का पुट भी है तथापि रसात्मकता की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त रोचक तथा हृदयस्पर्शी है। थोड़ा होते हुए भी यह अत्यन्त मधुर है।

डायरी-शैली

डायरी (दैनंदिनी) भी आज का एक विकासोन्मुख रूप है। इसे आत्मकथा का प्रारंभिक रूप कहा जा सकता है। आत्मकथा के सदृश ही डायरी का लेखक भी सर्व-विदित सर्वप्रिय प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है। डायरी लेखक दिन-प्रतिदिन होने वाली घटनाओं का तथा उनसे उत्पन्न होनेवाली मानसिक प्रतिक्रियाओं का संक्षिप्त विवरण लिखता जाता है। यह आत्मकथा की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती है। जिस समय कोई घटना घटित हो रही हो यदि उस समय की मनःस्थिति का साहित्यिक चित्रण तत्काल ही हो जाए तो उसकी वास्तविकता के प्रति संदेह का अवसर कम रह जाता है। आत्मकथा की भाँति ही डायरी में क्रमबद्ध, सुगठित, सुविस्तृत जीवन-वृत्त नहीं रहता, इसमें संक्षिप्तता अधिक रहती है, असम्बद्धता भी रह सकती है। दिन-प्रतिदिन जीवन जिस क्रम में, जिस रूप में व्यतीत होता चलता है, उसी क्रम में और उसी रूप में वह डायरी में लिपिबद्ध होता चलता है। डायरी लेखक को यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसमें अनावश्यक बातों का व्यर्थ समावेश न हो और आवश्यक बातों की उपेक्षा न हो। यात्रा-साहित्य सम्बन्धी डायरियों में लेखकों को अपने जीवन के गोपनीय तत्वों का संगुंफन मार्मिक स्थलों, दृश्यों के साथ करना

अधिक उपयुक्त होता है । वैयक्तिकता तथा सामाजिकता का समन्वय प्रस्तुत करने वाली डायरी साहित्य में अधिक सफल हो सकती है ।

आत्मकथा का एक रूप होने के कारण तत्वों की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त समता है । शैली की भिन्नता अवश्य है, परन्तु उसीके कारण इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की सम्भावना भी की जा सकती है । अभी यह रूप विकासोन्मुख है । इसके प्रधान तत्व निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :—

व्यक्तित्व-प्रधान, संक्षिप्त गुण, आत्माभिव्यंजन, गोपनीयता एवं सरलता आदि ।

हिन्दी यात्रा-साहित्य डायरी-शैली में पर्याप्त रूप में लिखा गया है । बहुत से विद्वान् लेखकों की ये डायरियाँ पुस्तक-रूप में प्रकाशित भी हो चुकी हैं, जिनमें यात्रा-विवरण की प्रधानता है । इस प्रकार के लेखकों में प्रमुख रूप से बाबू देवीप्रसाद खत्री (रामेश्वर यात्रा, बदरिकाश्रम यात्रा १८६३), ठाकुर गदाधरसिंह १६०२-३ [चीन में १३ मास. हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा], बा० शिवप्रसाद गुप्त, १६१४ (पृथिवी प्रदक्षिणा), स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, १६१६ (अमरीका भ्रमण), प्रो० मनोरंजन, १६३६ (उत्तराखण्ड के पथ पर), डॉ० सत्यनारायण, १६३६ (रोमांचक रूस में), पं० कन्हैयालाल मिश्र, १६४० (ईराक की यात्रा, मेरी अबीसीनिया यात्रा), सेठ गोविन्ददास, १६५१ (सुदूर दक्षिण-पूर्व), महेशप्रसाद श्रीवास्तव १६५१ (दिल्ली से मास्को), श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, १६५२-५४ (पैरों में पंख बाँधकर; उड़ते चलो, उड़ते चलो), राहुल सांकृत्यायन १६५२ (रूस में २५ मास), रामआसरे १६५२ (माओ के देश में), कृष्णवंश सिंह बाघेल, १६५३-५४ (काश्मीर और सीमाप्रान्त, तिब्बत में तेइस दिन), राजवल्लभ ओझा, १६५४ (बदलते दृश्य), कर्नल सज्जनसिंह, १६५५ (लद्दाख यात्रा की डायरी), स्वामी सत्यभक्त, १६५५ (मेरी अफ्रीका यात्रा), रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर, १६५७ (हालैंड में २५ दिन), ब्रजकिशोर नारायण, १६५७ (नन्दन से लन्दन), डॉ० जगदीशशरण शर्मा १६५७ (ज्ञान की खोज में) आदि उल्लेखनीय हैं । इन सभी लेखकों ने अपनी यात्रा को डायरी के रूप में लिखकर प्रकाशित कराया है ।

वैयक्तिक डायरियों में लेखक अपने सम्बन्धियों, मित्रों आदि से सम्बन्धित तथ्यों को रूप देता है । इसमें प्रेम, वियोग, रोष, क्षोभ की अभिव्यंजना अधिक होती है । व्यक्तित्व-प्रधान डायरी में लेखक का व्यक्तिगत जीवन, उसकी रुचि, अरुचि तथा उसकी विभिन्न मनःस्थितियाँ अंकित रहती हैं । सत्यदेवजी का एक उदाहरण देखिए—

"धूनी के पास बैठे-बैठे सुबह हो गई । रात को धूनी के पास तीन जने और तीनों भिन्न-भिन्न महाद्वीपों के—मैं एशिया का, दूसरा यूरोप का और तीसरा अमरीका का । वाह रे हो वो जीवन । तीन महाद्वीपों के तीन आदमी, सड़क पर जीवन व्यतीत

करनेवाले, इकट्ठे धूनी के पासे बैठे रहे, कहाँ-कहाँ के पक्षी और कहाँ बसेरा। दिन चढ़ गया और पक्षी फिर उड़ गए और फिर शायद वे कभी सारी आयु इस प्रकार एकत्रित न होंगे। वाह रे हो वो जीवन।"[1] यात्रा में आए प्राकृतिक दृश्यविधान का वर्णन करते हुए सेठ गोविन्ददास ने लिखा है—

"जब मेरी नींद खुली तब पौ ही नहीं फटी थी, पर सूर्योदय हो गया था। बैठे-बैठे कुर्सी पर इतनी लम्बी और गहरी नीद में मैं कभी सोया होऊँ, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। यदि आदमी उनींदा हो तो काँटों पर भी नीद आ जाती है, यह विचार कितना सही है, इसका मुझे आज प्रमाण मिल गया, जब मैंने खिड़की के बाहर की ओर देखा तो एक अद्भुत दृश्य था। ऊपर बादल का एक भी टुकड़ा नहीं था। भगवान सहस्रांशु अपनी समस्त अंशुओं को निर्मल नीलाकाश में फैलाए हुए चमक रहे थे, परन्तु नीचे घने बादल थे। इन बादलों का एक बृहत् शामयाना-सा पृथ्वी पर तना हुआ था और ऐसा शामयाना जिसमे एक भी शल कहीं भी दृष्टिगोचर न होता था। शामयाने के रूप में पृथ्वी पर तने हुए इन बादलों की एकसी सतह थी, कहीं ऊँची-नीची नहीं, इस तरह के बाहर बादल का एक छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी तो इधर-उधर कहीं भी नजर नही पड़ रहा था।···ऊपर सर्वथा निर्मल नीलाकाश में भगवान भास्कर का पूर्णालोक तथा नीचे ऐसे बादलों की सतह इसके पहले मैंने कभी नहीं देखी थी।"[2] रोम से लंदन की यात्रा में आए हुए सुन्दर दृश्यविधान में बड़ी सरलता से डायरी का उपयोग किया गया है। बेनीपुरीजी की यह सरलता देखने योग्य है।

२३-४-५१

रोम-लंदन

"उड़ान शुरू नही हुई कि हम किस लोक में पहुँच गए? नीचे देखता हूँ तो मालूम होता है मानों कालीनों की बरात लगी है। हाँ, खेत नहीं, ये कालीनें हैं हरी-हरी। पतली-पतली नहरें, नहरों के किनारे खेत। नहरों में पाल उड़ाती नावें, खेतों मे कहीं हरे, कहीं गंदुमी रंग के दिखाई पड़ते हैं वे किन शस्यों के पौधे हैं। खजूर को तो यहाँ से ही पहचानता हूँ। इस रंग-बिरंगी भूमि में कहीं-कहीं बस्तियाँ। इस एक घर का ले-आउट कितना सुन्दर लगता है यहाँ से। ताश के पत्ते की चिड़िये की-सी शकल।"[3] ठाकुर सज्जनसिंह

---

१. अमरीका भ्रमण—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १९७-९८, संवत् १९८३
२. सुदूर दक्षिण-पूर्व—सेठ गोविन्ददास, पृ० ४१
३. पैरों में पंख बांधकर—बेनीपुरी, पृ० २४

लद्दाख यात्रा में कसाले के रास्ते पर पड़े हुए सरोवर का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

गुरुवार २० जुलाई,

तालाब कुछ बड़ा नहीं है, परन्तु जल बहुत साफ है । इसके किनारे घूमकर मछली देखते रहे, परन्तु कहीं भी नज़र नहीं आई । रात को तीन जोड़े चकवों के अवश्य आ गए थे । जल से कहीं-कहीं पर जहाँ समतल भूमि थी, सौ गज तक हरी घास थी और उसमें नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूल थे । फूलों के गारे हरी घास ढंक गई थी । हमने विचार किया कि इन वनस्पति-हीन पहाड़ों में चलता हुआ आदमी जब कभी ऐसी झीलों को देखता है तो सहसा उसके मुँह से 'वाह वाह' निकल पड़ती है ।"[1]

ठाकुर साहब ने सरोवर के जल के अतिरिक्त प्रकृति के लावण्य का अवलोकन भी किया है। आने इस दृश्यचित्रण को उन्होंने बहुत ही सरलता से स्पष्ट किया है । इस उद्धरण में हमें वैयक्तिकता कम दिखाई देती है ।

रामआसरेजी की डायरी में हमें संक्षिप्तता एवं सरलता दोनों गुण ही विद्यमान मिलते है । कैंटन हैकाऊ ट्रेन पर यात्रा करते हुए वहाँ का वर्णन उन्होंने लिखा है । देखिए—

कैंटन हैकाऊ ट्रेन पर
११ मई

सबेरे बहुत तीखी ठंडी हवा ने नींद खोल दी । आँखें खुलीं तो बड़ा सुहावना दृश्य । ऊँचे-नीचे पहाड़ों की दूर तक, कहीं-कहीं आसमान को चूमनेवाली लम्बी कतार, आकर्षक हरियाली से ढँका हुआ हर हिस्सा । हमारी गाड़ी तेजी से चली जा रही थी । यहाँ भी आसमान कहीं काले गहरे, कहीं हलके बादलों से ढँका हुआ था । कभी फुहार पड़ती और कभी खुल जाती । गाड़ी से पास ही हवा में हिलकोरे भरती, पहाड़ों को चीरती-लाँघती बू नदी बह रही थी । हम क्वांतुंग छोड़कर चेयरमैन माओ के सूबे होनान से गुजर रहे थे । मौसम बदल चुका था ।"[2] पैरिस यात्रा के स्वर्णिम प्रभात का अवलोकन कर बेनीपुरीजी लिखते हैं—

(क) प्लेन पर
११-५-५२

"'और इतनी ही देर मे इधर, यह क्या हो गया ? सूरज देवता ने अपनी ज्योति-निर्झरी का जैसे ढक्कन खोल दिया हो । मालूम होता है,

---

१. लद्दाख यात्रा की डायरी—कर्नल सज्जनसिंह, पृ० ७१

२. माओ के देश में—रामआसरे, पृ० १५

असंख्य किरण-धाराएँ एक ही साथ निकलीं। चारों ओर चकमक, झलमल। चारों ओर जैसे सोने का पानी फिर रहा है।

अब क्षितिज की छवि अद्‌भुत हो गई है। बादलों के पहाड़ के पीछे से वह सूरज देवता ने झाँका, फिर मुस्कुरा पड़े। भूरे बादलों की किनारी अब सुनहली, चमकीली है। नीचे के बादल सपाट मैदान से लग रहे हैं। ज्यों-ज्यों उजाला बढ़ता जाता है, उनका भूरा रंग दूर होता जाता है—देखिए, वे अब मक्खन से लग रहे हैं, श्वेत, स्निग्ध। भूखे नयन उन्हें देखकर अघा नहीं रहे।"[1]

इस उदाहरण में हमें आत्माभिव्यंजन की प्रधानता मिलती है। जिनेवा की सुनहरी संध्या में वहाँ की एक झील एवं वातातवरण का वर्णन बेनीपुरीजी ने बड़े ही सरल ढंग से अक्षरबद्ध किया है। आत्माभिव्यंजन का अच्छा उदाहरण है। देखिए—

लंदन से जिनेवा

१०-६-५२

"...झील का पानी कितना साफ। जहाँ हम किनारे पर खड़े हैं, एक राजहंस तैरता हुआ उसके निकट आता और बार-बार अपनी गर्दन ऊँची करने और फिर पानी में डुबोने लगा। क्या हम से कुछ भेंट माँग रहा है? यहाँ लोग इनके खाने की चीजें लाते और पानी में डाल देते हैं। हम कुछ ला नहीं सके थे—देखिए, वह बेचारा हताश लौटा जा रहा है। सन्ध्या गहरी हुई और रोशनी चमचमा उठी। झील के किनारे-किनारे बिजली-बत्तियों की सघन माला। उन बत्तियों का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ा और झील भी जगमग कर उठी। लगा जैसे पानी का कण बिजली की बत्ती बन गई हो। किनारे की बत्तियों की इस माला के नीचे-ऊपर मकानों और दुकानों की रंगीन रोशनी। थोड़ी ही देर में सारा दृश्य इन्द्रजाल-सा लगने लगा।"[2] बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' में अमरीका-भ्रमण का वर्णन करते हुए वहाँ के हिमपात का दृश्य खींचते हुए लिखा है—

"प्रातःकाल से ही आकाश से मानों रुई गिरने लगी, बर्फ धुनी हुई रुई के सामान आकाश से गिरती है और चूर किए हुए सेंधालोन की भाँति कई दिनों तक सड़कों पर पड़ी रहती है। वह प्रायः गलती नहीं। देखते-देखते तीन या चार घंटों में सारी जगह श्वेत हो गई। अहा! कैसा सोहावना प्रखर श्वेत रूप था मानों महात्मा ईसा की जन्मगाँठ मनाने के लिए प्रकृति धोए हुए सुन्दर मलमल की सारी पहनकर निकली थी। सड़क, पटरी, मकानों की सीढ़ी व

१. उड़ते चलो, उड़ते चलो—बेनीपुरी, पृ० ११
२. वही— पृ० १६५

छत, नीरस पत्रहीन वृक्ष, मैदान, बाग-बगीचे, छोटे ताल तथा तलैया, स्रोत तथा हडसन नदी के भाग भी हिम से भर गए थे। सरोवरों ने तो हिम के भय से अपना कवच बर्फ का ही बना लिया था जिसमें भीतर बसनेवाले चलचरों को हिम से दुःख न सहना पड़े। सायंकाल तीन बजे तक हिमवर्षा बराबर होती रही। जाड़ा इतना बढ़ गया कि भय के मारे सायंकाल को नगर की, हाट-बाट की शोभा देखने के लिए मैं घर से नहीं निकला।"[1]

इसमें लेखक का व्यक्तित्व भी झलकने लगता है। डॉ० जगदीशशरण शर्मा हांगकांग से सानफ्रान्सिसको की यात्रा के वर्णन को डायरी-शैली में लिखते हैं। उनकी इस डायरी में उनका आत्माभिव्यंजन स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगता है। कहीं-कहीं पर उनका व्यक्तित्व भी उसमें झलकने लगता है। उदाहरणार्थ देखिए—

"आज यात्रा में चन्द बातें ऐसी भी रहीं जो कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। जब जहाज चलता हो तो शाम को ऊपर जाकर डूबते सूरज का दृश्य कितना सुन्दर लगता है। सूरज का उदय भी उतना ही मनोहर है। जब सूरज डूबता है तो चारों ओर सुर्खी फैल जाती है और उसकी परछाई पानी पर पड़ती है जो बहुत ही सुन्दर मालूम देती है। चाँदनी रात भी कम सुहावनी दिखाई नहीं देती। जहाज चल रहा है। चाँद की चन्द्रिका खिल रही है जैसे बेले के श्वेत फूल। कोसों तक सफेद लहरें ऐसी लगती हैं जैसे चाँदी की झिलमिलाती लहरिया चादर हो। जीवन में यह मेरा पहला मौका था। जबकि मैंने यह जाना कि कुदरत के इतने सुन्दर नज़ारे हो सकते हैं। जब मैं प्रकृति के विराट सौन्दर्य देखता था तो मुझे ईश्वर याद आता था और मेरा मन कह उठता था कि जिस ईश्वर ने यह सब कुछ बनाया है वह कितना सुन्दर होगा!"[2]

बम्बई से जहाज के खुलने पर देखे गए दृश्य-विधान में उभरी हुई आत्माभिव्यक्ति को अपनी डायरी में व्यक्त करते हुए ब्रजकिशोर नारायणजी ने लिखा है—

"मेरी दाहिनी ओर एक मराठी युवक खड़ा है। हिरनी से भी बड़ी-बड़ी आँखोंवाली उसकी सुन्दरी बहन उसे बार-बार देखकर हँसने की कोशिश कर रही है। युवक भी मुस्कुराने की दमतोड़ चेष्टा कर रहा है, मगर जहाज जैसे ही डॅक से अपनी दूसरी ओर अन्तिम शृंखला अलग कर लेता है, वैसे ही वह बालिका भी आँखों से रूमाल लगा लेती है। युवक की मुस्कान मन्द पड़ जाती है और धीरे-धीरे जहाज़ की गति के साथ-साथ उसकी आँखें भी अधिक सजल और तरल हो उठती हैं। जहाज अचानक अपनी रफ्तार तेज कर लेता है और थल तथा जल के पुरुष-नारियों की मुद्रा पर एक मर्मान्तिक मौन छा जाता है।

१. पृथिवी-प्रदक्षिणा—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ५७
२. ज्ञान की खोज में—डॉ० जगदीशशरण शर्मा, पृ० ४७-४८

अथाह खारे समुद्र और निर्बाध खारे आँसुओं का यह जलीय और थलीय व्यवधान न जाने कब दूर होगा, मगर कर्त्तव्य को भावुकता से क्या गरज। मशीन को मन से क्या मतलब। हजारों आत्माएँ, हृदय और नयन रो रहे हैं, और जहाज अपने जहाजियों के विदा-वाद्यों की मरु ध्वनि के साथ-साथ समुद्र के वक्षस्थल को चीरता हुआ, गहरी नीली जलराशि के पनीले पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।

बिदा बम्बई! भारतीय भूमि की अन्तिम मिट्टी! बिदा! अलविदा!! जीता लौटा तो फिर मातृभूमि की इस मिट्टी को मस्तक पर लगाऊँगा। अभी तो मेरा सादर प्रणाम! वन्दे मातरम्!!"[१] यह उदाहरण वैयक्तिकता-प्रधान है।

नारायणजी साउथम्पटन से लन्दन की यात्रा करते हुए उस वर्णन को बड़े स्वाभाविक ढंग से लिखते हैं—

"जहाज इंग्लिश चैनल में प्रवेश कर चुका है। केबिन की खिड़की से कुहासे और बादल-भरे आसमान को देखकर इंग्लैंड के मौसम की सारी अफवाहें सच साबित हो रही हैं। मैं केबिन से बाहर निकलकर एक कर्मचारी से पूछता हूँ—'साउथम्पटन कितनी दूर है?' वह कहता है—'एक घंटे के अन्दर ही जहाज साउथम्पटन पहुँच जाएगा।' मैं तुरन्त तैयार होकर डेक पर चला जाता हूं। चैनेल में छोटे-बड़े जहाजों, समुद्री वायुयानों और मोटर-किश्तियों का ताँता लगा हुआ है। धुँधलके और वर्षा की हल्की फुहारों से पुलकित होकर हमारा जहाज मन्दगामी हो रहा है। यात्री गर्म सूट पर बरसाती पहन-पहनकर चहलकदमी करने लगे हैं। इंग्लैंड में चल रही रेलवे हड़ताल की आशंका से सभी यात्रियों की हालत पतली है। साउथम्पटन बन्दरगाह से वाटरलू रेलवे स्टेशन तक कैसे पहुँचा जायगा, यही समस्या सबोंके सामने है। करीब एक घंटे के बाद साउथम्पटन का डौक आता है। दो मंजिले और परम प्रभावशाली सजीले डौक पर जहाज लगते ही यात्रियों पर इंग्लैंड का एबगालिब हो जाता है। भव्यता के साथ कलात्मकता का इतना संतुलित सामंजस्य रास्ते के और किसी डौक पर नहीं मिला था।"[२] तिब्बत के एक पर्वतीय दृश्य का वर्णन करते हुए बाघेलजी ने लिखा है—

"तकलाकोट के चारों ओर कुछ दूर और उधर 'खोंचरनाथ' पर्यन्त बसती है। साथ ही आज आषाढ़-श्रावण में यह भूमि जो मटर-सरसों के

---

१. नन्दन से लन्दन—ब्रजकिशोर 'नारायण', पृ० ५१-५२
२. नन्दन से लन्दन—ब्रजकिशोर 'नारायण', पृ० १६१

लहलहाते हुए खेतों से हरी-भरी फूली-फूली देखी गई। परन्तु इसके अतिरिक्त जितना मैंने देखा सर्वथा ऊसर तथा कंकड़-पत्थरों से परिपूर्ण और ऊँची-नीची विषम, खेती के अर्थ बहुत ही अनुपयुक्त। घास के अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार के पौदे तथा वनस्पतियों से शून्य एवं निर्जन हैं। हिमाच्छादित शिखर रज-रहित निर्मल स्वच्छ पवन, कलरव करती हुई नदियाँ, मुक्ता-सदृश सरोवर सलिल, हिम से हँसती हुई चाँदनी, रत्न से चमकते हुए तारे, हिमानी से खेलती हुई सूर्य-रश्मियाँ और स्वच्छ नीलमणि-सा गहरा नीला आकाश।"[1] 'काश्मीर और सीमाप्रान्त' में कृष्णवंशसिंह बाघेल ने काश्मीरी ऋतु के एक सुन्दर दृश्य को बड़ी ही सरलता से अंकित किया है जो दृष्टव्य है—

"यहाँ पर मकई पकी हुई थी, धान की बालियाँ लहलहा रही थीं और कहीं तिल के पौदे बढ़ रहे थे। हम लोग कूल लाँघकर पर्वत-उपत्यका की ओर बढ़े। ऊपर सानु (पठारी) पर अभी की कटी हुई अलसी के डंठल देख पडे। हम लोग ऊपर ही चढ़ने गए। आगे कटे और अधकटे जौ के खेत मिले। हमें यह दृश्य महाकवि माघ की प्रतिमा ने दिखलाया था और जिसे हमने कवि की कल्पना मात्र माना था। पर जब हमें स्मरण आया—'कवयः किं न पश्यन्ति' अस्तु, वही दृश्य आज काश्मीर की उपत्यका दिखला रही थी। हम दोनों यही वैचित्र्य देख रहे थे कि सहसा हमारी दृष्टि दूर की भूमि पर पड़ी। वसुन्धरा देवी चारों ओर लहलहाते हुए धान के खेतों की हरी ओढ़नी-सी ओढ़ रही थी, जिसके कोर का काम अरुण वर्ण की पकी हुई धान की बालियाँ कर रही थीं। इधर लम्बोदरी नदी की फैली हुई धारा मन को प्रसन्न कर रही थी। जहाँ पर दृष्टि जाती थी, सब भूमि धान से हरी और बीच-बीच सूर्य-रश्मियों से चमकता हुआ स्वच्छ चाँदनी-सा पानी। मालभूमि के गाँवों का दृश्य भी चित्ताकर्षक था। वेत तथा श्वेता की हरी और छोटी-छोटी झाड़ियाँ, कुल्यातट पर गगनचुम्बी श्वेता की दोनों ओर दूरपर्यन्त लम्बी परम्परा। छोटे-छोटे हरे-भरे खेत इधर-उधर छोटी-छोटी बाटिकाएँ। यही मनोरम दृश्य देखते हुए हम लोग दूर निकल गए।"[2]

बदरिकाश्रम यात्रा में बाबू देवीप्रसाद खत्री ने रुद्रप्रयाग का भी सरल वर्णन किया है। यह वर्णन अपने प्राचीन ढग का है। उदाहरणार्थ देखिए—

"रुद्रप्रयाग प्रसिद्ध स्थान है, यहाँ अलकनन्दा और मन्दाकिनी का संगम हुआ है, अलकनन्दा पर पक्का पुल है, इसी पुल पर से पार उतरकर लोग संगम पर जाते हैं, संगम-स्नान करने के लिए कई सीढ़ियाँ उतरनी पड़ती हैं,

---

१. तिब्बत में तेइस दिन—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० १०७
२. काश्मीर और सीमाप्रान्त—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० ३६-३७

यहाँ रुद्रेश्वर महादेव का मन्दिर है और उसी मन्दिर में ताड़केश्वर, गोपालेश्वर और अन्नपूर्णा की भी मूर्ति है, बद्री माहात्म्य में यह प्रसिद्ध तीर्थ है, यहाँ से पहाड़ के किनारे-किनारे दाहिने हाथ बद्रीनाथजी को और बाएँ हाथ केदारनाथ को सड़क गई है, ये दोनों सड़कें पुल के उस पार से गई हैं, यहाँ से एक और भी सड़क बद्रीनाथ को बन रही है। पहले श्रीनगर से यहाँ आने के लिए गंगा के किनारे-किनारे एक सड़क बनी थी जिससे चढ़ाई की तकलीफ भी घट गई थी।[1]" खत्रीजी ने रामेश्वर यात्रा में भी ओंकारजी का वर्णन बड़ी ही सरलता से किया है। वे लिखते हैं—

"ओंकारजी का स्थान दर्शनीय और अद्वितीय है। यहाँ की शोभा भी अकथनीय है। इसी जगह कपिल मुनि का आश्रम है जहाँ शूलवेद से निकली हुई कपिलधारा ने नीचे-नीचे आकर ओंकारजी की प्रदक्षिणा करती हुई नर्मदाजी से संगम किया है अर्थात् नर्मदा और कपिलधारा दोनों ने ओंकारजी की प्रदक्षिणा कर इसी जगह संगम किया है। दोनों ओर पहाड, मध्य में नर्मदा शोभायमान है। पहाड़ों के किनारे-किनारे चारों तरफ देवताओं के स्थान व दूर-दूर तक सागवान के घने जंगल की कैफियत आबोहवा वह कि शिमले व दार्जिलिंग जानेवाले एक साल यहाँ आवें और कुछ दिन रहें तो कदापि शिमला इत्यादि जाने का इरादा न करें। जल में वह पाचन-शक्ति कि पत्थर को हज़म करे तिस पर हर तरह का आराम।"[2]

उपर्युक्त डायरी-शैली के उदाहरणों से स्पष्ट है कि इस प्रकार की रचनाएँ विशेष रूप से कलात्मक हैं—इस शैली में रसात्मकता, भावुकता तथा कलात्मकता का समावेश मिलता है। यह शैली साहित्य में विशेष रुचिकर प्रमाणित हुई है और आशा है अधिक सफल होगी।

★

---

१. बद्रिकाश्रम यात्रा—बाबू देवीप्रसाद खत्री, पृ० ७७
२. रामेश्वर यात्रा—वही, पृ० ११

: ९ :

शैली एवं भाषा

शैली—भावों के कलात्मक प्रकाशन के लिए जिस विशिष्ट शाब्दिक माध्यम की आवश्यकता होती है, साहित्य में उसे शैली कहते हैं। अभिव्यक्ति को मोहक और आकर्षक तथा सौन्दर्यपूर्ण बनाने के लिए एक विशिष्ट प्रणाली की आवश्यकता होती है। यह प्रणाली वैयक्तिक गुणों से आविर्भूत होने के कारण व्यक्तिसापेक्ष हो जाती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में शैली जिस रूप में प्रयुक्त होती है वह बहुत-कुछ पाश्चात्य प्रणाली से मिलती-जुलती है। शैली शब्द का विकास लैटिन के 'स्टीलस' शब्द से माना जाता है। यह एक प्रकार का यंत्र होता था जिससे मोम की पट्टियों पर निशान बनाए जाते थे।[1] इस यंत्र का प्रयोग जो जितने ही सुन्दर ढंग से कर लेता था, वह उतना ही योग्य (स्टाइलिस्ट) समझा जाता था। साहित्यिक विकास के अन्तर्गत कालान्तर में यह मनुष्य की 'लेखन-विधि' या व्यक्तिविशेष की अभिव्यक्ति का माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा और आधुनिक अंग्रेजी भाषा में इसका स्वरूप कुछ सीमित अर्थ अभिव्यक्ति के एक अच्छे माध्यम के रूप में होता है।"[2] शैली का सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व से होता है, उसे वस्तु और भाव से पृथक नहीं किया जा सकता है। काव्य की आत्मा रस होती है उसका शैली से और भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, भावों के अनुकूल शैली के बिना रसाभिव्यंजन हो ही नहीं सकता। शैली का सामान्य स्वरूप है किसी ग्रन्थ के सम्पादन में वह कौशल, सौन्दर्य और सौष्ठव जिसके कारण वह कृति लोगों की दृष्टि अपनी ओर खींचे। अभिप्राय यह कि शैली का अति सामान्य धर्म है उसमें वैशिष्ट्य की निहिति। पाश्चात्य विद्वान् शैली के अन्तर्गत व्यक्तित्व को अधिक महत्व देते हैं। आज व्यक्तिवादी भावना को इतना अधिक महत्व दिया जाने लगा

---

१. Style comes from the L. Stilus, an instrument used to write with upon waxed tablets.

—Dictionary of World Literature, by J. T. Shipley, page 397

२. In classical Latin the word 'Stilus' was extended to mean, first, a man's way of writing ; more generally, his way of expressing himself in speech as well as in writting.

"Style"—F. L. Lucas. page 16 —Cambridge, London—1955.

है कि बफन ने शैली की परिभाषा करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि "शैली ही स्वयं व्यक्ति है।"[१] परन्तु वास्तव में बिना किसी अनुशासन के व्यक्तित्व का प्रकाशन मात्र ही सुन्दर शैली को जन्म नहीं दे सकता, इसीलिए व्यक्तित्व के साथ ही एक सामूहिक प्रभाव की ओर भी अधिक बल दिया गया, क्योंकि केवल मात्र भावाभिव्यक्ति ही शैली नहीं है। शैली के साथ सुन्दरम् की भावना भी सम्बद्ध रहती है और सफल अभिव्यंजना के लिए साहित्य के सौन्दर्य तत्व की ओर नेत्र बन्द करके बैठा नहीं जा सकता। इसी शैलीगत संपूर्ण प्रभाव की बात पाश्चात्य विद्वानों के सामने भी आई और स्टेन्थल जैसे विद्वान् लेखक ने शैली की परिभाषा करते हुए लिखा कि "किसी विशिष्ट विचार को संपूर्ण रूप से प्रभावी बनाने के लिए जिन विशेष परिस्थितियों की योजना की आवश्यकता होती है वे सभी शैली के अन्तर्गत आते हैं।"[२] स्टेन्थल के इस कथन से इतना तो स्पष्ट है ही कि केवल, व्यक्तित्व का प्रकाशन मात्र ही शैली नहीं होती वरन् उसके लिए बहुत-सी अन्य वस्तुएं भी आवश्यक हैं।

वास्तव में लेखक की जैसी रुचि होगी, जैसी प्रकृति होगी, व्यक्तित्व होगा उसकी शैली भी वैसी ही होगी, यह निश्चित तथ्य है, प्रणेता की उसकी कृतियों पर स्पष्ट छाप रहती है। इसी दृष्टि से साहित्यकारों ने वर्णों में प्रसाद, माधुर्य एवं ओज आदि गुणों की स्थापना करके विषयानुकूल शैली के अस्तित्व की कल्पना की है। वास्व में जब कोई विषय आकर्षक, रमणीय और प्रभावोत्पादक रीति से अभिव्यक्त किया जाता है तब उसे हम साहित्य-जगत् में शैली कहने लगते हैं। पंडित करुणापति त्रिपाठी के शब्दों में शैली को हम निम्न रूप से परिभाषित कर सकते हैं—

"शैली उस साधन का नाम है जो रमणीय, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक रूप से वाक्शक्ति के समस्त सरस तत्वों की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा उचित शक्ति का सचार करे।"[३] परन्तु डॉ० श्यामसुन्दरदास के कथनानुसार "किसी कवि या लेखक की शब्दयोजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।"[४] मैथिलीशरण गुप्त भावों की कुशल अभिव्यक्ति

---

१. The style is the man himself Buffon.
Dictionary of World Literature, Edited by. J. T. Shipley
page 398—New York, 1953.

२. Ibid—"Style consists in adding to a given thought are the circumstances to produce the whole effect that the thought ought to produces."

३. शैली—पं० करुणापति त्रिपाठी, पृ० २६, वाराणसी, १६४१ संस्करण

४. साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० २४६

को ही शैली मानने के पक्ष में हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् चेस्टरफ़ील्ड के मत से शैली विचारों का परिधान है।"[१] कार्लाइल के विचार में "लेखक का परिधान न होकर उसकी रचना है।"[२] वास्तव में यदि देखा जाय तो शैली की विशेषता इसी बात में होती है कि हम अपनी भाषा को अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं में अधिकाधिक प्रभावशाली बना सके। संस्कृत के विद्वान् वामन[३] ने शैली की परिभाषा करते हुए लिखा है—"विशिष्ट पद-रचना रीतिः और विशेष का अर्थ गुण-सम्पन्न बतलाया है। डॉ० श्यामसुन्दरदासजी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "शैली की विशेषता इसी बात में होती है कि कवि अपनी भाषा को, अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सके।"[४] साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शैली मुख्य रूप से एक वैयक्तिक प्रयोग है। पाश्चात्य विद्वान् रीड और डाब्री ने शैली के लिए लिखा है कि "शैली कोई अलंकार नहीं है, न यह अभ्यास है, न कैपर और न ही यह कोई उलझानेवाली वस्तु है। यह एक आत्मबोध है, आत्माभिव्यक्ति का एक ऐसा ज्ञान जो तथ्य को योग्यतम शब्दों में व्यक्त कर सके।"[५] कावटीन के शब्दों में, "शैली जटिल चीजों को सरल ढंग से कहने का एक ढग है।"[६]

वस्तुतः अच्छी शैली वही है जो लोक-प्रयोग से समन्वित हो और जो अपनी, अपने देश की जान पड़े, जिसमे देशी शब्दों की संख्या अन्य शब्दों से अपेक्षाकृत अधिक हो, जिसके द्वारा उचित प्रभाव डाला जा सके और जिसमें उचित तथा शिष्ट शब्दों का प्रयोग हो।

---

१. Style is the dress of thought—Chesterfield.

२. Style is not the coat of writer, but his skin—Carlyle.

३. काव्यालंकार सूत्र—१।२।७—वामन

४. साहित्यालोचन—डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० २४८

५. 'Style ....is not an ornament, it is not an exercise, not a caper, not complication of any sort. It is the sense of one's self, the knowledge of what one wants to say, and the saying of it in the most fitting words.

—Introduction to—The London Book or English Prose, by Herbert Read and Bonamy Dobree, Eyre and Spottiswood, 1931.

६. 'Style is a very simple way of saying complicated things. "A call to order"—Allen and Unwin. trs. 1933.
Coated in—Modern Prose Style—by B. Dobree, page 218, Oxford, 1944.

वर्णन-शैली का अन्तर्दर्शन—वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन का सम्बन्ध उस साहित्य और साहित्यकार से होता है। आनन्दवर्धन[1] ने महाकवि की वाणी में जिस अनिर्वचनीय सौन्दर्य की अवस्थिति का उल्लेख किया है, उसका कारण आध्यात्मिक ही है। जब किसी भी कला में कलाकार की आत्मा प्रतिष्ठित हो जाती है, तभी उसमें अनिर्वचनीयता, शाश्वता, पवित्रता, सजीवता आदि का समावेश हो जाता है। क्योंकि आत्मा में ये सभी गुण पाए जाते हैं। वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन से कला-रूप में उनकी ही अभिव्यंजना होती है। पाश्चात्य विद्वान विलियम हेनरी हडसन ने लिखा है—

शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा सम्बन्धी और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं से प्रच्छन्न रूप से सम्बन्धित रहती हैं।[2] वास्तव में लेखक के हृदय की अव्यवस्थित भावनाएँ वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन से ही व्यवस्थित हो अक्षरबद्ध हो जाती हैं। भावनाओं का तीव्र आवेग उन्हें असंगत बना देता है। बुद्धि ही भावों की इस अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करती है। अतः वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन में लेखक बुद्धि की अवहेलना नहीं कर पाता है। बुद्धि द्वारा वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन सम्बन्धी इस व्यापार को पाश्चात्य आंग्ल भाषाविद मरे[3] ने विशेष दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है। उसके कथनानुसार, "वर्णन-शैली साहित्य

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्तुस्ति वाणीषु महाकवीनां,
एतत्प्रसिद्धा वयनातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवांगनासु।

—ध्वन्यालोक

२. "For us, the intellectual emotional, and aesthetic qualities of any man's writing will relate themselves at bottom to all the personal qualities of his genius and character, and thus the technical study of his style will become an aid in our more systematic study of the individuality embodied in his work."

—An Introduction to the Study of Literature, by W.H.Hudson, page, 61—London, 1954.

३. The thought that plays a part in literature is systematized emotion, emotion become habitual till it attains the dignity of conviction. The fundamental brain work of a great play or a great novel is not performed by the reason, pure or practical; to get his emotions on to paper. The most anstere psychological analysis, even on who, like stendhal, really imagined he was exercising la-logique, is only attempting to get some order into his own instructive reactions. In one way or another the whole of literature consists in this communication of emotion.

—The Problem of Style
—J.M.Murry, page 74—London, 1922.

के बाह्य रूप को अलंकृत करने के अतिरिक्त उसके भावगत रूप को भी विकसित करती है। भावों के पोषक उपादान के रूप में यह रस-संचार करने में भी सहायक होती है। भावसौन्दर्य की सार्थकता शैलीगत सौन्दर्य पर ही निर्भर है। सुन्दर वर्णन-शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य भी विकृत हो जाता है। प्रत्येक लेखक की अन्तर्तम भावनाओं और व्यक्तित्व के अनुसार शैली अपना विशिष्ट स्थान रखती है।"

पाश्चात्य विद्वान हडसन[१] ने शैली के अन्तर्गत की तीन विशेषताएं बताई हैं—

१.	वैयक्तिक पक्ष	(Personal aspect)
२.	कला पक्ष	(Artistic aspect)
३.	ऐतिहासिक पक्ष	(Historical aspect)

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही वैयक्तिक पक्ष के गुणों के महत्व की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है—"शैली के अन्तर्दर्शन में अनेक बौद्धिक तत्व होते हैं जैसे 'यथार्थता' जो कि भावानुरूप शब्दों के उचित प्रयोग से आती है, 'स्पष्टता' जो कि वाक्य-विन्यास में उपयुक्त शब्द-योजना से आती है, 'उपयुक्तता' या सुषमा जो काव्य-विषय और उसके विन्यास दोनों के सामंजस्य में निहित रहती है। इसी प्रकार भावों और विचारों की प्रेषणीयता के सम्बन्ध में मरे[२] के शब्द ध्यान देने योग्य हैं। उसके अनुसार, "शैली भाषा की वह विशेषता है जिसके सहारे लेखक भावों और विचारों का यथार्थ प्रेषण करने में समर्थ हो सके।" इस प्रकार स्पष्ट है कि शैली में उपयुक्त प्रेषणविधान भी आवश्यक गुण है। इनके उदाहरण हम अपनी सामग्री से यथास्थान प्रस्तुत करेंगे।

भावात्मक अभिव्यक्ति की यथार्थता को मरे ने भी सबसे अधिक महत्व दिया है। इस सम्बन्ध में वह लिखता है कि "यथार्थता शैली का अनिवार्य गुण है, पर

---

१. "There are the intellectual elements the precision which arises from the right use of the right words ; the lucidity which results from the proper disposition of such proper words in the froma-tion of sentences ; propriety or the phrasing of it."

—An Introduction to the study of Literature—

W.H.Hudson, page 60.

२. "Style is a quality of language which communicate precisely emotions or thoughts, or a system of emotions or thoughts, peculiar to the author."

—The Problem of Style— J.M.Murry, page, 71.

यह परिभाषागत या बुद्धिगत नहीं वरन् भावगत होनी चाहिए।[1] वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन में आयोजित बुद्धितत्व, भावतत्व और सौन्दर्यतत्व इन तीनों का सम्बन्ध लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व से होता है। लेखक की वैयक्तिक विशेषताओं के अनुरूप ही इन तत्वों का रूपविधान होता है। मरे ने इसलिए शैली को स्पष्ट करते हुए कहा है : "शैली व्यक्तिगत अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यंजना है।"[2] परन्तु आगे के विद्वानों ने व्यक्तित्व की अभिव्यंजना को ही अधिक बल दिया, पर उसके साथ स्पष्टता तथा सरलता पर जो अरस्तू के युग से अच्छी शैली के आवश्यक अंग चले आ रहे थे वह आगे भी माने गए। प्रकाशित भावों पर एक अनुशासन की आवश्यकता भी बनी रही यद्यपि इस अनुशासन में उन्होंने आत्माभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता पर अधिक बल दिया है। जैसा कि वाल्टर रेले महोदय ने लिखा है—"मस्तिष्क और आत्मा को इंगित करनेवाली अभिव्यंजना ही शैली है।"[3] श्रेष्ठ शैली में व्यक्तित्व-हीनता और व्यक्तित्व-प्रधानता दोनों को ही महत्व दिया गया है। वास्तव में दोनों में सामजस्य द्वारा उत्तम शैली का निर्माण किया जा सकता है। मरे[4] ने व्यक्तित्वहीनता और व्यक्तित्व के सम्बन्ध भी लिखा है—"शैली की पराकाष्ठा

---

१. The essential quality of style was precision; that this precision was not intellectual, not a precision of definition but of emotional suggestion; that there were various methods of achieving it; but that they could all be grouped together under the term Crystallisation." —The Problem of Style—J.M.Murry, page 95.

२. "Style is the direct expression of the individual mode of experience." —Ibid, page 19.

३. "All style is gesture, the gesture of the mind and the soul. Mind we have in common, in as much as the laws of right reason are not different minds. Therefore clearness and arrangement can be taught, sheer incompetence in the art of expression can be partly remedied. But who shall impose laws upon the soul"?
Style—Walter Raleigh, page 127—Edward Arnold.
London, 1918.

४. 'For the highest style is that where in the two current meanings of the word blend; it is a combination of the maximum of personality with the maximum of impersonality; on one hand it is a concentration or peculiar and personal emotion; on the other hand it is a complete projection of the personal emotion, into the created thing.'
—The Problem of Style—J. M. Murry, page 35.

व्यक्तित्व के प्रतिप्रतिबिम्बित और प्रतिप्रतिबिम्बना के समन्वय में देखी जाती है। उसमें व्यक्तित्व और विचित्र भावों का सम्मिश्रण होता है।" वास्तव मे यदि देखा जाय तो शैली में व्यक्तित्व अनुभवों का ही मूर्त रूप दिखाई पड़ता है। मरे महोदय कलाकार के व्यक्तित्व को कृति में इस प्रकार उतारना चाहते हैं कि वह कलाकार का व्यक्तित्व न रहकर स्वयं कृति का व्यक्तित्व बन जाय। शैली कोई एक ठप्पा नहीं है जिसकी ऊपर से छाप लगा दी जाय। कलाकारों के भावों और विचारों के साथ ही उसका विकास होता है और कलाकार के भावों और विचारों में कलाकार के व्यक्तित्व के साथ संसार की गतिविधि की छाप रहती है। शैली में संसार और कलाकार की क्रिया-प्रतिक्रिया की झलक सदैव बनी रहती है।

भारतीय आचार्यों की 'रीति' तथा पाश्चात्य आचार्यों की 'शैली' में बहुत-कुछ साम्य होते हुए भी दोनों में अन्तर है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'शैली' शब्द का प्रयोग किसी भी अलकार-शास्त्र-ग्रन्थ में नहीं मिलता। शैली शील से व्युत्पन्न है और उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ स्वभाव ही है परन्तु शास्त्र मे इसका अर्थ होता है किसी सूत्र के व्याख्यान की पद्धति। साहित्य-शास्त्र ने लिखा भी है—

प्रायेण आचार्याणामियं शैलीयत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति।[1]

इससे स्पष्ट है कि शैली स्वभाव की अभिव्यक्ति का एक प्रकार है और अभिव्यक्ति की व्याख्या की दृष्टि से वह अंग्रेजी के शैली (स्टाइल) शब्द के ही निकट पहुँच जाती है। शरीर के बाह्य अवयवों का अनुशासन तो नियमबद्ध किया जा सकता है, पर आत्मा पर तो अनुशासन करना कल्पनातीत है और इसलिए शैलियों के रूपों में व्यक्तित्व के अनुरूप ही विविधता का पाया जाना स्वाभाविक है। यदि सक्षेप में हम शैली की परिभाषा करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं— "वर्णनीय विषय के स्वरूप को खड़ा करने के लिए उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उनकी योग्यता ही शैली है।"[2] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हम वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन को पूर्ण रूप से हृदयंगम कर लेते हैं।

अन्तर्दर्शन के अन्तर्गत आई हुई विशेषताओं यथा—यथार्थता, स्पष्टता, उपयुक्तता, भावों और विचारों की प्रेषणीयता आदि के आधार पर शैली के मुख्य दो रूपों—रसात्मक और कलात्मक का भी विवेचन हमें कर लेना चाहिए। शैलीगत आए सारे गुणों का समावेश करते हुए साहित्य की विविध शैलियों का हमने इन्हीं दो रूपों के अन्तर्गत विभाजन किया है।

---

१. कल्लक भट्ट की टीका—मनुस्मृति १।४, भारतीय साहित्य-शास्त्र
—बलदेव उपाध्याय, भाग २, पृ० १६४, सं० २०१२

२. काव्य-दर्पण—रामदहिन मिश्र--शैली, पृ० ३५२, प्र० सं० १६४७

१. रसात्मक रूप के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख विभाग किए जा सकते हैं :—

(१) भावुकता-प्रधान
(२) लाक्षणिक
(३) सवेदनात्मक
(४) दार्शनिक

२. कलात्मक रूप के अन्तर्गत प्रधान रूप निम्नलिखित हो सकते हैं :—

(१) आलंकारिक
(२) काल्पनिक
(३) चित्रात्मक

१. भावुकता-प्रधान शैली—भावुकता-प्रधान शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें कि लेखक की अभिव्यंजना में उसके व्यक्तिगत भावों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली हृदय की भावना झलकती हुई स्पष्ट दृष्टिगोचर हो। इस प्रकार की शैली में लेखक के हृदय की भावमय प्रवृत्तियाँ एवं अनुभूतियाँ उसकी रचना के भीतर से झाँकती हुई दिखाई पड़ती हैं। यद्यपि भावुकता-प्रधान शैली मे लेखक को अपनी कल्पना की सहायता भी लेनी पड़ती है, तथापि कल्पना और भावों के पुट से अपनी अभिव्यंजना को रमणीय बनाकर लोक के सम्मुख रखने पर भी उसकी रचना में भावों की मधुर छाया प्रधान रहती है। लेखकों के भावुक मानस की रमणीय भावनाएँ कल्पना का साहाय्य पाकर तीव्रतर हो उठती हैं। वस्तुतः यदि देखा जाय तो भावुकता-प्रधान शैली की स्वच्छता वहीं देखने में आती है जहाँ लेखक की भावमयी कल्पना उसके हृदय के भावों का विषय के साथ उपयुक्त सामंजस्य स्थापित करती है। अतः ऐसी शैली के लेखक के लिए कल्पना भी महत्वशालिनी है। लेखक संसार-भ्रमण में जिन नाना दृश्यों का अवलोकन करता है उसकी छाया भावुकता-प्रधान शैली मे प्रतिबिम्बित कर देता है। अपने भाव-चित्रों को शब्द-तूलिका में अंकित करने में ही लेखक का कमाल है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अपने ग्रन्थ 'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' में लिखते है—"धोये-धाये पर्वतों को देखता हुआ, जंगलों के शीतल पवन का आनन्द लेता हुआ और पहाड़ी नालों की गड़गड़ाहट सुनता हुआ मैं अल्मोड़े की विकट चढ़ाई चढ़ रहा था। विद्यार्थी को अपने मित्र प्रेमियों के पास सूचनार्थ भेज दिया। शहर से डेढ़ मील इधर मैं धीरे-धीरे मन की विचार-तरंगों में मग्न चला जा रहा था।"[१]

इसी प्रकार हरिगौरी की मूर्तिवाले चित्र का भावात्मकता एवं धार्मिकता की भावना से पूर्ण वर्णन 'हिमालय परिचय' में हुए राहुलजी ने लिखा है—"मैं, मैंखंडा

१. यूरोप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ४९

की खंडित हरिगौरी मूर्ति से ही बहुत प्रभावित था, किन्तु यहाँ मैंने शोभा और सौन्दर्य में अद्वितीय इस हरिगौरी मूर्ति को देखा। इसकी कोमल वंकिम रेखाओं में वही सौन्दर्य भरा था, जो कि अजन्ता के चित्रों में दिखाई पड़ता है, बल्कि पत्थर में ऐसा तन्वंग उत्कीर्ण करना संभव हो सकता है, इस पर आँखें विश्वास नहीं करती थीं। ललितासनस्थ हर के वामांक में अनुपम सौन्दर्यराशि की मूर्ति बनकर भूधरसुता बिराजमान हैं।"[1]

२. **लाक्षणिक शैली**—लाक्षणिक शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें मुख्य अर्थ को बाँध करके अर्थात् शब्दों के प्रचलित अर्थ के बदले उनके लाक्षणिक या व्यंग्य अर्थ ही मुख्य होते हैं। यह लाक्षणिक शैली सरल वाक्यों में भी होती है और मिश्र वाक्यो मे भी। लाक्षणिक शैली में वाक्य मुख्यतः एक क्रियावाले होते हैं, जिसमें लक्षणा या व्यंजना से अर्थ निकाले जाते हैं। इस शैली में लेखक अपनी लाक्षणिक उक्तियों की सौन्दर्याभिव्यक्ति एवं उसमें चमत्कार का सृजन करने के लिए मुहावरों का प्रयोग भी करता है। लाक्षणिक शैली के प्रयोग से लेखक की भाषा में प्रभावोत्पादकता के साथ-साथ कुछ कुतूहलजनकता भी उत्पन्न हो जाती है। जो बात साधारण रीति से कहे जाने पर अत्यन्त नीरस, रूक्ष और उत्तेजक होती है वही इनका सहारा लेकर कहने पर अत्यन्त रोचक, प्रभावशील और अतिप्रिय हो उठती है।

लाक्षणिकता से पूर्ण शैली का उद्धरण दृष्टव्य होगा। देवदत्त शास्त्री अपनी काश्मीर यात्रा मे लिखते हैं—

"हरी हरीतिमा से आच्छन्न गगनचुम्बी शैल-शिखरों पर चढ़ती-उतरती मोटरगाड़ी की अबाधगति का अकथनीय संस्कार मन पर होता था। इतस्ततः चमत्कारमयी प्राकृतिक घटनाएँ मानों भगवती प्रकृति देवी की लीलाएँ हैं। भागती हुई मोटरगाड़ी और हँसती हुई प्राकृतिक छटा को देखकर मन स्तंभित हो गया।··· प्रान्तर भाग मे सरसता और सुन्दरता के आलय सरोवर मुकुल मंजुल महीरुहों से आक्रान्त हो अपने कलित अक में रसभूत लहरों को लिए हुए लहरा रहे थे। दोलायमान लहरों की कमनीयता को देखकर प्रतीत होता था मानों प्रकृति देवी अपने कराम्बुज हिलाकर कलित काश्मीर की कमनीयता लिख रही है।"[2] काश्मीर-यात्रा में ईश्वरचन्द्र शर्मा लिखते हैं—

"ऐश्वर्य के उस प्रभातकाल में काश्मीरियों की प्रतिभा खूब चमकती थी। उनके शरीर पर चाँदी से धवल कोमल ऊनी वस्त्र शोभा देते थे, और उनके मुँह से शास्त्र-चर्चा, वासन्ती शोभा नए-नए रूप में प्रगट होती थी। एक ओर उनके निर्मल

---

१. हिमालय परिचय—भाग १, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४४१
२. मेरी काश्मीर यात्रा—प० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० ३५ एवं ४८

घर सूर्य के प्रकाश में हँसते रहते थे, दूसरी ओर चाँदी और सोने की मूर्तियाँ कान्ति-प्रवाह में मंदिरों को तैरता हुआ प्रकाशित करती थीं।"[१] आकाश-मार्ग द्वारा अमरीका की यात्रा करते हुए गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा है—

"मैं देख रहा था कि ऊपर उठने पर किस प्रकार जंगल और पेड़ हरी काई की तरह धरती से चिपटे दिखते हैं, भूमि पर दूर-दूर के खेत, चरागाह, मैदान, ऊसर मिलकर वे किस प्रकार एक होकर केवल बहुत छोटी-छोटी रेखाओं में विभक्त क्यारियाँ बन जाते हैं। भूमि ऐसी मालूम पड़ती थी कि मानों मटमैली टूटी स्लेट जोड़कर रख दी गई हो जिसके बेहतरीन खण्डों पर लखौरी ईंट या खपरैल के टुकड़े रगड़ने से गंदली लाली आ गई हो।"[२]

३. **संवेदनात्मक शैली**—संवेदनात्मक शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें लेखक की व्यक्तिगत संवेदनाएँ किसी विशेष रूप से चित्रित की गई हों। यह दो प्रकार की हो सकती है—बाह्य संवेदनाएँ और आन्तरिक संवेदनाएँ। यात्रा-साहित्य में इसके उदाहरण अधिक नहीं प्राप्त होते हैं। यहाँ पर हम इनके उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

आन्तरिक संवेदनात्मक शैली—स्वामी सत्यदेवजी ने अपनी जर्मनी यात्रा में लिखा है—

"इतने बड़े विशाल धन-धान्यपूरित देश की हम सन्तान, वह हमारे पूर्वजों की मिलकियत, उस सुन्दर रत्नगर्भा माता के तेंतीस करोड़ बच्चे और उनकी यह दुर्गति। मैं चोर नहीं हूँ, डाकू नहीं हूँ, ईमानदारी से जीवन व्यतीत करता हूँ। आँखों के इलाज के लिए जर्मनी के डाक्टरों के पास जाना चाहता हूँ। ये लोग कौन होते हैं मेरी इस प्रकार परीक्षा करनेवाले? इनको क्या हक है मेरी इस प्रकार जाँच-पड़ताल करने का?"[३] इसमें परिव्राजकजी ने अपनी सारी हार्दिक संवेदनाएँ बड़े ही सरल रूप से व्यक्त कर दी हैं।

हिमालय परिचय में राहुलजी ने लिखा है—

"मैं आकृष्ट होता था, उस अगर-तगर की धूप-धूमों और फूलों की नाना प्रकार की मधुर सुगंधियों से, जो आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले के मन्दिरों में उड़ती थीं। अब भी मुझे मालूम होता था कि वह मेरी नासिका द्वारा भीतर प्रविष्ट होकर दिमाग की भीनी-भीनी सुगन्ध से भर रही है।"[४]

---

१. काश्मीर में एक मास—ईश्वरचन्द्र शर्मा—चाद, मई १९३०, पृ० ३०
२. आकाश-मार्ग द्वारा अमरीका—गिरिजाकुमार माथुर—सरस्वती, मार्च १९५६, पृ० १७२
३. मेरी जर्मन यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक
४. हिमालय परिचय—भाग १, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४३०

सत्यदेवजी ने एक स्थान पर लिखा है—

"एक चौड़ी शिला को रास्ते में अपना स्वागत करते देख मैंने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और सुस्ताने बैठ गया।"[1]

बाह्य संवेदनात्मक शैली—अपनी यूरोप यात्रा में राहुल सांकृत्यायनजी ने लिखा है—

"राजकुमार नए पुष्पों तथा बन और पर्वतीय दृश्यों का अवलोकन करते हुए बन के मध्य-भाग मे पहुँच गए। वहाँ उन्होंने रसीले स्वादपूर्ण नाना प्रकार के फलों को खाकर क्रीड़ा करना प्रारम्भ किया। बन में नाना प्रकार के पक्षी थे, जिनके मधुर स्वर उनका चित्त आकर्षित कर रहे थे। सरोवर और पुष्करिणियाँ पद्मपुष्पों से आच्छादित थीं, पुष्प-निकुंज मन्द-मन्द शीतल वायु के संचार को सुरभित कर रहे थे, पशु-वृन्द जहाँ-तहाँ विचरण कर रहा था, यह सब देख देखकर राजकुमार आनन्द से गीत गा रहा था।"[2] अमरनाथ की यात्रा में यशपाल जैनजी ने प्रकृति के बाह्य सवेदनात्मक रूप को अंकित करते हुए लिखा है—

"प्रकृति का प्रकोप कहिए या कृपा, बारिश निरन्तर जारी रही, पर हम लोग एक क्षण को भी कहीं नहीं रुके। सारा वायुमण्डल जितना गम्भीर था, उतना ही निस्तब्ध। उस निस्तब्धता को भंग करनेवाला 'जयशंभो' का स्वर बड़ा भला मालूम होता था। पूरे जोर से जब हम लोग 'अमरनाथ की जय' बोलते थे तो ऐसा जान पड़ता था कि भय को हम लोग कील डालेंगे, लेकिन चढ़ाई द्रौपदी के चीर की भाँति बढ़ती ही जा रही थी, और हमारी सारी पार्टी चली जा रही थी, चली जा रही थी।"[3]

४. **दार्शनिक**—दार्शनिक शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें भारतीय दृष्टि से जीवन में दार्शनिकता का महत्व आंका गया हो। जीवन में दार्शनिकता का बड़ा महत्त्व है। प्रकृति की सौम्य गम्भीर मूर्ति में हम उसी दार्शनिक की छटा को व्याप्त पाते हैं जो हमें अध्ययनशीलता एवं मानसिक स्थिति आदि से उत्पन्न होकर प्राप्त होती है। यात्रा-साहित्य के लेखकों ने भी प्रकृति में जीवन-दर्शन के विभिन्न चित्रों को आँकने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर एक-दो उदाहरण दृष्टव्य होंगे। अपने सन्तुलित एव संयमित जीवन-दर्शन को व्यक्त करते हुए स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी ने लिखा है—

"जो लोग मध्य पथ का अवलम्ब नहीं करते, जो आँधी और बगोले की तरह अपने जीवन-चक्र को चलाते हैं, सफलता न मिलने पर उनकी कमर टूट जाती है, वे

---

१. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ४६

२. मेरी यूरोप यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ६०

३. अमरनाथ की यात्रा—यशपाल जैन, पृ० ६१

थककर बैठ जाते हैं और निराशा-भरी दृष्टि से अपने पिछले बरबादी के कृत्यों का सिंहावलोकन करते हैं, उस समय उनकी छाती फटने लगती है और वे कायर हो जाते हैं। भाग्यवान हैं वे जो अति के वशीभूत होकर किसी काम में सफलता प्राप्त कर लें, या सफलता के संग्राम में बलिदान हो जाएँ, पर वे बड़े अभागे हैं जो सफलता न मिलने पर अपनी की हुई बरबादी के रोमांचकारी दृश्यों के साक्षी बनते हैं।"[१]

इसी प्रकार हिमालय-परिचय में राहुलजी ने अपनी दार्शनिक संवेदनात्मकता एवं समन्वयात्मक प्रवृत्ति को लक्षित करते हुए लिखा है—

"मैं आकृष्ट होता था, उस अगर-तगर की धूप-धूमों और फूलों की नाना प्रकार की मधुर सुगंधियों से, जो आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले के मन्दिरों में उड़ती थीं। अब भी मुझे मालूम होता है, कि यह मेरी नासिका द्वारा भीतर प्रविष्ट होकर दिमाग को भीनी-भीनी सुगन्ध से भर रही है। उन जगमगाते शिवालयों में सर्वत्र सौन्दर्य, कला और स्वच्छता का अखण्ड राज्य था। सभी वस्तुएँ शिवं सुन्दरं थी। मुझे यह भी मालूम है कि यह सब वैभव उन दास-दासियों के परिश्रम से पैदा हुआ था, जो सारी जनता की चौथाई थी। शिवं सुन्दरं के लिए यह बड़े कलंक की बात थी, तो भी स्मृति जिस भव्य रूप को सामने चित्रित करती है, उसे देखकर थोड़ी देर के लिए आनन्द और आकर्षण हुए बिना नहीं रह सकता, विशेषकर जब कि मैं जानता हूँ कि वह दासता का युग फिर लौटकर नहीं आ सकता, मनुष्य के पूर्ण स्वतन्त्र होने को कोई नही रोक सकता। काली निशा दुनियाँ के बहुत-से भागों से दूर हो चुकी है वह बाकी भागों में भी देर तक नहीं रह सकती।"[२]

१. **आलंकारिक शैली**—आलकारिक शैली से हमारा तात्पर्य अलंकारयुक्त शैली से है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में अलंकार शब्द का प्रयोग सामान्य और विशेष दो अर्थों में होता था।[3] सामान्य अर्थ के अनुसार गुण, रीति आदि सभी अलंकार माने जाते थे। विशेष अर्थ में जब अलंकार शब्द का प्रयोग होता था तब उससे अनुप्रासादि शब्दालंकार और उपमादि अर्थालंकार का बोध होता था। आज इसका प्रयोग उपमा और अनुप्रास के लिए ही होता है। शैली में ध्वनि की अनुकूल और उपयुक्त योजना से चमत्मकार एवं सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। साथ ही

---

१. मेरी जर्मन यात्रा—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ११४

२. हिमालय परिचय—भाग १, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४३०

३. तैः शरीरंच काव्यानाम लंकाराश्च दर्शिताः—दण्डी, काव्यादर्श, परि० १, श्लोक १० को सात्वलंकार इत्याहः—
सौन्दर्यमलंकारः (प्रथम अधि० प्रथम अध्याय २ सू०)
अलंकृतिरलंकारः। करण व्युत्पत्या (अलंक्रियतेऽनेनेति) पुनः अलंकार
शब्दोऽयमुपमादिषु वर्त्तते।
—वामन काव्यालंकार (सूत्रवृत्ति)

वाक्यों की विलक्षणता एवं ध्वनियों की चमत्कृत-योजना द्वारा श्रोता या पाठक का ध्यान आकृष्ट होता है और ध्वन्यात्मक वातावरण की सृष्टि होती है। अनुप्रास एवं यमक आदि अलंकार आलंकारिक शैली के अन्तर्गत आने पर ललित ध्वनिलहरी का सृजन करते हुए उक्ति की प्रभावोत्पादकता में अभिवृद्धि करते हैं। शैली में इनसे चमत्कार भी आ जाता है।

आलंकारिक शैली में कृतिकार अलंकार के योग से अपनी अनुभूति मात्र *उक्ति को एवं अमूर्त भावना को एक मूर्त आकार देता है, जिसके कारण उसकी उक्ति* अधिक प्रभावशील हो उठती है। जब केवल प्रस्तुत वर्णन में किसी वस्तु का रूप, गुण अथवा उसकी क्रिया का बिम्ब ग्रहण कराने में रचनाकार समर्थ नहीं होता तब कभी तो वह लक्षण-शक्ति का आश्रय लेकर और कभी समर्थ विशेषणों की सहायता से, कभी वस्तु के सागोपांग भव्य वर्णन मे और कभी-कभी अप्रस्तुत की योजना से सादृश्यमूलक अथवा असादृश्यमूलक अलंकारों का आश्रय लेकर वह वस्तु के रूप, गुण अथवा क्रिया का तीव्र अनुभव कराता है। इसी भाँति भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिए भी रचनाकार को कभी-कभी अप्रस्तुत का आधार लेना पड़ता है। अलंकारों की सहायता से लेखक की शैली अधिक सजीव, गतिशील और प्रभावोत्पादक हो उठती है। परन्तु रचनाओं में अलंकार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में न होना चाहिए। उचित अवसर पर अलकारों के प्रयोग से विवेचनीय अथवा वर्णनीय विषय की रमणीयता वृद्धि होती है सही, पर यदि रचना के आरम्भ से अन्त तक अलंकृत शैली की भरमार होगी तो कृति की रमणीयता तो विशिष्ट हो ही जाएगी, साथ ही पाठकों का जी भी ऊबने लगेगा।

आलंकारिक शैली में विषय-वस्तु के स्पष्टीकरण की अपेक्षा भाषा को अलंकृत या अतिरंजित करने की प्रकृति भारतेन्दुजी में विशेष रूप से मिलती है। इनकी आलंकारिक शैली में कहीं संस्कृत तत्सम पदावली की बहुलता है। कहीं उर्दू शब्द-समूह अपने चलते और अलंकृत दोनों रूपों मे प्रयुक्त हुआ है। लखनऊ-यात्रा में वे लिखते हैं—

"*नगर पुराना तो नष्ट हो गया है जो बचा है वह नई सड़क से इतना नीचा* है कि पाताल लोक का नमूना-सा जान पड़ता है, मसजिद बहुत-सी हैं, गलियाँ सँकरी और कीचड़ से भरी हुई बुरी गन्दी दुर्गन्धमय। सड़क के घर सुथरे बने हुए हैं, नई सड़क बहुत चौड़ी और अच्छी है, जहाँ पहले जौहरी बाजार और मीना बाजार था वहाँ गदहे चरते है और सब इमामबाड़ों में किसी में डाकघर, कही अस्पताल, कहीं छापाखाना हो रहा है। रूमी दर्वाजा नवाब आसिफुद्दौला की मसजिद और मच्छी भवन का सरकारी किला बना है। बेदमुश्क के हौजों में गोरे मूतते हैं।"[१]

१. कविवचन सुधा—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भाग २, सं० २२, श्रावण कृष्ण ३०, सं० १९२८, पृ० १७३

हरिद्वार के निम्नलिखित वर्णन में आलंकारिक शैली का संस्कृत-समन्वित पद-विन्यास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में देखते ही बनता है। वे लिखते हैं—

"यह भूमि तीन ओर सुन्दर हो हरे-भरे पर्वतों से घिरी है। जिन पर्वतों पर अनेक प्रकार की बल्ली हरी-भरी सज्जनों के शुभ मनोरथों की भाँति फैलकर लहलहा रही हैं और बड़े-बड़े वृक्ष भी ऐसे खड़े हैं मानों एक पैर से खड़े तपस्या करते हैं और साधुओं की भाँति, घास, ओस और वर्षा अपने ऊपर सहते हैं। अहा ! इनके जन्म भी धन्य हैं जिनसे अर्थी विमुख जाते ही नहीं। फल-फूल, गंध, छाया, पत्ते, छाल, बीज, लकड़ी और जड़ यहाँ तक कि जले पर भी कोयले और राख से लोगों का मनोरथ पूर्ण करते हैं। सज्जन ऐसे कि पत्थर मारने से फल देते हैं। इन वृक्षों पर अनेक रंग के पक्षी चहचहाते हैं और नगर के दुष्ट बधिकों से निडर होकर कलोल करते हैं। वर्षा के कारण सब ओर हरियाली ही दृष्टि पड़ती थी, मानों हरे गलीचा की यात्रियों के विश्राम के हेतु बिछायत बिछी थी। एक ओर त्रिभुवनपावनी श्री गंगाजी की पवित्र धारा बहती है जो राजा भगीरथ के उज्ज्वल कीर्ति की लता-सी दिखाई देती है।"[1] अपनी विदेश यात्रा में लूजान का वर्णन करते हुए पं० सूर्यनारायण व्यासजी ने लिखा है—

"लूजान द्राक्षालता मण्डपों से आवृत्त हैं। झील के आस-पास के हरित भू-भाग पर द्राक्षा की हरित लताएँ अंगूर के सुभग झूमर लटकाए प्रकृति सुन्दरी के स्वागत के लिए बन्दनवार की तरह मालूम होती हैं। लूजान के मनोरम उद्यान और हरित बनराजी में द्राक्षालता की छटा अनुपमेय है।···वहाँ की उद्यानमयी झील का तट और आल्प्स की पर्वतमाला हिमाच्छादित शृंग को लिए रविरश्मि में रजत-परिधान किए विलक्षण मालूम होती है, और रात में रजत चन्द्रिका छिटकने पर अपनी अपूर्व आभा फैला देती है।"[2]

२. **कल्पनात्मक शैली**—कल्पना क्लप धातु व्यन्त से 'युच' अन प्रत्यय करने पर बनता है।[3] क्लप का अर्थ होता है समर्थ और इस प्रकार कल्पना का अर्थ-सामर्थ्य हो जाता है। कल्पना बुद्धिजनित शक्ति होती है जिसके सहारे लेखक बहुत-सी अप्रत्यक्ष वस्तुओं का भी निर्माण कर लेता है। पाश्चात्य साहित्य के विद्वानों ने कल्पना के लिए 'इमेजिनेशन' शब्द का प्रयोग किया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने पहले इमेजिनेशन का अर्थ केवल बिंब, इमेज बनाने की शक्ति को ही माना; पर कालान्तर में उसके भेद किए। प्रथम को मनोवैज्ञानिकों ने रिप्रोडक्टिव इमेजिनेशन

---

१. भारतेन्दु के निबन्ध—संपादक डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० ७०, सरस्वती मंदिर, बनारस, सं० २००८

२. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास पृ० १५६-५७

३. काव्य-विमर्श—पं० रामदहिन मिश्र, पृ० ३१४, प्र० सं० १९५१, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना

और द्वितीय को प्रोडक्टिव इमेजिनेशन कहा ।[१] निष्क्रिय कल्पना के अन्तर्गत बिम्ब, घटनाओं का अनुगमन करता चलता है परन्तु सृजनात्मक कल्पना की शक्ति न केवल पुराने बिम्बों को स्मृति के सहारे एक विशिष्ट दिशा में आगे बढ़ती है, वरन् उनको एक विशिष्ट अवस्था तक पहुँचाने में समर्थ भी होती है । इस स्थान पर पहुँचकर पुरातन बिम्ब नया रूप धारण करता है ।[२] संस्कृताचार्यों ने कल्पनात्मक शैली को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखा है । रुद्रट इसे प्रतिभा की संज्ञा देते हैं ।[३] आचार्य मम्मट कल्पना को शक्ति का बीजरूप तथा संस्कार-विशेष मानते हैं ।[४] शिवनारायण टंडन सोलन के पर्वतों की यात्रा में प्राकृतिक वातावरण से विभोर हो लिखते हैं—

"पशु-पक्षियों का कलरव, उनकी एक-एक तान, प्रभाती गान-सा आनन्द दे रही है । शुक-सारिकाओं के समूह जिस आनन्द से बैठे हुए पीयूषवर्षा कर रहे हैं, उसमें बड़ा रस है । चकोर आनन्द मना रहे हैं । खंजन शरद ऋतु का आगमन जानकर पहाड़ों पर आ गए हैं । यहाँ इतने तरह के, इतने रंगों के और आकार-प्रकार के छोटे, मझोले और बड़े पक्षी हैं और हम उनका, प्रत्येक का कैसे बखान करें, हाँ, प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना में सभी रत हैं, सभी तल्लीन हैं ।"[५] खातीपिनुरी की यात्रा में फक्कड़ भी लिखते हैं —

"जिन्होंने कभी हिमालय के दर्शन नहीं किए उनके लिए, शिमला, नैनीताल इत्यादि अनेक हिल स्टेशनों पर जाकर अपनी इस अभिलाषा को पूरी करना सम्भवतः यथेष्ट हो किन्तु जिन्होंने अनेक बार ये स्थान देखे हैं, उन्हें हिमालय के गर्भ में जाकर वहाँ के मनोहर प्राकृतिक दृश्य देखने की अदम्य इच्छा हो आती है । प्रकृति के एकान्त उपासकों को, हिमाच्छादित गगनचुम्बित पवित्र शिखर, झर-झरकर बहते हुए निर्मल झरने और शिलाओं से क्रीड़ा करती हुई पार्वती नदियों के कल-कल शब्द द्वारा निनादित सघन बन से परिपूर्ण उपत्यिकाएँ प्रबल रूप से आकर्षित करती हैं ।"[६]

३. **चित्रात्मक शैली**—चित्रात्मक शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें कि लेखक की अभिव्यंजना में कुछ चित्रों का स्पष्ट चित्रण हो । अर्थात् उसकी शैली से ही हम कुछ चित्रों का दर्शन कर सकें । शब्द-चित्रांकन के लिए सबसे अधिक

---

१. In constructive imagination, on the other hand the successive ideas not only have a directions, but they also drive forward to an end, namely the creation

—Encyclopaedia Americana. Vol. XIV, page 707.

२. Ibid, page 707-708.

३. प्रतिमेत्यपरेरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति—रुद्रट

४. शक्ति कवित्व बीजरूपः संस्कार विशेषः । यां बिना क व्यं न प्रसरेत ।

—काव्य प्रकाश—मम्मट, प्रथम उल्लास, सूत्र ३ की व्याख्या

५. सोलन के पहाड़ों में—शिवनारायण टंडन, वीणा—फरवरी, १९३८, पृ० ३१३

६. खातीपिनुरी की यात्रा—श्रीयुत फक्कड़—विशालभारत, जनवरी १९३४, पृ० ८५

उपयोगी और उपादेय शैली यही है। इस शैली का मुख्य उपयोग किसी वस्तु या भाव के चित्र-वर्णन में तथा किसी स्थान, दृश्य आदि के विशेष चित्रों का दिग्दर्शन कराने में होता है।

पर्वती दृश्यों का स्वाभाविक चित्रण करते हुए 'किन्नर देश' में राहुलजी ने लिखा है—

"ऊपर की ओर से पानी के श्वेत झरने झर रहे थे। पर्वतों के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ने से रजत की भाँति हिम चमक रहा था, जिन्हें देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता था। शौलबो के मोटे-मोटे नंगे वृक्ष मंदिर के चारों ओर खड़े थे। उनकी पत्तियाँ जाड़े में ही हिमपात से गिर गई थीं। शौलबो वृक्ष की पत्तियाँ पीपल की पत्तियों के समान होती हैं। यही वृक्ष यहाँ के लोगों का प्रधान काष्ठ-वृक्ष है।"[1] इन पंक्तियों में राहुलजी ने पर्वतीय दृश्य का सुन्दर चित्र बड़े ही स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत कर दिया है। गिरि-मालाओं पर एक ओर झरने गिर रहे हैं, दूसरी ओर हिम का सूर्य के प्रकाश से चमकना आदि कितने सुन्दर चित्र है जो स्पष्ट रूप से समक्ष ही मालूम होते हैं।

सेठ गोविन्ददास अपने ग्रंथ 'पृथ्वी-परिक्रमा' में इसी भाँति काश्मीर और स्विटज़रलैंड के चित्रों की तुलनात्मक समालोचना प्रस्तुत करते हुए चित्रात्मक और कल्पनात्मक शैली में लिखते हैं—

"काश्मीर की तरह स्विटज़रलैंड भी भूलोक का स्वर्ग है। काव्यमय प्रवृत्ति के लोगों ने उसकी तुलना मृग से की है। ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियों के हिमाच्छादित शिखर, मुस्कराती-खिलखिलाती झीलें, पुष्पों और हरियाली से लहलहाते चरागाह, घने छायादार जंगल और नये-पुराने गाँव व शहर सचमुच ही स्विटज़रलैंड को इतना सुन्दर और आकर्षक बना देते हैं कि एक मृग-मरीचिका बनकर पर्यटक की स्मृति में सदा ही उलझा रहता है।"[2] सेठजी का यह आलंकारिक चित्रण बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।

'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' में इसी भाँति स्वामी सत्यदेवजी ने वायुयान द्वारा की गई यात्रा में देखे गए भावात्मक चित्र का चित्रण किया है—

"मैं खिड़की के शीशे द्वारा नीचे के दृश्य देख रहा था। उड़नखटोला कभी सात सौ फीट पर हो जाता कभी फिर ऊपर आ जाता। नीचे गाँव-के-गाँव, खेतों-के-खेत तथा कस्बे गुजर रहे थे। ईश्वर की कृपा से आज दिन हमारे मन के लायक था। खिली हुई धूप—बादल का नाम नहीं—सब-कुछ साफ दिखलाई देता था। सड़कें साँपों की तरह बलखाती हुई सफेद सूत की तरह जान पड़ती थीं। बड़े-बड़े

---

१. मेरी यूरोप यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० २२१
२. पृथ्वी-परिक्रमा—सेठ गोविन्ददास, पृ० ६४

जंगल मीलों लम्बे, ऊपर से कितने छोटे दिखलाई पड़ते थे। सचमुच मुझे मजा आ गया।[1] गोविन्दहरि फडके ने अपनी तीर्थयात्रा में पर्वतीय दृश्य का चित्र बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है—

"भागीरथी के असंख्य जलबिन्दु शिलाखण्ड से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उनके तुषारों से इन्द्रधनुष की भाँति विविध छटाएँ दीख पड़ती हैं। वे तुषार फिर शिवलिंग पर आकर गिरते हैं। इस प्रकार वहाँ कई अपूर्व छटाएँ दीख पड़ती हैं। स्वर्ग से गंगा उतरी इस कारण उसे निम्नगा अर्थात् नीचे उतरनेवाली कहते हैं।··· सुमेरु पूर्व की ओर होने से उसके हिमाच्छादित भाग पर सूर्य-किरणों का परावर्तन होते समय यह नगराज हीरक खचित वस्त्र धारण किए हुए जान पड़ता है।"[2]

भाषा

भाषा भावाभिव्यक्ति का प्रधान साधन है। काल और परिस्थिति के अनुसार यह विकास को प्राप्त होती है। प्रत्येक साहित्यिक रचना को महत्व प्रदान करनेवाली प्रमुख सहायिका उनकी भाषा है। यही कारण है कि भारतीय विद्वानों ने भाषा को काव्य एवं साहित्य का शरीर मानकर उसे सौष्ठव प्रदान करनेवाले हेतुओं पर गम्भीर रूप से विचार किया है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में भाषा के औचित्य पर पद-औचित्य, वाक्य-औचित्य, प्रबन्धार्थ-औचित्य आदि शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी गद्य का अभाव था। पश्चिम में गद्य के विकास के लिए एक से अधिक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण गद्य का विकास अधिक तीव्रगति से हो रहा था। उस समय के स्फुट उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि हिन्दी प्रदेश की राजनैतिक, साहित्यिक और धार्मिक चेतना के गढ-प्रधान केन्द्र ब्रज और राजस्थान में ही थे। मुसलमानी शासन-काल में खड़ोबोली का प्रचार बढ़ा और समस्त उत्तर भारत में इसका बोलबाला हुआ। इसने मुसलिम दरबारों में अपना स्थान बना लिया जिसका प्रभाव हिन्दी लेखकों पर पड़ना आवश्यक था ही। परिस्थितियों के साथ-साथ साहित्यिक तथा व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र मे खड़ी बोली प्रधानता ग्रहण करती गई और उसके परिणामस्वरूप एक नवीन युग की नवीन प्रेरणा से गद्य में स्थिरता आई। खड़ीबोली गद्य के विकास के साथ आलोच्यकाल में अधिकतर उपयोगी और व्यावहारिक विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ ही निर्मित हुईं। जिन-जिन साधनों द्वारा खड़ीबोली गद्य का विकास हुआ लगभग उन सभी में नवीन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण ही सन्निहित था। इसी गद्य द्वारा हिन्दी यात्रा-साहित्य का भी प्रादुर्भाव हुआ, और यात्रा-सम्बन्धी छुट-पुट लेख लिखे जाने लगे।

---

१. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ६४

२. मेरी तीर्थ-यात्रा—गोविन्दहरि फडके—चित्रमयजगत् सितम्बर, १६१८, पृ० २४०

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में गद्य में विशृंखलता आ गई और एक अराजकता-सी फैल गई। लेखकों के लिए कोई आदर्श सामने न था, उन्होंने अपना आदर्श-पथ स्वयं निश्चित किया और प्रत्येक लेखक ने अपनी मनमानी भाषा, भाव, नियम और विधान प्रस्तुत कर लिया। गद्य की निश्चित भाषा, प्रतिष्ठित परम्परा और मर्यादित आदर्श न था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गद्य की भाषा को एक निश्चित दिशा दी जिस पर चलकर बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त ने गद्य-शैली को भी जन्म दिया था। प्रारम्भ में लेखकगण कुछ थोड़े से साहित्यिक दृष्टिकोणवाले एक वर्गविशेष के लिए लिखते थे। इस वर्ग में पाठक और लेखक सभी वही लोग थे। धीरे-धीरे हिन्दी प्रचार का झंडा ऊँचा हुआ और लेखकों, पाठकों की संख्या में वृद्धि हुई। इधर लेखकों ने मातृभाषा की सेवा का महान आदर्श लेकर सेवा का कार्य आरम्भ कर दिया। लेखकों को जो कुछ रुचा, जो भी समझ में आया उसे उन्होंने अपनी मौलिक भाषा में लिख डाला। फलतः भाषा एकदम विशृंखल हो गई। साथ ही भाषा की अनेक समस्याएँ भी उठ खड़ी हुईं।

पहली समस्या भाषा की अराजकता की थी। ऐसे समय में संस्कृत, उर्दू, बंगला, मराठी और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में हिन्दी का प्रचार बढ़ा और असंख्य लेखक निकलने लगे जिनकी भाषा और भाव में अन्य भाषाओं की छाप स्पष्ट होती थी। ऐसा होना अवश्यम्भावी था। हमारे यात्रा-साहित्य के लेखक भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। अपने देश के प्रति विश्वासघात करनेवाले चीनियों को ठाकुर साहब ने खूब खरी-खोटी सुनाई है। वह लिखते हैं—

"सो उस छारखार जले-भुने खाकस्याह जनहीन टीनसिन में भी मुझ को कई कुल-कलंक देशकालिमा चीना मूर्तियाँ रेशमी पोशाकें पहने, लम्बी चोटी लटकाए दीख पड़ी थीं। यद्यपि ये सब हमारे सहायक थे, भेदिए थे, जासूस थे, देश की सब प्रकार की खबरें देते थे, रसद-पानी की भी सहायता करते थे और कटाकट अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाएँ भी बोलते थे, परन्तु सचाई के अनुरोध से अपने गुरुवर्ग अंग्रेजों के मुँह से भी ऐसा ही सुनते रहने के सबब से मैंने इन चीनियों को कुलकलंक और देश की कालिमा कहा है।"[1]

इसी प्रकार के एक उदाहरण में पर्य्यटक महाशय के हृदय में जो विचार उठे उनकी बानगी देखिए—

"गुलामी के पंजे में पड़े हुए देशों में स्वतन्त्रता की लड़ाई जब प्रारम्भ होती है तब तो वह प्रथम-प्रथम थोड़े ही मनुष्यों के द्वारा हुआ करती है। किन्तु यदि स्वतन्त्रता की विजय हुई तो यही छोटा दल देशभक्तों के नाम से इतिहास के पृष्ठों पर अंकित होता है और आनेवाली जातियाँ इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती हैं,

---

१. चीन में तेरह मास—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ३१७

इनका अनुसरण करती हैं और ये युवकों के हृदय-मन्दिर में स्थान पाते और पूजे जाते हैं। यदि गुलामी का जुआ हटाने की चेष्टा करनेवाले वीरों की हार हुई तो वे ही बागी पुकारे जाते हैं और भविष्य जाति जालियों के डर के मारे उनके नाम से डरती है। अपने को प्रतिष्ठित समझानेवाले लोग इन्हीं देशभक्तों को दुष्ट, दुरात्मा, पापी कहकर पुकारते हैं और उनसे घृणा करते हैं। हा! काल की विचित्र गति है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों में मोटे शब्द उर्दू और फारसी के हैं। एक ओर उस युग के बाबू देवकीनन्दन खत्री एवं किशोरीलाल गोस्वामी आदि प्रसिद्ध उपन्यासकार सरल उर्दू-मिश्रित हिन्दी अथवा साधारण बोलचाल की हिन्दुस्तानी का प्रयोग कर रहे थे जिसमें चेहला, महराना आदि काशी के बोलचाल के शब्द भी आ जाते थे। दूसरी ओर लज्जाराम मेहता आदि ब्रज की बोलचाल की भाषा-मिश्रित सरल हिन्दी में उपन्यासों का ढेर लगा रहे थे। काशी के लेखकगण एक विशेष भाषा का उपयोग कर रहे थे जिसमें शुद्ध संस्कृत तत्समों का आधिक्य था, जैसे—

"वृन्दारक-वृन्द रंगस्थली हिममय से ले तुरंग-तरंग संकुलित तोयनिधि प्रशस्त भारत सागर तट लों, एवं नीलाचल से आरब्ध उपसागरस्थ श्री द्वारिकापुरी तक ऐसी कौन तीर्थमयी पुण्यस्थली है।"[2]

दूसरी समस्या व्याकरण की थी। यात्रा-साहित्य के लेखक भ्रमण के उत्साह में यह बिलकुल ही भूल गए थे कि व्याकरण भी कोई आवश्यक चीज है। इसी कारण लेखकों में अनेक व्याकरणिक अशुद्धियाँ देखने को मिलती हैं। यहाँ पर उदाहरणार्थ हमने केवल स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (यात्रा साहित्य के एक प्रमुख लेखक) के यात्रा-साहित्य से ही कुछ उद्धरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। देखिए—(क)

	मूल	संशोधित
स्वरगत लेखन त्रुटि—	बिचारे[3]	बेचारे
व्यंजनगत लेखन त्रुटि—	जूँही[4]	ज्योंही
	प्रबन्ध[5]	प्रबन्ध

१. पृथ्वी-प्रदक्षिणा—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ६३
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—द्वितीय भाग, १८६८, पृ० ६६
(क) ये सभी उद्धरण सत्यदेव परिव्राजकजी के हस्तलिखित लेखों से उद्धृत किए गए हैं। ये हस्तलिखित लेख आज भी काशी नगरी प्रचारिणी सभा के कला भवन में रक्षित हैं। ये सरस्वती में प्रकाशनार्थ आए थे।
३. अमेरिका में विद्यार्थी जीवन—सरस्वती १६०८, पृ० ३
४. वही—पृ० २
५. अमेरिका भ्रमण—सरस्वती, १६११, पृ० ४

मूल		संशोधित
संज्ञा सम्बन्धी—	फासला पर[1]	फासले पर
सर्वनाम सम्बन्धी—	कुछ एक ने[2]	कई एक ने
विशेष्य विशेषण सम्बन्धी—	उनके अभियान का चकनाचूर हो गया[3]	उनका अभियान चकनाचूर हो गया
क्रिया सम्बन्धी—	जिस दिन आकाश शुद्ध हो चोटियाँ दीख पड़ती[4]	जिस दिन आकाश साफ रहता है—चोटियाँ दीख पड़ती हैं।
अव्यय सम्बन्धी—	आपको कष्ट ही होगा[5]	आपको व्यर्थ कष्ट होगा
लिंग सम्बन्धी—	धूल नहीं उड़ता[6]	धूल नहीं उड़ती
वचन सम्बन्धी—	कुछ शब्द सुनाई दिया[7]	कुछ शब्द सुनाई दिये
सन्धि सम्बन्धी—	वरम्नामदे में[8]	बरामदे में
कारक सम्बन्धी—	आधी संख्या हमारे देश की मूर्खा स्त्रियों की है[9]	आधी संख्या हमारे देश में मूर्खा स्त्रियों की है।

तीसरी समस्या थी भाषा में शब्दों के अभाव की। हिन्दी साहित्य में शब्द-भंडार इतना अपर्याप्त था कि उसमे सभी भावों की व्यंजना नही हो सकती थी और बोलचाल की भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। उदाहरण के लिए देखिए—

"सैकड़ों अहरे लगे हुए है कोई गाता है कोई बजाता है कोई गप हाँकता है।"[10]

"अभी एक गँवार भाट आया था वेतरह बका फूहर औरतों की तारीफ में एक बड़ा भारी पचड़ा पढ़ा।"[11]

इसी प्रकार यात्रा-साहित्य के अन्य लेखकों ने भी शब्दों का प्रयोग किया, जैसे मिट्टी पलीद, अलग, भमरा, ठसाठस, झमेला आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

---

१. अमेरिकन स्त्रियां—सरस्वती १९०८, पृ० ४
२. अमेरिका भ्रमण—सरस्वती १९०९, पृ० १०
३. वही—१९११, पृ० ९
४. वही—सरस्वती—१९११, पृ० ११
५. अमेरिका की स्त्रियां—सरस्वती १९०८, पृ० १०
६. अमेरिका भ्रमण—वही १९११, पृ० १२
७. अमेरिका के खेतों पर मेरे कुछ दिन—सरस्वती १९०६, पृ० १३
८. अमेरिका भ्रमण—सरस्वती; १९११, पृ० ११
९. शिकागो का रविवार—सरस्वती, १९०७
१०. सरयूपार की यात्रा—भारतेन्दु हरिश्चन्द, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका भाग ६, पृ० १२
११. भारतेन्दु के निबन्ध—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० ५६

ये बोलचाल के शब्द समस्त हिन्दी प्रदेशों में नहीं समझे जा सकते थे—फिर भी अर्थ-व्यंजना के लिए इनका प्रयोग करना आवश्यक था। शब्द-भण्डार के अभाव का मूलकारण यह था कि हिन्दी में अब तक केवल पद्य ही लिखा जाता था, गद्य का नितान्त अभाव-सा था।

चौथी समस्या हिन्दी का उर्दू के साथ संघर्ष था। यही सबसे जटिल समस्या थी। परिणामस्वरूप खिचड़ी भाषा का प्रयोग होता था। इस प्रकार की भाषा के लिए भारतेन्दुजी की सरयूपार की यात्रा का उद्धरण यथेष्ट होगा। भारतेन्दुजी लिखते हैं—

"कल साँझ को **चिराग** जले रेल पर सवार हुए ० यह गए वह गए ० राह में **स्टेशनों** पर बड़ी भीड़ ० न जाने क्यों ? **और मजा** यह कि पानी कहीं नहीं मिलता था ० यह **कम्पनी मजीद के खानदान** की मालूम होती है कि **ईमानदारों** को पानी तक नहीं देती या **सिप्रस** का टापू **सर्कार** के हाथ आने से और शाम में **सर्कार** का **बन्दोबस्त** होने से यह भी **शामत** का मारा **शामी तरीका अखतियार** किया गया है कि शाम तक किसी को पानी न मिले ० **स्टेशन** के नौकरों से **फर्याद** करो तो कहते हैं ० कि डाक पहुँचावै रोशनी दिखलावै कि पानी दे ० **खैर** जों-तों कर अयोध्या पहुँचे।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में बड़े टाईप के शब्द विभिन्न भाषाओं के हैं।

इस प्रकार बीसवीं सदी के प्रारम्भिक काल में गद्य की साहित्यिक भाषा, व्याकरण और शब्द-समूह इत्यादि सभी दृष्टियों से अनिश्चित रूप में विद्यमान थी। मुसलमान राज्यों एवं अंग्रेजों के कारण भाषा में व्यावहारिकता उत्पन्न हो गई और उनमें विभिन्न भाषाओं के शब्दों का मिश्रण हो गया। यह हम जानते हैं कि भाषा की प्रवृत्ति सदैव विकासोन्मुख रही है और जितने ही व्यापक रूप से किसी भी काल की भाषा अपने समाज में प्रचलित शब्दों को आत्मसात करके चलती है भाषा उतनी ही दीर्घजीवी होती है। इस प्रवृत्ति को छोड़ते ही भाषा का विकास रुक जावेगा। संस्कृत भाषा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो भाषा के शब्द-समूह का भी अपना एक विशिष्ट महत्व होता है। किसी भी काल की भाषा क्यों न हो वह उस काल की भाषा के चार रूपों में शब्दों को अपनाती है। तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी। तत्सम शब्द वे होते हैं जिन्हें किसी काल की भाषा अपने पूर्ववर्ती साहित्य में प्रयुक्त शुद्ध रूपों को ज्यों-का-त्यों अपना लेती है। वे संस्कृत से निकलकर अपने विशुद्ध और वास्तविक रूप में हिन्दी साहित्य में व्यवहृत होते हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य में ऐसे शब्दों की संख्या अधिक परिमाण में है। ऐसे शब्दों की संख्या आज दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। क्योंकि

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—हरिश्चन्द्र चन्द्रिका—Vol. 6, No. 8, page, 11, February 1879.

समय और स्थिति के अनुसार हिन्दी को ज्यों-ज्यों नवीन आवश्यकताएँ पड़ती हैं, वह संस्कृत से नए-नए शब्दों को ग्रहण करती जा रही है। उदाहरणार्थ कुछ तत्सम शब्द देखिए—देव, स्वर्ग, पाताल, नाग, मनुष्य, राजा, पिता, नदी आदि।

इसके साथ ही कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो कालान्तर में जनता द्वारा प्रयुक्त होते-होते रूप परिवर्तित कर लेते हैं और अपने इस परिवर्तित रूप में तत्कालीन साहित्य में प्रयुक्त होने लगते हैं, ऐसे शब्द तद्भव होते हैं। ये शब्द संस्कृत से सीधे हिन्दी में न आकर प्राकृत से होते हुए आए हैं। जैसे-साँप, काज, गाय, गोरु, राजपूत आदि।

तीसरे प्रकार के शब्द 'देशज' कहलाते हैं। इन शब्दों का विकास जनता के बीच उनकी बोलियों से होता है और उनका कोई भी पूर्ववर्ती साहित्यिक रूप उपलब्ध नहीं होता। जैसे—टिकाऊ, चालू, पिल्ला, तेंदुआ, खिड़की आदि।

चौथे प्रकार के शब्द विदेशी शब्द कहलाते हैं, जिनका किसी भी काल की भाषा में अपना एक विशिष्ट महत्व होता है। हिन्दी यात्रा-साहित्य के प्रमुख लेखकों में हमें अरबी, फारसी और अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बहुत मिलता है। यहाँ पर कुछ शब्दों को उदाहरणस्वरूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है—

आबोहवा, मुलाकात, तकलीफ, ताकीद, हिफाज़त, तदारुक, हैसियत, पोशाक, जल्दबाज़ी, दिक्कत, तजबीज़, खुशनुमा, चन्दरोज़ा, किसमत, शिकायत, हैरानी, पेशराज, नफरत, तिजारत, मुकाबला, मुस्तैद, बरिखलाफ़, जुल्म, नज़ाकत, फ़ुरसत, इत्तिफ़ाक, मशग़ूल, जंगीजाकत, जबर्दस्त, मुताबिक, सहूलियत, तकाज़ा, मुनासिब, तसल्ली, हुकूमत, जिहालत, लतीफा, संजीदगी, इश्तहारबाज़, कुदरत, ख़िदमतगार, खौफनाक, नज़ारा, मिलकियत, नज़दीक, रिवाज़, दिल्लगी, शौक, मोहलत, कमज़ोरी, बदौलत, मौके, खुशामद, खिलाफत, हिमाकत, नज़रबन्दी, मुकम्मिल, बाशिन्दे, कमबख़्ती, जल्दबाजी, हिदायतें, इज़ाज़त, सख्त, इलाका, तिजारत, नावाकिफ, गुंजाइश, तालीम, मुद्दत, तजुरबे, बरबादी, ताज्जुब, बदकिस्मत, उसूल, हमदर्दी, आलीशान, अलबत्ता, लियाकत, तंगदिली, शिफारिश, वाकफियत, मुकर्रर, ज्यादती, आमदरफ्त, तफरीह, दरियाफ्त, तरद्दुद, बेपर्वाह, फतवा, हिफ़ाज़त, नज़र, मिजाजपुरशी, खाके, बेदाग़, गफ़लत, गज़ब, इज़ाफा, शराफत, गुंजायश, खुशमिज़ाजी, मुलाज़िम, सुरूर, कयामत, कैफियत, शिकन, मिलकियत, मुसल्लम, खुराफात, मासूमियत, मज़हबी, बाजाप्ता, तरजीह, लाजिमी, अख्तियार, चहल-कदमी, दिल्लगी, तजर्बे, ज़िदादिल, रविश, फरमाया, पर्दानशीनी, शिकस्त, तकसीम, परहेज़गार, बेशक, आमदरफ्त, खैरियत आदि आदि। इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के—क्रिश्चियन, फैन्सीफेयर, प्लेटफार्म, रेजिमेन्ट, रिफ्रेशमेन्ट, माइल, ट्रेजिडी, नेशनलिस्ट, सर्टीफिकेट, फिलासफर, चाकलेट, सोडालेमनेड, चुरुट, आइसक्रीम, फिलासफ़ी, गवर्नमेण्ट, पालिसी, फैशन, सदर्नपेसफिक, इन्जेक्शन, प्रोपेगन्डा, ओपरेशन, रिपब्लिक, मैगज़ीन,

फाइल, ग्रामर, थैंक यू, इनवैलिड, सर्जरी, टाइफाइड, क्रिस्टान, फास्ट, अम्यूनीशन, पायनियर, चियर्स इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

भाषा के गुण—भाषा के तीन प्रधान गुण माने गए हैं, माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन प्रधान गुणों के अन्तर्गत कुछ अन्य गुण भी लिए जा सकते हैं, जैसे—भावात्मक, रसात्मक, अभिव्यंजनात्मक, प्रवाहमयी, प्रांजल, मुहावरेदार, कहावतों से युक्त, अनुप्रासमयी एवं आलंकारिक भाषा इत्यादि।

माधुर्य की मुख्य विशेषता हृदय को आह्लादित और द्रवित करना है, इसलिए संयोग शृंगार, करुण एवं शान्त रसों में इसकी विशेष रूप से स्थिति होती है। माधुर्य गुण में टवर्गी वर्णों का सर्वथा अभाव रहता है। क्योंकि टवर्गी वर्ण कर्णकटु होते हैं। अतएव ये कोमल भावनाओं का प्रकाशन सरलता के साथ नहीं कर पाते। 'हिमालय परिचय' में राहुलजी ने हरिगौरी का बड़ा माधुर्यमय चित्र खींचा है—

"मैं, मैंखडा की खंडित हरिगौरी मूर्ति से ही बहुत प्रभावित था, किन्तु यहाँ मैंने शोभा और सौन्दर्य मे अद्वितीय इस हरिगौरी मूर्ति को देखा। इसकी कोमल बंकिम रेखाओं में वही सौन्दर्य भरा था, जो कि अजन्ता के चित्रों में दिखाई पड़ता है, बल्कि पत्थर मे ऐसा तन्वंग उत्कीर्ण करना संभव हो सकता है, इस पर आँखें विश्वास नहीं करती थी। ललितासनस्थ हर के वामाक में अनुपम सौन्दर्यराशि की मूर्ति बनकर भूधरसुता विराजमान है।"[1] माधुर्यपूर्ण भाषा का एक उदाहरण हमें भारतेन्दुजी की 'हरिद्वार यात्रा' में भी मिलता है। देखिए—

"यह भूमि तीन ओर सुन्दर हरे-हरे पर्वतों से घिरी है जिन पर्वतों पर अनेक प्रकार की बल्ली हरी-भरी सज्जनों के शुभ मनोरथों की भाँति फैलकर लहलहा रही हैं और बड़े-बड़े वृक्ष भी ऐसे खड़े हैं मानों एक पैर से खड़े तपस्या करते हैं। और साधुओं की भाँति घास, ओस और वर्षा अपने ऊपर सहते हैं। अहा! इनके जन्म भी धन्य है जिनके अर्थी विमुख जाते ही नहीं। फल, फूल, गन्ध, छाया, पत्ते, छाल, बीज, लकड़ी और जड़ यहाँ तक कि जले पर भी कोयले और राख से लोगों का मनोरथ पूर्ण करते हैं। सज्जन ऐसे कि मारने से फल देते है। इन वृक्षों पर अनेक रंग के पक्षी चहचहाते हैं और नगर के दुष्ट बधिकों से निडर होकर कल्लोल करते हैं।"[2]

माधुर्य के बाद भाषा में ओज का महत्व होता है। चित्त में उत्साह के भाव को उद्दीप्त करना ओजगुण का मुख्य ध्येय होता है। इसमें संयुक्ताक्षरों, दित्त्व वर्णों, टवर्गों से युक्त शब्दों की योजना रहती है। यशपाल की उपमाएँ सर्वथा नवीन हैं, और उनके कारण भाषा में और अधिक ओज-शक्ति आ गई है। उपमाओं से

१. हिमालय-परिचय—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४४१

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—भाग ३, सेठ ब्रजरत्नदास—ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ६४३

जो बात लेखक कहना चाहता है वह और अधिक स्पष्ट हो जाती है। देहरादून और मसूरी का एक चित्र देखिए—

"पहाड़ियों से घिरी उस उपत्यका में जा मां की गोद में आँख मूँदकर सो जाने का-सा सुख मिलता है। वृक्षाच्छादित, सूनी और स्वच्छ सड़कें, परेड का विस्तृत मैदान और चारों ओर उमड़ती लहरों-सी हरियाली छाई पहाड़ियाँ। यह सब चित्र के समान जान पड़ता है। रात में मसूरी की पहाड़ी पर छिटकी बिजली की रोशनी मानों सूर्य की रानी दिन में वहाँ क्रीड़ारत हो अपना सतलड़ा हार भूल गई हो, वही रात में पड़ा चमक रहा है वातावरण की वह आर्द्र शीलता कैसी प्राणपोषक जान पड़ती है। संसार की व्यग्रता, उथल-पुथल तथा भयंकर संघर्ष से परे 'देहरा' किसी साधना रत के आश्रम के समान जान पड़ता है। जाने कब से मन में निश्चय कर लिया है मेरी कब्र, अगर बनी तो देहरे के दामन में ही बनेगी।"[1] अनुमानतः लेखक ने देहरादून की कभी यात्रा की होगी और वही विचार कहानी लिखते समय आ गया होगा तभी उसने इसका वर्णन किया है। यशपालजी अपनी रूस-यात्रा का ओजपूर्ण वर्णन करते हुए लिखते है—

"कप्तान के यह कार्ड बार-बार याद दिला देते थे कि विज्ञान द्वारा मनुष्य का सामर्थ्य कितना बढ़ गया है। कैसे वह प्रकृति पर राज्य कर रहा है। दूसरी ओर मनुष्य की आत्म-संहार की प्रवृत्तियाँ ? इसी प्रसंग में तो हमारी यात्रा थी।··· मनुष्य आत्मसंहार को करना नहीं चाहता। मनुष्य अपने विश्वास में आत्मरक्षा और आत्मविकास का ही प्रयत्न करता है लेकिन परिणाम विपरीत हो जाता है, या समाज के विकास के जो ढंग और प्रयत्न बीती हुई परिस्थितियों में उपयोगी थे, अब मनुष्य द्वारा अपनी परिस्थितियाँ बदल लेने पर हानिकारक हो रहे हैं।"[2]

प्रसाद-गुण का प्रयोग रसविशेष की सीमा में आबद्ध नहीं रहता वरन् उसकी स्थिति लगभग सभी रसों में रहती है। इसका मूल कारण यह होता है कि ओज और माधुर्य का भाषा के बाहरी रूप-शब्दों से ही सम्बन्ध रहता है जब कि प्रसाद का अर्थ से अधिक सम्बन्ध होता है। अज्ञेयजी जलप्रपात के दुग्धधवल फेन के आवर्त्त और वन-सरस्वती के अप्रतिहत संगीतमय वातावरण में बड़े बड़े श्वेत हरित पत्थरों को देखकर कह उठते हैं—

"स्वर के साथ-साथ प्रपात का चित्र मेरे अन्तस में बस गया था, और मैं मानों मुड़-मुड़कर एक बन्धु को आश्वासन दे रहा था कि फिर आऊँगा, फिर आऊँगा ······ वह 'फिर आऊँगा' नहीं हुआ है, न जाने कभी होगा कि नहीं, किन्तु वह प्रतिश्रुति झूठ नहीं है, क्योंकि वह मनोभाव झूठ नहीं है। फिर आना वास्तव में

---

१. ज्ञानदान संग्रह—एक राज—यशपाल, पृ० २३
२. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० १८-१९

कभी होता ही नहीं, क्योंकि काल की दिशा में लौटना कभी नहीं होता"।[1] पं० सूर्यनारायण व्यासजी ने स्विटज़रलैण्ड का वर्णन करते हुए लिखा है—

"प्रकृति रमणी अपने वैभवोन्माद से पूर्ण यौवन का निखरा हुआ लावण्य निर्मल धवल सलिला विस्तृत झील के आइने में निहारा करती है। अपने मोहक रूप और सौन्दर्य की सुषमा देखने के लिए ही प्रकृति रानी ने तटनी के तीर पर अपना सौभाग्य-शृंगार सहित वास्तव्य किया है।"[2]

प्रवाहमयी प्रांजल भाषा में मुहावरों का प्रयोग अधिक होता है। भाषा के अन्तर्गत शब्दों की ध्वन्यात्मक शक्ति के साथ अर्थ की दृष्टि से भी शब्दों की विशिष्ट योजना की जाती है। कुछ क्रिया-व्यापारों का आश्रय लेकर भाषा के अन्तर्गत लाक्षणिक शैली का प्रयोग किया जाता है। शब्द की लक्षणाशक्ति को मुहावरों एवं कहावतों के अन्तर्गत विशेष रूप से प्रयुक्त किया जाता है। भाषा के अन्तर्गत मुहावरे की महत्ता को वर्णित करते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है— "मुहावरे एक प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग ही हैं। प्रयोजन को लेकर जो लाक्षणिक प्रयोग होते हैं, उन्हें चाहे कोई भाषा के घर से हटाकर भाव की संपत्ति कहे, पर रूढ़ प्रयोग तो भाषा का ही वैभव है।"[3] इससे स्पष्ट है कि मुहावरों का निर्माण अनुभवों को लेकर होता है। भाषा के अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने के साथ ही मुहावरे भाषा को भावों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी सफल बनाते हैं। मुहावरों का प्रयोग भाषा में प्रवाह ला देता है। साथ ही सुगमता से स्पष्टीकरण भी करता है। य.त्रा-साहित्य के प्रमुख लेखकों की भाषा में भी मुहावरों का ऐसा ही सजीव प्रयोग किया गया है। लोकोक्तियों, कहावतों एवं सूक्तियों का भी सहज प्रयोग भाषा की विशेषता है। किसी-किसी लेखक ने नित्य जीवन में प्रयुक्त होनेवाली कहावतों का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार के कुछ उदाहरण दृष्टव्य होंगे—

'किन्नर देश की यात्रा' में राहुलजी ने लिखा है—"रोज पाँच मील पैदल चलने का कुछ व्रत कर लिया **'दूध का जला छाछ फूँक-फूँक कर'** आखिर शारीरिक श्रम की अवहेलना करके ही तो डायबेटिस को बुलौआ दिया था। सड़क के ऊपर ऊँचे देवदार दिखलाई पड़ते थे। आगे सड़क रक्षित बन-खंड में घुसी।"[4]

'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' में सत्यदेवजी लिखते हैं— "सूर्य देव मेरे कमरे को अपने प्रकाश से ज्योतिपूर्ण कर रहे हैं। सामने बाग में पेड़ों के नवपल्लव, फूलों से लदी हुई टहनियाँ हल्के समीर में झूम रही हैं। कठोर शीत के बाद जर्मनी में बसन्त आरंभ हुआ है, नागरिक सड़क पर मस्त घूम रहे हैं। पर मेरा हृदय अशान्त

---

१. अरे यायावर रहेगा याद—अज्ञेय, पृ० १०१
२. सागर-प्रवास— पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० १३१
३. पद्माकर पंचामृत— (आमुख से) संपादक—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १०२
४. किन्नर के देश में— राहुल सांकृत्यायन, प० ५१

और व्यथित है। जो बातें मैंने आज तक कभी अपने होठों से बाहर नहीं निकाली थीं, उन्हें बाहर करने से मेरे अन्दर वर्षों की संचित व्यथा का समुद्र उमड़ पड़ा।"[१]

"सब जात में बुर्बक जथरिया। मारे लाठी छीनै चदरिया।"[२]

अगर उनकी चलती, तो यह प्रदेश चटियल पड़ गया होता।[३]

शिवप्रसाद गुप्तजी ने भी लिखा है—

"प्रधान वक्ताओं में, जो टेबुलतोड़ व बेंचफोड़ वक्ता कहे जाते हैं, ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक मिलेगी जिनका निज का चरित्र अनुकरणीय नहीं पाया जाएगा। ···रत्नों में लगी हुई गर्द के झाड़ने की आवश्यकता है न कि उनके फेंकने की ···सुधारकों को चाहिए कि समाज की स्थिति में उलटफेर करने के पूर्व भली-भाँति बिचार के काम करें। केवल कुछ प्रचलित शब्दों के आधार पर ही न चल दें। जैसे—हिन्दुओं के चौके ने चौका लगा दिया,— संग खाने से प्रेम बढ़ता है—नौ कनौजिए तेरह चूल्हे—अनमिल विवाह से प्रेम नहीं बढ़ता, छूआछूत बेहूदगी है।"[४]

उपर्युक्त मुहावरों से युक्त वाक्यो के अतिरिक्त भी कुछ मुहावरे दृष्टव्य होंगे। जैसे—दाल-भात में मूसरचन्द, अँगूठा दिखाना, न ऊधो का लेना न माधा का देना, बिल्ली के भाग्य से छींका टूटना, दाल में काला, घर की गंगा गड़ही बरोबर, अग्रसोची सदा सुखी, होनहार बिरवान के होत चीकने पात, मारे के मारे भूत पराये, अब पछताए होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत। घर का भेदिया लंका दाह, धोबी बसिके का करे दीगम्बर के गाँव, बरस दिन के रास्ते जाना, छः महीने के रास्ते नहीं, आरत काह न करै कुकर्मू, आँख ओट पहाड़ ओट, नैया बिच नदिया डूबी जाय, जैसे कारी कामरी चढ़े न दूजो रंग, जरै नगर अनाथ कर जैसा, धोबी से न बसाने पर गदहे का कान ऐंठना, को न कुसंगति पाय नसाई।

कुछ सूक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं—भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरइ न टारा।। हजरते दाग जहाँ बैठ गए बैठ गए, मूँदहु आँख कतहुँ कोउ नाहीं, बाघ और बंदूक बाँधे (बैसवाड़े की कहावत), जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजै, बिना बिचारे जो करै सो पाछे पछिताय, जो तो कूँ काँटा बुवै वाको बो तू फूल,

लीक लीक गाड़ी चलै लीकै चलै कपूत,
लीकै छाड़ि के चलत हैं, सायर शूर सपूत।

ये उपयुक्त मुहावरे, कहावतें और लोकोक्तियाँ भाषा की लोकरुचि को और अधिक स्पष्ट कर देती हैं। ये भाषा की शक्ति और सजीवता के परिचायक हैं।

---

१. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—सत्यदेव परिव्राजक—पृ० १४७
२. राहुल यात्रावली—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १८०
३. किन्नर देश में— राहुल, पृ० ५१
४. पृथिवी-प्रदक्षिणा— शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ८२

भावात्मक अभिव्यंजना से पूर्ण स्विटजरलैंड की रमणीयता का वर्णन करते हुए सेठ गोविन्ददासजी ने लिखा है—

"आकाश के निर्मल न होने के कारण दृश्य को और भी अधिक सुषमा मिल गई थी, क्योंकि बादलों को अस्त होते हुए अरुण की मयूखों ने कहीं अरुण और कहीं सुनहली बना दिया था। इन रंगों का प्रतिबिम्ब बरफ से ढँके हुए श्वेत पर्वतों के शिखरों, हरे तरुओं और झील के नीले नीर पर अनोखा रंग बरसा रहा था। कुछ और अँधेरा होने पर झील के उस पार बसे हुए छोटे-छोटे गाँवों में बिजली का प्रकाश फैला। अब तो हवा के वेग से चलती हुई ट्रेन की चाल के कारण सारा दृश्य एक स्वप्न-भूमि-सा जान पड़ने लगा। हम तब तक इस दृश्य को निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे जब तक अँधेरे की काली चादर ने सारे दृश्य को ढँककर हमारी आँखों से ओझल न कर दिया।"[1]

इसी प्रकार प्रवाहमयी भाषा में रसात्मक सौन्दर्य का दर्शन कराते हुए, भावों के साथ-ही-साथ भाषा के प्रयोग में भी अधिक-से-अधिक सौन्दर्यगत अनुपात रखना आवश्यक हो जाता है। ठाकुर गदाधरसिंह अपने ग्रन्थ में लिखते हैं—

"सायंकाल दिन अस्त होते समय जो बाहर निकलकर अपर डेक (ऊपर की छत) पर जाकर इधर-उधर देखने लगा तो मन में न जाने क्या-क्या भाव उदय होने लगे। अस्ताचल को चलता हुआ सूर्य जो अपनी रक्तिमामय प्रतिच्छाया गंगाजल पर विस्तारित किए था, उससे समस्त जल आलोकमय दीख पड़ा। हिलोरें खाता हुआ जल रह-रहकर बिजली की भाँति अपूर्व चकाचौंध मचा रहा था।"[2]

भारतेन्दुजी की यात्राओं में भाषा का निखार बड़ा शिष्ट सामान्य रूप-कला के साथ प्रगट हुआ है। उनके प्रयुक्त शब्दों को हम नित्य की भाषा में प्रयुक्त करते हैं जो किंचितमात्र भी अखरनेवाले नहीं हैं, ऐसे शब्दों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया गया है। कुछ तद्भव रूपों के प्रयोग से भाषा में कहीं शिथिलता या ग्राम्यत्व भी नहीं आ सका है वरन् इसके विपरीत भाषा और व्यावहारिक तथा भावव्यंजक हो गई है। इनकी भाषा में एक नवीन जीवन की उद्भावना रहती है। लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा में शक्ति तथा दीप्ति उत्पन्न करने का ध्यान इन्होंने बराबर रखा है। अनेकानेक मुहावरों का प्रयोग स्थान-स्थान पर बड़ी सफलता से किया है। यही कारण है कि उनकी भाषा भावाभिव्यंजना में इतनी समर्थ और सजीव दिखाई पड़ती है। इसमें नागरिकता की झलक सर्वत्र मिलती है। इनकी हरिद्वार-यात्रा का थोड़ा-सा अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"वर्षा के कारण सब ओर हरियाली ही दृष्टि पड़ती थी, मानो हरे गलीचे की यात्रियों के विश्राम के हेतु बिछायत बिछी थी। एक ओर त्रिभुवनपावनी श्री

---

१. पृथ्वी-परिक्रमा— सेठ गोविन्ददास— पृ० ७८

२. चीन में १३ मास— ठा० गदाधरसिंह, पृ० २

गंगाजी की पवित्र धारा बहती है जो राजा भगीरथ के उज्ज्वल कीर्ति की लता-सी दिखाई देती है । जल यहाँ का अत्यन्त शीतल है और मिष्ट भी वैसा ही है मानो चीनी के पने को बरफ में जमाया है, रंग जल का स्वच्छ और श्वेत है और अनेक प्रकार के जल-जन्तु कल्लोल करते हुए । यहाँ गंगाजी अपना नाम नदी सत्य करती हैं । अर्थात् जल के वेग का शब्द बहुत होता है और शीतल वायु नदी के उन पवित्र छोटे-छोटे कनों को लेकर स्पर्श ही से पावन करता हुआ संचार करता है ।"[1] रोचकता और आत्मीयता से पूर्ण यह भाषा कितनी व्यावहारिक है जिसमें स्निग्धता एवं रसात्मकता चलताऊपन के साथ दिखाई पड़ती है । वाक्य-रचना सरल एवं गठी हुई है । इसके साथ ही इसमें शब्द-चित्र उपस्थित करने की क्षमता भी प्रकट होती है । हरिद्वार की प्राकृतिक सुषमा और गंगा की विचित्रता का वर्णन प्रधान है । भाषा में माधुर्य है और चलताऊ शब्दों का प्रयोग है जैसे बिछायत, जल के छल के । कहीं-कहीं आत्मक्षोभ, व्यंग्य-विनोद की अभिव्यंजना होने पर भीतर के उद्गार आतुरतापूर्वक बाहर निकलने की चेष्टा करने लगते हैं । छोटे-छोटे वाक्यों में कितनी शक्ति होती है इसका पता इस उदाहरण से स्पष्ट लग जाता है । अभिप्राय-कथन एवं विषय-प्रतिपादन में स्वच्छता दिखाई पड़ती है । वैद्यनाथ की यात्रा का वर्णन करते हुए हरिश्चन्द्रजी लिखते हैं—

"साँझ होने से बादल छोटे-छोटे लाल-पीले-नीले बड़े ही सुहावने मालूम पड़ते थे । बनारस की रंगीन शीशे की खिड़कियों का-सा सामान था । क्रम से अंधकार होने लगा, ठंडी-ठंडी हवा से निद्रादेवी अलग नेत्रों से लिपटी जाती थी । मैं महाराज के पास से उठकर सोने के वास्ते दूसरी गाड़ी में चला गया । झपकी का आना था कि बौछारों ने छेड़छाड़ शुरू की, पटना पहुँचते-पहुँचते तो घेरघार कर चारों ओर से पानी बरसने ही लगा । बस पृथ्वी-आकाश सब नीर ब्रह्ममय हो गया । इस धूमधाम में भी रेल कृष्णाभिसारिका-सी अपनी धुन में चली ही जाती थी । सच है, सावन की नदी और दृढ़प्रतिज्ञ उद्योगी और जिनके मन प्रीतम के पास हैं वे कहीं रुकते हैं ? राह में बाज पेड़ों में जुगनू लिपटे हुए थे कि पेड़ सचमुच 'सर्वेचिरागा' बन रहे थे । जहाँ रेल ठहरती थी, स्टेशन-मास्टर और सिपाही बिचारे टुटरूँ टूँ छाता, लालटेन लिए रोजी जगाते भीगते हुए इधर-उधर फिरते दिखलाई पड़ते थे ।···निद्रा-वधू का संयोग भाग्य में न लिखा था, न हुआ । एक तो सेकेण्ड क्लास की एक ही गाड़ी, उसमें भी लेडीज़ कम्पार्टमेंट निकल गया, बाकी जो कुछ भी बचा उसमें बारह आदमी । गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी, जैसी हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत ।"[2] इस उद्धरण में यात्रा-मार्ग का सुन्दर व्यंग्यपूर्ण वर्णन है जो तत्कालीन रेल-व्यवस्था तथा स्टेशनों का सजीव चित्र उपस्थित करता है । इस निबन्ध की भाषा में भावाभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए अमूर्त उपमाओं का

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली— भाग ३, सं० ब्रजरत्नदास— काशी ना० प्र० सभा, पृ० ६४३

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—भाग ३, सं० ब्रजरत्नदास—काशी ना० प्र० सभा, पृ० ६५६

सुन्दर प्रयोग हुआ है जो व्यंजना द्वारा अपनी यथार्थता पर भी व्यंग्य करती है जैसे—"गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत," अर्थात् बुरे दिनों की यथार्थता को भी लेखक व्यंजित कर देता है ।

सरल और बोलचाल में साधारणतया प्रयुक्त होनेवाली भाषा को प्रयुक्त करते हुए प्रोफेसर मनोरंजन ने लिखा है—

"थोड़ी ही देर के बाद सुन्दर स्वर्ण प्रभात हुआ—ऐसा दिव्य, ऐसा सुन्दर, जैसा मैंने कभी देखा न था। पहाड़ के पीछे से सूरज की किरणें उठकर एक विचित्र रंग से मेघों को रँग रही थी। यह शोभा देखते ही बनती थी। उसका वर्णन कोई भी कवि नहीं कर सकता और न कोई चतुर चितेरा उसका चित्र ही खींच सकता है। अफसोस, यह दृश्य फिर देखने को न मिलेगा!"[१]

इस प्रकार हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यात्रा-साहित्य के लेखकों की भाषा-शैली में सभी मुग्धकारी विशेषताएँ मिलती हैं। लेखकों की भाषा बहुत ही सरल, स्पष्ट और व्यंनजापूर्ण है, उनमें हास्य के मधुर छींटे और व्यंग्योक्तियाँ भी मिलती हैं। भावुकता-प्रधान, लाक्षणिक, संवेदनात्मक, दार्शनिक, आलंकारिक, कल्पनात्मक एवं चित्रात्मक शैलियाँ विभिन्न लेखकों में मिलती हैं। व्यंजनापूर्ण एवं भावपूर्ण प्राकृतिक वर्णनों से यात्रा-साहित्य भरा पड़ा है। लेखकों की भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति अपूर्व है। प्रकृति के सुन्दर स्थलों की सूक्ष्मतम बातों का सुन्दर चित्रण भावात्मक एवं कल्पनात्मक शैली में किया गया है।

★

---

१. 'उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० २५६

: १० :

हिन्दी यात्रा-साहित्य : सिंहावलोकन : उपसंहार

मानव जीवन ही हमारे विकास-यात्रा की कहानी है। जीवन और साहित्य एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। साहित्य और जीवन का वही सम्बन्ध है जो शरीर और आत्मा का है। साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति और उसकी वास्तविकता दोनों होती हैं। वह कालविशेष की समस्त परिस्थितियों को हमारे समक्ष रख देता है। किसी भी देश की सभ्यता तथा संस्कृति का परिचय हमें उस देश के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। विलियम हेनरी हडसन ने अपनी पुस्तक 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी आफ लिटरेचर' की भूमिका में लिखा है—"जीवन साहित्य का उद्गम स्थान है और व्यक्तिगत जीवन में विशेष रूप से साहित्य के गूढ़ तत्त्व ढूँढे जा सकते हैं।"* इसीलिए जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य जीवन साहित्य का मूल स्रोत है और साहित्य जीवन को व्यक्त करने का साधन। जीवन में साहित्य का जो स्थान है वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना जीवन स्वयं। जीवन का कोई ऐसा भाग नहीं जिसका साहित्य ने उल्लेख न किया हो, जिसे उसने स्पष्ट व्यक्त न किया हो। वह साहित्य जो जीवन के तत्त्वों का निरूपण नहीं करता, कोई महत्त्व का स्थान और आकर्षण नहीं रखता है। साहित्यकार अपने युग की चेतना का प्रतिनिधि होता है। उसका साहित्य अपने युग की समस्त जटिल समस्याओं को हमारे समक्ष रख देता है, यद्यपि अभिव्यक्ति के रूप में भिन्नता हो सकती है। जीवन को अभिव्यक्त करने का माध्यम कहानी, उपन्यास, निबन्ध, एकांकी, यात्रा-साहित्य कुछ भी हो सकता है।

यात्रा-साहित्य की सहायता से व्यक्ति घर-बैठे यात्राओं का आनन्द लेता है। अलौकिक आश्चर्यजनक यात्राओं के वर्णन से पूर्ण यात्रा-साहित्य में मनुष्य को अत्यधिक मनोरंजन और आनन्द प्राप्त होता है। विभिन्न देशों के जैसे—मिस्र के मीनारों, लुक्सर के भग्नावशेषों, अमेरिका के विश्वविख्यात नियागरा प्रपातों और

---

* 'It is in life itself that we have to seek the Source of Literature—The ultimate secret of its interest must be sought in its essentially personnal character.'

—An Introduction to the Study of Literature—W. H. Hudson, page 11, 14 (1945)

हवाई द्वीप के अग्नि उगलनेवाले ज्वालामुखी पर्वत के गह्वरों, गगनचुम्बी प्रासादों के वर्णन पढ़ने से जितना मनोरंजन होता है, उतना सहस्र रजनी चरित्र और कथासरित्सागर-जैसे साहित्यिक ग्रंथों से भी नहीं हो सकता। पर्यटक इस प्रकार के कितने ही अद्भुत दृश्यों, पदार्थों और अद्भुत रीति-रिवाजों से अनभिज्ञ पाठक का मनोरंजन करता है और साथ ही उसे यात्रा-साहित्य की सहायता से ज्ञानवृद्धि में भी सहायक होता है।

भ्रमण ज्ञान का भण्डार है। देश-विदेश का भ्रमण करनेवाले, जिनमें निरीक्षण करने की शक्ति है, विविध प्रकार के स्थलों को देखते हैं, हजारों व्यक्तियों से उनका सम्पर्क होता है, विभिन्न ऋतुओं से वे आलिंगन करते हैं और नाना प्रकार के पशु-पक्षियों को वे देखते हैं, इस प्रकार ज्ञान का भण्डार उनके पास एकत्रित हो जाता है, जिसे वे अपनी लेखनी द्वारा लिपिबद्ध करके अपने समाज को दे जाते हैं। यात्रा-साहित्य द्वारा मनोरंजन, ज्ञानवर्धन के अतिरिक्त नवयुवकों में एक शक्ति, एक प्रोत्साहन बढ़ता है जिसके कारण वे दूसरे देशों की महत्त्वपूर्ण चीजों, जगहों को देखने के लिए लालायित रहते है, वे वहाँ की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

'चातुर्य मूलानि भवन्ति पच' में देशाटन भी है। वास्तव में सांसारिक अनेक अनुभव ऐसे हैं जो बिना देशाटन किए प्राप्त नहीं होते। इसीलिए भ्रमण-वृत्तान्तों के लिखने की प्रणाली है। अनेक देशों की सैर घर बैठे करना भ्रमण-वृत्तान्तों के आधार से होता है, उनके पढ़ने से भ्रमण-कर्त्ता के अनेक अर्जित ज्ञानों का अनुभव भी होता है।"[1] यात्रा-साहित्य के महत्त्व-वर्णन में एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि की यह युक्ति है—

देशे देशे किमपि कुतकावदभुतं लोकमानाः।
स्थाने स्थाने कृतपरिचयाः संघम भूयोप्यवाप्य ॥
संयुज्यंते सुचिरविरहोत्कण्ठिताभिः सतीभिः।
सौख्यं धन्याः किमपिदधते सर्वसम्पतसमृद्धाः ॥

अर्थात् जो लोग देश-देशान्तरों में जाकर वहाँ के चमत्कार देखते हैं, और स्थान-स्थान के लोगों से परिचय करते हुए लौटकर वियोग से उत्कंठित अपनी भार्य्या, पुत्रादि से मिलते हैं वे लोग धन्य हैं। वे धन, मान, समृद्धि से पूर्ण होकर अकथनीय सुखों का लाभ करते है।" कुछ लोग यात्रा को ही सफलता की कुंजी भी कहते हैं। अरबी में एक सुभाषित विचार है—'असफ़रो वसीलतुज्ज़फ़र' अर्थात् यात्रा सफलता की कुंजी है।

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के रामदीन रीडरशिप के भाषण से—पृ० ७१८, द्वि० सं० १९९७

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि मानव-जीवन में यात्रा का महत्त्व अत्यन्त गंभीर है। अनादि काल से वह इस मौलिक वृत्ति पर आधारित रहकर अपना विकास करता चला आया है। हम समझते हैं कि यात्रा-वृत्ति ने उसे केवल प्रगति के पथ पर ही अग्रसर नहीं किया है, उसके द्वारा उसे साहस, स्वावलम्ब, दृढ़ता, उदारता और आत्मगौरव-जैसी वृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। सांस्कृतिक एकता का एकमात्र सफल माध्यम यात्रा ही है। बिना अन्य राष्ट्रों, देशों, प्रदेशों, प्रान्तों आदि के निकट सम्पर्क में आए हम उनकी रहन-सहन, भाषा, भावुकता आदि की आत्मा को नहीं ग्रहण कर सकते। निकटता के कारण हमारी दृष्टि स्वच्छ, स्पष्ट तथा उदार होती है। हममें सहानुभूति की उत्पत्ति होती है और हम अन्य देश-जाति के लोगों के प्रति आत्मीयता का अनुभव करने लगते हैं। सारे भौगोलिक तथा अन्य प्रतिबन्ध टूट जाते हैं और वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना प्रबल हो उठती है। अतएव यात्रा का महत्त्व मानव जीवन में अनिवार्य है।

मनोरंजन भी यात्रा का उद्देश्य कहा जा सकता है, किन्तु इस मनोरंजन के मूल में हमारी तीव्र उत्कंठा विद्यमान रहती है। दूसरों को देखने, सुनने और जानने की हमारी अभिलाषा हमें यात्रा की प्रेरणा देती है। उस कौतूहल का शमन करके हमें अत्यन्त शान्ति का अनुभव होता है। ज्ञान-वृद्धि तो होती ही है। हमारे यात्रा द्वारा अर्जित ज्ञान की अभिव्यंजना भी हमारा स्वाभाविक कार्य है। यद्यपि इस अभिव्यंजना के उद्देश्य कई हो सकते हैं। कुछ लेखक केवल आत्मतुष्टि के लिए लिखते हैं, कुछ प्रचार के लिए और कुछ अर्थोपार्जन के लिए। यह निर्विवाद है कि इनमें आत्मतुष्टि के लिए लिखा गया साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ ठहराया जा सकता है। गीतकाव्य के समान उसमें भी हार्दिक भावनाओं की मुक्त अभिव्यंजना मिलती है। उनमें बौद्धिकता का इतना जोर नहीं होता जितना हृदयपक्ष का। प्रचार के लिए लिखा गया साहित्य बुद्धिवादी तो होता है, हमारी ज्ञान-पिपासा को तृप्त करता है किन्तु उसमें दृष्टि की एकांगिता भी किसी सीमा तक विद्यमान रहती है, अतः उसमें पूर्वग्रह (prejudice) का होना असम्भव नहीं है। अर्थोपार्जन के लिए लिखा गया साहित्य तो कहीं-कहीं पूर्ववर्ती रचनाओं की कोरी नकल-सा लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पूर्व यात्रियों के ग्रंथों को लेकर लेखक उनके लेखों में थोड़ा-बहुत इधर-उधर परिवर्तन करके अपने नाम से छपाता जाता है। ऐसी कृतियों में आत्मा का अभाव होना स्वाभाविक है। हिन्दी यात्रा-साहित्य के भारतेन्दु-युग में प्रथम प्रकार की कृतियाँ मिलती हैं। द्विवेदी-युग में प्रथम दो प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं ; इधर वर्तमान युग में यह अर्थोपार्जन वाली दृष्टि भी जोर पकड़ रही है।

★

परिशिष्ट

हस्तलिखित यात्रा-ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण

खोज करने पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा से हमें यात्रा-सम्बन्धी कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ भी देखने को मिलीं, जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ यथेष्ट होगा—

१. **बनयात्रा**—संवत् १६०० की बिट्ठलजी की '**बनयात्रा**' का विवरण एक हस्तलिखित प्रति में प्राप्त होता है। इस यात्रा का प्रारंभ इस प्रकार दिया हुआ है—"अथ बनयात्रा श्री गुसाँईजी महाराज प्रभु किये सो प्रकार लिखते हैं। संवत् १५०० वर्षे भाद्रपदवदि १२ श्रीगोकुल महालीला स्थलते संमर्द्दके संकोच करि शयनात्री पीछे को विजय कीने। रात्रि ही मथुरा को पधारे।[1] नन्द, यशोदा-बलिदाऊ, श्रीकृष्ण को दर्शन करि पाछे ललिताकुण्ड, बजवारी कुण्ड, छछिहारी कुंड होइ, गोपेश्वर होइ अक्रूर उतरे को स्थल देखि। पाछे ईसरा की परिवारि बेदागी की क्यारी जहाँ उद्धव ज्ञानोपदेश की राहें ब्रजभक्तन को सो देखि।[2]" ग्रंथ की समाप्ति पर इस प्रकार लिखा है—"भाद्रपसुदि ७ वन २४।। दिन ।। ११ ।। मैं श्री बिट्ठले शावन यात्रा करिये। इति श्री बनयात्रा समाप्त।"[3]

२. **बनयात्रा**—दूसरी हस्तलिखित प्रति में यात्रा-वर्णन इस प्रकार वर्णित है—"बनयात्रा[4] नामक पुस्तक, जिसके ग्रन्थकार श्री जीमनजी माँ (बल्लभ सम्प्रदायी) हैं। यह ग्रंथ १५ पृष्ठ का ही है। इसका रचनाकाल इस प्रकार दिया हुआ है—"संवत सोलै सै ना साल रे।। भादरवाव वदी द्वादसी सार रे।।"

विषय—इस ग्रंथ में ब्रज के बनों की यात्रा का वर्णन है। विषय की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसका प्रारम्भ निम्न प्रकार से है—

"अथ गायबे को ढोल बनयात्रा को लिख्यते।"[5]

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त 'बनयात्रा' हस्तलिखित ग्रन्थ, पृ० १३७ (अप्रकाशित)

२. वही—पृ० १३६

३. वही—पृ० १४०

४. वही—पृ० ६२१ (अप्रकाशित)

५. वही—पृ० ६२१ (अप्रकाशित)

ग्रंथ का अंत इस प्रकार है—

श्री बल्लभ श्री बिठलपुरी आसरे।
राख्या चरन कमल में पास रे॥
दास माँगे श्री गोकल वास।
चालो बनयात्रा नो सुख जेयेरे॥[1]

३. बनयात्रा—इसी प्रकार संवत् १६०६ की 'बनयात्रा' का वर्णन और प्राप्त होता है। इस यात्रा-ग्रंथ की लेखिका जीमन महाराज की माँ (गोकुल) निवासी हैं। इसका प्राप्तिस्थान श्री शंकरलाल समाधानी तथा स्थान—श्री गोकुलनाथजी का मंदिर, गोकुल, मथुरा दिया हुआ है।[2]

ग्रन्थ का विषय—इसमे ब्रज के विभिन्न स्थानों गोकुल, मथुरा, गोवर्द्धन, कामबन, बरसाना, नन्दग्राम, माट, वृन्दावन आदि की महिमा और पवित्रता का वर्णन है। ग्रन्थ का आदि इस प्रकार है—"श्री कृष्णायनमः श्री गोपीजन बल्लभाय नमः। अथ श्री जीमनजी महाराज के मां जी कृत गायबे की बनयात्रा लिख्यते। प्रथम श्री बल्लभ प्रभुजी ने जाणु रे, श्री गुरु देवना चरण चित्त आणु रे। ब्रज मोमिना चरी बखाणु चालौ बनयात्रा नो सुख लीजौ रे।

श्री गुसाँईजी कीधो विचार रे।
बनयात्रा करवी निरधार रे।
छै ब्रज धामनी लीला ऊपार,
श्री बिट्ठल प्रभु परम दयालु रे।
साथे लींधा श्री बल्लभ लाल।
संवत् सोल्है सै नी साल रे॥
भादवों वदि द्वादशी सार रे।
बालो उतरया श्री यमुना पार रे॥[3]

ग्रन्थ का अन्त इस प्रकार है—

हाथ जो श्री मथुरा जो मां करिया रे
बहु आनन्द रमा भरिया रे,
हवा कारज सर्वे सरियां जे कोई निसा दिन मुख थी गाए रे

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ 'बनयात्रा' पृ० १५ (अप्रकाशित)
२. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थो का १६वां त्रैवार्षिक विवरण सन् १६३५, ३७ ई० सम्पादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी २०१२ सं० पृ० १५३
३. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का १६वा त्रैवार्षिक विवरण सन् १६३५-३७ ई० सम्पादक डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी २०१२ सं० पृ० १५३-५४

बनयात्रा नो फल तेने थाये रे
ते श्री महाप्रभुजी ने सुहाये ।
सदा मन श्री गोकुल मां रहिया रे ।
श्री महाप्रभुजी ना गुण नित्त गैयेरे
श्री बिट्ठलनाथ चरण चित्त लैये
श्री बल्लभ श्री बिट्ठल प्रभु पूरी आस रे ।
राष्या चरण कमलणें पास रे,
दास मांगे छे श्री गोकुलवास चलो बनयात्रा नो सुष लीजं रे ।

इति श्री जीमन जी महाराज के मां जी कृत गायबे की बनयात्रा सम्पूर्ण । इसके अंत में विशेष ज्ञातव्य इस प्रकार दिया हुआ है—

"गोकुल के बालकृष्ण मंदिर के गुसाँइयों के वंश में जीमनजी हुए उन्हें मरे लगभग ४० वर्ष हो गए हैं । उनकी माता ने यह 'बनयात्रा' बनाई थी । गोसाइयों के यहाँ स्त्रियाँ प्रायः पढ़ी-लिखी थीं और बुद्धिमती होती हैं । ऐसी ही वह भी थीं ।" भाषा में गुजराती की स्पष्ट छाप लगी हुई है ।[1]

४. **सेठ पद्मसिह की यात्रा**—एक अन्य सेठ पद्मसिह की यात्रा का ग्रंथ प्राप्त हुआ है । इस ग्रंथ का रचयिता और लिपिकाल दोनों ही अज्ञात हैं । पर अनुमानत यह इसी आरम्भिक युग की १७०५ के बाद की ही रचना ज्ञात होती है, अतः इसका यही वर्णन किया जा रहा है । ग्रंथ का नाम 'सेठ पद्मसिह की यात्रा' है । इसके रचयिता एवं रचनाकाल का संवत् अज्ञात् है । ग्रंथ इस प्रकार है— 'श्री बीतरागाय-नमः । असद्रावादथ की सेठ पद्मसिह । यात्रा करणे वासते गया तारा तौ बाल संमत १७ स ५ के साल में अहद्राबाद था । अहमदाबाद आय अहमोदाबाद थीतारानुबोल ४ हयार कोस ।। प्रथम अहमदाबाद थी ३०० सय को० आगरा अगे ३०० स० को० लाहौर अगे १५० स को० मलतान । अग ३०० को० वद्र संहरा अगे ६०० स को० आसापुरी नगरी का बलार कोस १२ काय । आगे आसापुरी थीतारानु बोल २००० सौ कोस रया । तस का वेखा असापुरी थी । ६०० को एक पर्वतण्य पर्त के मुयर श्री गौरम स्वामि का चिरामाय आकाश में वो ही अथ २७ कुषाहन्ट ३० ।। पग के नुगुट्ठे के पुर आट्ठोशनिनर रखे ज्ञात है उनकी यात्रा करके आगे बल यातीस थी आगे ६० कोस गया तीयण्गिती लाए बड़ा मोटा आय २२ को० कांच के राल्तीस के बीच मंदर अऊतनाथ ऊ का एबिडी पर बेहकर यात्रा करने गया चिरत्माड़ी चौड़ी हाथं ६ ऊँचा हाथ १० । यात्रा करके आगे गया कोस पाचस गया तीया तिलकपुरी न गौरी आय इतस बीच मंदर २७ ।। तिसके मद भाग बीच बीच मंदर एक श्री वंदा प्रभुजी का यराति समंद रड़ी में प्रम्पराक १० । २७ य ।

१. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का १६वां त्रैवार्षिक विवरण सन् १९३५-५७ ई०
सम्पादक—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी २०१२ सं०, पृ० १५३-५४

तिसकी यात्रा करके आगे बलाया आगे ७०० को० तिलक घाटी का मुलष आया तियां एक लाबापुर पाठ इबतीया था आगे तारानुबोल मोटाल मोटाष को ४०० काखिप रायति सनगर कोट लोहकाय । राजा के मिहला का कोट बंदीकाय राजा का नाम धीरऊ महाराज यसिंग की नई राऊ करे यति या विपारी लो क करय हीरा माणक पन्ना मोती सो वारूपांऊ विहपार करेय सब लोक राजी कोद का नपुलीराषत हैं घर जातय तियक साकी चीत्रल हते नहीं धर्मी लोक तिया को० ६० नगरी एते समे ७०० जिन मंदर एतिया राजा प्रजा सब लोक जिनीव बसेरा जिन श्रुरदेव थी औरों देव को माने नहीं तिया ७० महर बीच एक मोटा मंदर एतिस मंदर के बीच तिरप्माजी का विवराण ।। ६००० हायार विरप्मा लाल माणका एस'''ह० वि० सिवेदवर्ण कीए ।। पद्मपसि० सबऊ रत्त कीरा ४० पि० सामरत्रकीण ।। ११६० वि० के सरवर्ण की यारा । ३४६६ की धीरू की यारा १२ षि० गोय निदर न कीया । प वि० सराहिटी कारा १६ वि० बाया वदण की यारा ४ पि० लाल रत्र का यारा । जंगल परमाण ६ वि० पुष राऊरज की यात्रा ।। १ एक पि० मोती का अगले परमाण । ६ वि० माशकर याश्रा अगल परमाणय ।। ४ ।। वि० हारा का यात्रा अगले परमाण २४७३५ जोड़ एक मंदर की यात्रा । आगे राजाजी के मेल वा चाणक्य, रिषभदेवजी का मंदर मार्ग नुचा को ४।। वाही एक-एक कोस को एक-एक वाही में ७४२ रंग में उनरा मंदरजो का चौक ताबाजी का यात्रा मंदरजी का कोट में था । पौ चादा जी के या । कंगर सोने के यारा पिरत्माजर का तगा सब ही रायो ता प मही जड़ा याराति सके उन्नेतिन कालका वो बसीयरा वर्णय को रत्र के कवल के बाल राजा पो । करता ए राजा वोते गुनाए जिव घर्माण साल वानरा सम्यक तीरा ऊसवतारा सर्वगुण करवि राजा भावराति स नगर मध्ये दिन ४२ रया यात्रा के वास्ते । एक महर दिष या तिस के चाच विस्मराक १६४२ सोनका एक १०५ विरत्मा कंटकरज काया ए मंदरजी ने राजा पूजा करता । गावण गीत नावटक होत है । यात्रा का फेर पीछे वरत अहा । लिपि कृत, अहमदाबाद लवामीचन्द जी के पासो उत्तरा काया ।[1]

५. **बात दूर देश की**—हस्तलिखित ग्रंथों में एक और ग्रंथ मिला है, 'बात दूर देश की' ।[2] यह ग्रंथ पूर्ण है। रूप इसका पुराना है । यह हस्तलिखित ग्रथ डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल, इंडोलौजी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के पास वर्त्तमान है । केवल इसकी सूचना एवं इसका कुछ अंश मात्र हमें काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त हो सका है जो कि इस प्रकार है—

---

१. ना० प्र० सभा, काशी में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रंथ 'सेठ पद्मसिंह की यात्रा' सम्पूर्ण (अप्रकाशित)

२. ना० प्र० सभा, काशी की अप्रकाशित हस्तलिखित रिपोर्ट के आधार पर

ग्रंथ का प्रारम्भ—"ग्रथ बात दुरदेस की लिष्यते" ।। स्वस्ति श्री ग्रनेक उपमा जोग्य पानिपंथ सुभ ग्ररषनि श्री भाई तुमसेन योग्य लिखी हैदराबाद तैं मजलिस राए ग्रगरवाले पानिपथ या श्री सबद वाचना ग्रत्रयि मैहूंर ग्रापकी यै तुमारी सुदाभली चाहिजै जीमन प्रम ग्रानंद होंएं ।।

ग्रागे हम श्री गौमठ सामिजी कै जात्रा को गए थे सो उठे बरस के बीच जात्रा कौर ग्राए एतना जात्रा ग्राए समात्ततीस का ग्रवरा श्री गौमठ स्वामी के दर्शन कीए । श्री गोमठ स्वामीजी की प्रतिमा चौडिहाथ ।।१८।। उची हाथ ५४ परवत उपर खडे । योग्य है ग्रहा ग्रद्धुत है । भागनगर तै गौमठ स्वामि कोश है । पटन है दषनि दीशा करनाटक देश मौ है ।

ग्रन्थ का ग्रन्त इस प्रकार है—समुद्र के किनारे ग्रनरगल नगर है, प्रतिमा ३०००० तथा ४०००० है बरतन लिखने मौ ग्रावतानहि इस मुल्क का राजा कनै चौन्याला ताबैका है प्रतिमा १०८ रानयालान धातकी प्रतिमा मानिक पना हिरा की है इससै वाए छोटि बड़ी नगर बन बहुतु कै ।

ग्रौरवि हमारी भावौज साथ गई थि तिसको भि दंशन भया उह जगह बहुत विकट है । उहा के लोग कहने लगे ग्राजुताई कोई हिदसातानतें ग्राया था नहि तुमको जैन की बड़ि जुरत है । बड़ि ग्रचम्भा मानने लगे यह जगह ।। विदेह छत्र माफिक है संवत् १८२० मौ जात्रा को गए थे मंजिल सराए ग्रगरवले पानिपंथिया के साथ सीमिति चैत्रे सुदी १० संवत् १८२२ मौ जात्रा करके फिरि ग्राए । इस समाचार जानियौ इहि चिठी ईसतर लिखी थी तीस की नकल लिखि ।

इति श्री देस दूर की बात संपुरर्णम सम्वत् १८८६ वार बुधवार मीती कातिग वदी २ ।। श्री श्री श्री—

विशेष ज्ञातव्य—इस प्रकार इस ग्रंथ का विषय "जैन तीर्थस्थान गौमठ का वर्णन है । लिपिकाल सम्वत् १८८६ है । रचयिता ने ग्रपना सब वृत्त तो दिया है, पर नाम का उल्लेख नहीं किया । ये सम्वत् १८२० में हैदराबाद के ग्रन्तर्गत मंजिल सराय से गौमठ की यात्रा पर गए थे । उस यात्रा में इन्हें दो वर्ष लगे ग्रौर संवत् १८२२ में वापस चले ग्राए । इस यात्रा का इन्होंने मनोरंजन के साथ-साथ बड़ा रोमांचक वर्णन भी किया है । ग्रत: यात्रा-विवरण की दृष्टि से रचना का विशेष महत्त्व है । इसके ग्रतिरिक्त यह खड़ीबोली गद्य में लिखी गई है जिससे इसका महत्त्व ग्रौर ग्रधिक बढ़ गया है ।

गौमठ स्वामी का मन्दिर दक्षिण करनाटक देश में समुद्र के किनारे एक पर्वत की चोटी पर है । यहाँ का रास्ता बड़ा विकट है । पर्वत के चारों ग्रोर दूर-दूर तक बड़े-बड़े विभावन बन हैं जहाँ हिंसक जीव ग्रधिक रहते हैं । इन्हीं जंगलों में बड़े-बड़े जैन तपस्वी तपस्या करते हैं ।

६. **बद्रीयात्रा-कथा**—इस हस्तलिखित यात्रा साहित्य के ग्रंथ का नाम 'बद्रीयात्रा कथा' है।[१] इसकी रचयिता अयोध्यानरेश बख्तावरसिंह की पत्नी हैं। '१० गुणन् ५' के आकार में, १५० छन्द के परिमाण का यह अपूर्ण और खंडित ग्रंथ है। कैथी अक्षरों में रचित इस ग्रंथ का निर्माणकाल १८८८ वि० है। श्री ला श्री कंडनाथ सिंह, धेनुगांवाबस्ती, के पास यह ग्रंथ है। ग्रंथ का आरम्भ श्री गणेशायनमः से है। दोहा—

बदरी जात्रा कथा निजकुल लिख्यते।
श्री गनपति पद बांदि जुग पुनि बंदौ गौरीश।
राम पदांबुज वंदि पुनि गुरु पहिनावों सीस ॥१॥
महाराज पद वंदौ जासु धर्म औतार।
धर्म मूर्ति दाता परम जसु गावत संसार ॥२॥
जासु दान देखत सुनत अवनीपति सकुचाहि।
मघा रूप घन बरषत जाचक भूमि अघाहि ॥३॥
महाराज भुपाल मनि, महिपालन के ईस।
नृप बखतावरसिंह जेहि, नार्वाह महिपति सीस ॥४॥
तासु रानि 'सुषदानि' जग, जात्रा कीन्ह उदार।
हरद्वार की मगकथा वरनौ हित संसार ॥५॥
फागुन सुक्ल एकादसी चन्द्रवार सुष······।
वसु वसु नाग इन्दु को संवत करहु विचार ॥६॥
गंगाजी को मदत पर, कीन्हों पृथग······।
माश रोज की मंजिल, पाचो सवन······॥७॥

ग्रन्थ का अन्त—

वास सरसव सुखकर हेता।
मास असार द्वितिया······।
करख दिन पंथहि गत कीन्हा···।
ह्वै दाखिल गौं आ······।
············।

दोप वेदकर कोस भगवदरी पुरी औ सेस।
करि दरस भगवान के कीन्हों भवन प्रवेश।
लोक मास ब्रह्माण्ड दिन लागे आवत जात।
कीन्हो दरशन प्रीति जुत प्रम्पाकि ॥
—अपूर्ण

---

१. ना० प्र० सभा, काशी से प्राप्त हस्तलिखित ग्रथ, सं० २२४ (अप्रकाशित)

इसी यात्रा-कथा के ग्रंथ पर नागरी प्रचारिणी पत्रिका के संपादक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने भी अपने कुछ शब्द इस प्रकार उद्धृत किये हैं[1]—"बख्तावरसिंह की स्त्री (सुखदानि) ये अयोध्यानरेश महाराज बख्तावरसिंह की रानी थीं। इन्होंने संवत् १८८८ में बद्रीनाथ की यात्रा की थी जिसमें इन्हें तीन मास और एक दिन लगा था, तथा जिसका इन्होंने 'बद्रीयात्रा-कथा' नामक एक पुस्तक में पद्यबद्ध वर्णन किया है। यात्रा-विवरण की दृष्टि से पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है जिससे लिपि-काल का कोई पता नहीं चलता।

ग्रंथारम्भ में रचयिता का नाम 'निज' लिखा है। यथा, "बदरीयात्रा-कथा' 'निजकृत' लिख्यते। परन्तु यह 'निज' शब्द स्वामिनी ने स्वयं अपने लिए प्रयुक्त किया है, क्योंकि वे स्वयं महाराज (अपने पति) की पद-वंदना करती हैं—

महाराज पद बन्दौं, जासु धर्म औतार।
धर्म-मूर्ति दाता परम जस गावत संसार॥

दूसरा कोई रचयिता अपने आश्रयदाता के पदों की इस प्रकार वंदना नहीं कर सकता। सुखदानि शब्द से भी रानी का नाम विदित होता है।

७. बनयात्रा परिक्रमा—'बनयात्रा परिक्रमा' नामक एक हस्तलिखित ग्रंथ भी हमें सभा मे देखने को प्राप्त हुआ। यह कुछ अधिक प्राचीन प्रति है। यह ग्रंथ ४४ पृष्ठों मे समाप्त हो गया है। इस ग्रंथ के अन्त में निम्न प्रकार से लिखा है—"संवत् १८९१ मिति कार्तिक शुक्ल १० शुभ मंगलवासरे। लिखित वैश्मश्व रामसहाय दासस्य दास:॥ शुभम् भूपति।[2] पद इसी हस्तलिखित ग्रंथ में एक दूसरा ग्रंथ भी इन्ही का लिखा हुआ लगता है, परतु उसके अन्त में लिखा है—"इति श्री हरिरायजी कृत नित्य स्त्री भावना सम्पूर्णम्[3]॥ इस प्रकार इस ग्रंथ का लेखक अज्ञात है।

८. ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा—उपर्युक्त ग्रंथ के आरम्भिक अंश से बिलकुल मिलता-जुलता एक हस्तलिखित ग्रथ हमें नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में मायाशंकर याज्ञिक के संग्रह मे भी मिला है। इस ग्रंथ का नाम 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' है।[4] यह ग्रंथ गद्य-शैली में लिखा है जिसका लिपिकाल १९०० ज्ञात होता है। इस ग्रंथ के प्रथम पृष्ठ पर लिखा है—"अथ ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा परिक्रमा लिख्यते। प्रथम श्री गोसांईजी की करी सो श्री गोकुलनाथजी अपने सेवकन सौं

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्पादक—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी वर्ष ५८, सख्या २०१०, अंक १-२, पृ० ११०-१११

२. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति 'बनयात्रा परिक्रमा' पृ० ६२०

३. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति 'बनयात्रा परिक्रमा' में संलग्न पुस्तक का, पृ० १०

४. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' ३।४६ (अप्रकाशित)

कहते ।। संवत् ।। १६०० ।। यात्रावर्णन कुछ अपने ढंग का ही है जिससे हमें यात्रा-साहित्य के प्रारम्भिक युगीन यात्राओं के लिखने का ढंग ज्ञात हो जाता है । उदाहरणार्थ, "तहाँ श्री बलदेवजी को मन्दिर है तहाँ ताके आगे माधुरी कुण्ड है । तहाँ मोरबन है । तहाँ मोर आदिक पक्षी नाना प्रकार के शब्द करते हैं । ताके आगे परासौली ग्राम है । तहाँ चन्द्र सरोवरी है । तहाँ श्री गोकुलनाथजी का मन्दिर है तथा श्री बिट्ठलनाथजी का मन्दिर है तथा श्री मदनमोहनजी का मन्दिर है । ताके आगे रुंड कुंड है ।"[1] इसी प्रकार का वर्णन सम्पूर्ण ग्रंथ में है और ६५ पृष्ठ पर परिक्रमा समाप्त है । इसके आगे ब्रज के लालवन, कमोदवन, कामवन, लोहवन आदि बनों के नाम गिनाए गए हैं और ७० पृष्ठ पर यह पुस्तक समाप्त है । पुस्तक के अन्त में लिखा है—"इति श्री कामवन के कुंडन कीर्ति गति समाप्त ।। मिती आषाढावदिण संवत् १६०० लिषंत मथुराजी रामघाट मध्ये यमुनातटे ।।[2]"

९. **बद्रीनारायण सुगम यात्रा**—उपर्युक्त आठ हस्तलिखित ग्रंथों के अतिरिक्त एक नवाँ ग्रंथ भी हमें 'बद्रीनारायण सुगम यात्रा' नाम से प्राप्त हुआ है । इसके ग्रंथकार पण्डित वाचस्पति शर्मा त्रिपाठी उपनाम 'चैत' हैं । इस ग्रंथ के प्रथम पृष्ठ पर ही त्रिपाठीजी ने लिखा है—"सब बातों का विवरण एकत्रित कर विचित्र रीति से सवर्ण कराने योग्य अपूर्व मनभावन सुखरूप जावन लेख लिख यही 'श्री बद्रीनारायण यात्रा' बड़ी पुस्तक जिसमें सम्पूर्ण मार्ग का वृत्तान्त, तीर्थों के नाम, कोसों की प्रमाण चट्टियों के निवास तथा जिस स्थान पर जो विचित्रता है, विचारपूर्वक सुगम रीति से भलीभाँति दरसाया है । केवल यह एक ही पुस्तक के पास रखने पर किसी से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं रहती । बस वही श्री (बद्रीनाथजी) के दर्शन-अभिलाषी यात्रियों के सुगमार्थ व सर्वजनों के उपकारार्थ बड़े परिश्रम से बहुत ही उत्तम प्रस्तुत किया है ।"[3] इसी प्रकार की इन्होंने कई और पुस्तकें भी लिखीं, जिसके विषय में आपने स्वयं ही लिखा है—"इसी विधि की नैमिषारण्य, अयोध्या, काशी, गया (विन्ध्यावासिनी) प्रयागराज आदि की भी यात्रा तैयार है ।"[4] लेखक ने ग्रंथ की रचना का काल भी एक श्लोक में वर्णित कर दिया है—

श्री बद्रीनारायणाख्या च सुगमांचार्य विस्तृंता ।
यांत्रा प्रबन्धु मुत्सेहे खटत्साकेन्द्र १६६६ वैक्रमे ।।

---

१. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' पु० न० ३।४६ (अप्रकाशित)

२. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' पृ० १

३. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथ 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' पृ० ७०

४. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिलित ग्रन्थ 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' पृ० ७०

पृष्ठ तीन पर उसने आरम्भिक युगीन यात्राओं के वर्णनानुसार यात्रा का वर्णन भी किया है, देखिए—"हरिद्वार पश्चिमोत्तर प्रदेश है। पहाड़ों को छोड़ श्री गंगाजी का यहीं प्रथम दर्शन है। १२ वर्ष पीछे यहीं कुम्भ का मेला होता है। हरिद्वार से आग्नेय कोण में (सूर्य कुण्ड है), २ कोस उत्तर (सप्तधारा) १ कोस पूर्व चण्डिका पहाड़ है, इसकी शिखर पर चण्डीमाता का मन्दिर है।"

इस ग्रंथ के लेखक ने प्राथमिक युगीन यात्राओं की विषम कठिनाइयों को कम करने के लिए लाभ की सारी सामग्री दिसा, कोस, देवमन्दिर का पूर्ण विवरण विभिन्न चार्टों के द्वारा दे दिया है।

★

सहायक ग्रंथों की सूची

हिन्दी के ग्रंथ

ग्रन्थ का नाम	लेखक	ग्रन्थों का संस्करण, प्रकाशन काल एवं स्थान
अमरीका भ्रमण	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रंथमाला कार्यालय, फरुखाबाद-१९४६
अमरीका दिग्दर्शन	वही	देवनागरी प्रेस, कलकत्ता-१९११
अमेरिका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी	वही	सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर-१९३७
अफ्रीका यात्रा	स्वामी मंगलानन्दन पुरी 'संन्यासी'	प्रयाग-१९२८
अजाने देशों में	विमला कपूर	साधना प्रकाशन, कानपुर-१९५५
अजाने रास्ते	डॉ० सत्यनारायण	
अरे यायावर रहेगा याद	सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'	सरस्वती प्रेस, वाराणसी-१९३६
अमेरिका में नेहरू	राजकुमार	हिन्दी प्रकाशन, वाराणसी-१९५४
अतीत से वर्तमान	राहुल सांकृत्यायन	विद्यामंदिर प्रेस, वाराणसी-१९५६
आदर्श निबन्ध	सं० डॉ० जगन्नाथप्रसाद मिश्र	वाराणसी सं० २००९
आवारे की यूरोप यात्रा	डॉ० सत्यनारायण	लहेरिया सराय, पटना-१९४०
आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका	डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	हिन्दी विभाग, प्रयाग वि० वि०
आधुनिक पत्रकार-कला	रा० र० खाडिलकर	ज्ञानमण्डल, वाराणसी-१९५३
आखिरी चट्टान तक	मोहन राकेश	प्रगति प्रकाशन, दिल्ली-१९५३

आँखोंदेखा गदर	अनु० अमृतलाल नागर	पुस्तक मिकुंज, लखनऊ द्वि० सं०-१९५७
आँखोंदेखा रूस	अनु० विष्णुदत्त 'विकल'	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-१९५३
आँखोंदेखा यूरोप	भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन'	सिन्दरी, बिहार-१९५८
आँखोंदेखा रूस	पं० जवाहरलाल नेहरू	
इंग्लैंड यात्रा	रामचन्द्र शर्मा	एजूकेशन पब्लिशिंग हाऊस, काशी-१९४१
इब्नबतूता की भारत यात्रा	अनु० मदनगोपाल	काशी विद्यापीठ, सं०-१९८८
इत्सिंग की भारत यात्रा	संतराम	इंडियन प्रेस, प्रयाग-१९२५
इक्कीस कहानियाँ	सं० राय कृष्णदास एवं वाचस्पति पाठक	प्रयाग सं० २००५
ईराक की यात्रा	पं० कन्हैयालाल मिश्र	बाँदा-१९४०
उड़ते चलो, उड़ते चलो	श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी	प्रभात प्रेस, पटना-१९५४
उत्तराखंड के पथ पर	प्रो० मनोरंजन	लहेरिया सराय, पटना-१९३६
कलकत्ता से पेकिंग	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	राजपाल एंड संस, दिल्ली-१९५६
काव्य-दर्पण	रामदहिन मिश्र	प्र० सं०-१९४७
काव्य-विमर्श	—वही—	पटना-१९५१
काश्मीर	श्री गोपाल नेवटिया	—
काश्मीर-सुषमा	श्रीधर पाठक	—
काश्मीर और सीमाप्रांत	कृष्णवंशसिंह बाघेल	भरतपुर, रीवाँ-१९४४
काश्मीर की सैर	सत्यवती मल्लिक	दिल्ली-१९५०
काशी विद्यापीठ रजत जयन्ती-अभिनन्दन ग्रंथ	—	—
किन्नर देश में	राहुल सांकृत्यायन	इंडिया पब्लिशर्स, प्रयाग १९४६
कुमाऊँ परिचय	—वही—	—

कैलाश-दर्शन	शिवनन्दन सहाय	लहेरिया सराय, पटना-१९४०
कैलाश-दर्शन	स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी	साधना कार्यालय, बीसलपुर, पीलीभीत-१९४६
कैलाश-मानसरोवर	स्वामी प्रणवानन्द	हिन्दी सा० स०, प्रयाग-१९४३
कैलाश पथ पर	रामशरण विद्यार्थी	शारदा मंदिर, दिल्ली-१९३७
खण्डहरों का वैभव	मुनिकान्ति सागर	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी-१९५३
खोज की पगडंडियों में	—वही—	—वही—
गढ़वाल परिचय	राहुल सांकृत्यायन	—
गुरुदेव के साथ यात्रा	महावीरप्रसाद	विज्ञान कार्यालय, प्रयाग-१९१९
ग़दर के फूल	अमृतलाल नागर	सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश-१९५७
घुमक्कड़ शास्त्र	राहुल सांकृत्यायन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-१९४९
चीन में १३ मास	ठाकुर गदाधरसिंह	ग्रंथागार लखनऊ-१९०२
चीनी यात्री फाहियान का यात्रा विवरण	अनु० जगन्मोहन वर्मा	नागरी प्रचा० सभा, काशी सं०-१९७७
चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण	—वही—	—वही— सं०-१९७६
जय अमरनाथ	यशपाल जैन	सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली-१९५५
जातक	भदन्त आनन्द कौशल्यायन	हिन्दी सा० सम्मेलन, प्रयाग-१९४२-४६
जापान की सैर	रामकृष्ण बजाज	सत्साहित्य, दिल्ली-१९५८
तिब्बत में तेईस दिन	कृष्णवंशसिंह बाघेल	भरतपुर, रीवाँ-१९५३
तिब्बत में सवा बरस	राहुल सांकृत्यायन	शारदा मंदिर, दिल्ली-१९३३
तिब्बत में ३ वर्ष	अनु० गुलजारीलाल चतुर्वेदी	हि० पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता-१९३२
दक्षिण भारत की यात्रा	सत्येन्द्रनारायण	दुर्गाकुण्ड, काशी-१९३५
दुनिया की सैर	योगेन्द्रनाथ सिन्हा	लहेरिया सराय, पटना-१९४१

दुनिया की सैर ८० दिन में	डॉ० परमेश्वरदीन शुक्ल	दिल्ली-१९५७
दार्जिलिंग परिचय	राहुल सांकृत्यायन	आधुनिक पु० भ०, कलकत्ता-१९५०
दिल्ली से मास्को	महेशप्रसाद श्रीवास्तव	इलाहाबाद-१९५१
देहरादून	पं० श्रीधर पाठक	इलाहाबाद-१९१५
देश-विदेश	रामधारी सिंह 'दिनकर'	उदयाचल प्रकाशन, पटना-१९५७
देश-विदेश यात्रा	संतराम	इंडियन प्रेस, प्रयाग-१९४०
द्वारिकानाथ यात्रा	धनपति लाल	ब्राह्मण प्रेस, कानपुर-१९१२
देश-विदेश	नवलकिशोर अग्रवाल	पुस्तक सदन, कलकत्ता-१९५२
नई दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	—
नेहरू अभिनन्दन ग्रंथ	—	—
नेहरू की रूस यात्रा	राजकुमार	हिन्दी प्रचारक, काशी-१९५६
नेहरू की अमरीका यात्रा	मदनलाल अग्रवाल	गर्ग एण्ड को० आगरा-१९५०
नन्दन से लन्दन	ब्रजकिशोर 'नारायण'	हिन्दी प्रचारक काशी-१९५७
निबन्ध नवनीत	प्रतापनारायण मिश्र	प्रयाग, प्र० सं०-१९११
पुरातत्व निबन्धावली	राहुल सांकृत्यायन	इलाहाबाद-१९३९
पद्मचन्द्र कोष	गणेशदत्त शास्त्री	तृ० सं०-१९२५
पद्माकर पंचामृत	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र	—
पैरों में पंख बांधकर	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	लोकसेवक प्रकाशन, वाराणसी-१९५२
पृथ्वी-प्रदक्षिणा	शिवप्रसाद गुप्त	ज्ञानमण्डल, काशी-१९१४
पृथ्वी-परिक्रमा	सेठ गोविन्ददास	आदर्श प्रकाशन, जबलपुर-१९५५
पंजाब यात्रा	पं० रामशंकर व्यास	खंगविलास प्रेस, पटना-१९०७

पथिक	पं० रामनरेश त्रिपाठी	—
बौद्धकालीन भारत	पं० जनार्दन भट्ट	—
बद्री-केदार यात्रा	लाला कल्याणचन्द्र	कानपुर, १८६०
बदरिकाश्रम यात्रा	बाबू देवीप्रसाद खत्री	लहरी प्रेस, वाराणसी, १६०२
बदलते रूस में	रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर	ज्ञानमण्डल, वाराणसी, १६५८
बदलते दृश्य	राजवल्लभ ओझा	हिन्दी भवन, इलाहाबाद, १६५४
बेनीपुरी ग्रंथावली	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	पटना
ब्रज-यात्रा	पं० विग्र मिश्र	बाँकीपुर, १८६४
ब्रज-विनोद	बाबू तोताराम वर्मा	भारतबन्धु यंत्रालय, अलीगढ़, १८८८
बदरीनाथ दर्शन	प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	संकीर्तन भवन, झूसी, प्रयाग सं० २०११
बिदेश की बात	कृपानाथ मिश्र	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १६२२
विकट यात्रा	श्री रामचन्द्र वर्मा	—
बर्नियर की भारत यात्रा	गंगाप्रसाद गुप्त	काशी, १६०५
बिहार की साहित्यिक प्रगति (सन् १६३८, १६५१ एवं १६५६ ई०)	—	—
भारत में रेल-पथ	रामनिवास पोद्दार	आदर्श प्रेस, आगरा, सं० १६८१
भारत में बुलगानिन	गोविन्दसिंह	प्रकाश-गृह, काशी, १६५६
भारत-भ्रमण (५ भागों में)	साधुचरण प्रसाद	वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६०६
भारतीय संस्कृति और उसका साहित्य	सत्यकेतु विद्यालंकार	सरस्वती सदन, मसूरी १६५६
भारत के कुछ दर्शनीय स्थान	चक्रधर हंस	लाहौर, १६४६

भू-प्रदक्षिणा	अनु० रूपनारायण पाण्डेय	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२५
भारतेन्दु-ग्रंथावली	सम्पादक ब्रजरत्न दास	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २०१२ वि०
भारती साहित्य-शास्त्र	बलदेव उपाध्याय	
मानव विज्ञान	ऋषिदेव विद्यालंकार	—
मिश्र-बन्धु विनोद	मिश्रबन्धु	गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ
मामो के देश में	रामग्रासरे	करेन्ट पब्लिशर्स, कानपुर, १९५२
मार्को पोलो का यात्रा-विवरण	अनु० रामनाथ लाल 'सुमन'	लीडर प्रेस, प्रयाग, १९३७
मानस-सरोवर और कैलास	अनु० रामचन्द्र वर्मा	ना० प्र० सभा, काशी, १९३९
महाप्रस्थान के पथ पर	अनु० हरिकृष्ण त्रिवेदी	सरस्वती प्रेस, काशी, १९४६
महारानी इंग्लैण्डेश्वरी क्वीन विक्टोरिया यात्रा	अनु० ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह	मैडिकल हाल, वाराणसी, १८७५
मेरी कैलाश यात्रा	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रंथमाला, काशी, १९१५
मेरी जर्मन यात्रा	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रन्थमाला, काशी, १९१५
मेरी पाँचवीं जर्मनी यात्रा	वही	सत्यज्ञान निकेतन, देहरादून, १९५५
मेरी योरूप यात्रा	राहुल सांकृत्यायन	साहित्य सेवक संघ, छपरा, १९३५
मेरी जीवन यात्रा	वही	किताब महल, इलाहाबाद, १९४६
मेरी लद्दाख यात्रा	वही	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३९
मेरी तिब्बत यात्रा	वही	प्रयाग, १९३७
मेरी काश्मीर यात्रा	पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त'	चौधरी एण्ड संस, काशी, १९४१
मेरी अफ्रीका यात्रा	स्वामी सत्यभक्त	सत्याश्रम, वर्धा, १९५५

मेरी दक्षिण दिग्यात्रा	पं० दामोदर शास्त्री	खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, १८८६
मेरी पूर्वदिग्यात्रा	वही	वही—१८८५
मेरी जीवन कहानी	गणेशनारायण सोमाणी	हि० सा० मन्दिर, जोधपुर, १९४८
मेरी ईरान यात्रा	महेशप्रसाद मौलवी	आलिम फाज़िल बुकडिपो, वाराणसी
मेरी योरुप यात्रा	गणेशनारायण सोमाणी	वैदिक यंत्रालय, अजमेर
मेरी दक्षिण भारत यात्रा	हरिकृष्ण झाझड़िया	—
मेरी मारीशस आदि देशों की यात्रा	स्वामी स्वतन्त्रतानन्द	वैदिक सा० सदन, दिल्ली, १९५१
मेरी अबीसीनिया यात्रा	पं० कन्हैयालाल मिश्र	काशी, १९३५
ज्ञान के उद्यान में	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रन्थमाला, ज्वालापुर, १९३७
ज्ञान की खोज में	डॉ० जगदीशशरण शर्मा	भारती सा० मन्दिर, दिल्ली, १९५७
योरुप की सुखद स्मृतियाँ	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर, १९३७
यात्री मित्र	वही	—वही, १९३६
यात्रा के पन्ने	राहुल सांकृत्यायन	साहित्य सदन, देहरादून, १९५२
युद्ध-यात्रा	डॉ० सत्यनारायण	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९४०
योरोप के झकोरे में	वही	हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९३९
योरुप के पत्र	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९४४
योरप में सात मास	धर्मचन्द सरावगी	हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, १९३६
योरुप यात्रा में छः मास	पं० रामनारायण मिश्र	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३२
राष्ट्रपति जवाहर	—	गंगा पुस्तकमाला, १९३०
राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेरू	पं० मातासेवक पाठक एवं पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा	—

राहुल यात्रावली	राहुल सांकृत्यायन	इंडिया पब्लिशर्स, १९५८
रूस में २५ मास	वही	बीकानेर, १९५२
रामेश्वर यात्रा	बाबू देवीप्रसाद खत्री	लहरी प्रेस, वाराणसी, १९१५
राह बीती	यशपाल	विप्लव कार्यालय, लखनऊ, १९५३
रोमांचक रूस में	डा० सत्यनारायण	हिन्दी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९३९
रूस की सैर	पं० जवाहरलाल नेहरू	हिन्दुस्तान प्रेस, प्रयाग
रूस की चिट्ठी	अनु० धन्यकुमार जैन	विशाल भारत पुस्तकालय, कलकत्ता १९३१
रूस-जापान युद्ध	ठाकुर गदाधरसिंह	पुस्तक प्रचारक, अजमेर, १९०५
लोहे का दीवार के दोनों ओर	यशपाल	विप्लव कार्यालय, लखनऊ, १९५३
लद्दाख यात्रा की डायरी	कर्नल सज्जनसिंह	सत्साहित्य मंडल, दिल्ली, १९५५
लन्दन की यात्रा	भगवानदास वर्मा	हरिप्रकाश यन्त्रालय, १८८४
लंका यात्रा का विवरण	गोपालराम गहमरी	चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी, १९१६
लन्दन-पैरिस की सैर	वेणी शुक्ल	इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९२६
लन्दन यात्रा	हरदेवी	ओरियंटल प्रेस, लाहौर, १९२७
लाल चीन	डा० भगवतशरण उपाध्याय	तीर्थराज प्रेस, इलाहाबाद, १९५३
विश्व यात्री	वही	ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, १९४७
विकट पथ के राही	बालकृष्ण	—
विदेश की बात	कृपानाथ मिश्र	इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९३२
विकासवाद	दयानन्द पन्त	—
वो दुनियाँ	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	आलोक प्रकाशन, बीकानेर, १९५२

सेठ गोविन्ददास	डा० रत्नकुमारी	—
सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ	सं० डा० नगेन्द्र	नई दिल्ली, १९५६
संक्षिप्त महाभारत	—	गीता प्रेस, गोरखपुर
सम्मेलन के रत्न	सम्पादक सिंहनाथ दीक्षित 'सन्त'	प्रयाग
संयुक्त प्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ	लक्ष्मीनारायण टण्डन	गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, १९४३
संयुक्त प्रान्त के तीर्थस्थान	वही	वही, १९४५
सार्थवाह	डा० मोतीचन्द्र	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, १९५३
सिद्धान्त और अध्ययन	बाबू गुलाबराय	दिल्ली, १९५१
सागर-प्रवास	पं० सूर्यनारायण व्यास	लहेरिया सराय, पटना, १९४१
सत्यलोक यात्रा	स्वामी सत्यभक्त	सत्याश्रम वर्धा, १९५२
समीक्षा शास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी	—
साहित्यालोचन	डा० श्यामसुन्दर दास	—
साहित्य-शास्त्र	डा० रामकुमार वर्मा	—
साइकिल यात्रा	जी० डी० जो ी	हिमालय पब्लिशर्स, बम्बई, १९४६
सुलेमान सौदागर का यात्रा-विवरण	अनु० महेशप्रसाद साधु	ना० प्र० सभा, काशी, १९२१
ह्युयेनच्वांग	अनु० जगमोहन वर्मा	हि० पु० एजेन्सी, कलकत्ता, १९२४
सुदूर दक्षिण-पूर्व	सेठ गोविन्ददास	आदर्श प्र० जबलपुर, १९५१
स्वप्न	पं० रामनरेश त्रिपाठी	—
स्याम देश-यात्रा	महता जैमिनी	—
स्वतन्त्रता की खोज में	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रन्थमाला, ज्वालापुर, १९३७

स्वदेश-विदेश यात्रा	सन्तराम	इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९४०
शैली	प० करुणापति त्रिपाठी	वाराणसी, १९४१
शिकार	पं० श्रीराम शर्मा	—
शिवालिक की घाटियों में	श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५३
हमारा प्रधान उपनिवेश	सेठ गोविन्ददास	१९३७
हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा	ठा० गदाधरसिंह	जूही, कानपुर, १९०३
हमारी जापान यात्रा	पं० कन्हैयालाल मिश्र	वाराणसी, १९३१
हमारी विलायत यात्रा।	केदाररूपराय एवं शिवजीराम अंगालिया	प्रभाकर प्रेस, जोधपुर, १९२६
हालैंड में २५ दिन	रा० रा० खाडिलकर	ज्ञानमण्डल, वाराणसी, १९५७
हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	ना० प्र० सभा, काशी, संस्करण सं० २०१२
हिन्दी विश्व-कोष	नगेन्द्रनाथ बसु	कलकत्ता, १९२९
हिन्दी के निर्माता	डा० श्यामसुन्दर दास	इण्डियन प्रेस, प्रयाग
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास	आचार्य चतुरसेन	दि० संस्करण, १९४९
हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास	पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	द्वि० संस्करण सं० १९९७
हिन्दी गद्य-पद्य संग्रह	संग्रहकर्ता-चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा	चतुर्थ सं०, सन्-१९१८
हिमालय परिचय	राहुल सांकृत्यायन	ला जर्नल प्रेस, प्रयाग, १९५३
हिमालय के कुछ स्थान	कृष्णवंशसिंह बाघेल	रीवाँ, १९५३
हिमालय की गोद में	महावीरप्रसाद पोद्दार	सस्ता सा० मंडल, दिल्ली-१९५४
हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का १६वाँ त्रैवार्षिक विवरण	संपादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	

हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थ

१.	बनयात्रा	विट्ठलजी
२.	बनयात्रा	जीमनजी की माँ
३.	बनयात्रा	—
४.	बात दूर देश की	—
५.	बद्री यात्रा-कथा	अयोध्या-नरेश बख्तावरसिंह की पत्नी
६.	बनयात्रा परिक्रमा	रामसहाय दास या हरिराय कृत
७.	ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा	—
८.	बद्रीनारायण सुगम यात्रा	वाचस्पति शर्मा त्रिपाठी 'चैत'
९.	सेठ पद्मसिंह की यात्रा	—

हिन्दी के अप्रकाशित ग्रन्थ

१.	सात समुन्दर पार	ब्रजकिशोर 'नारायण'
२.	यूरोप कुछ ऐसे कुछ वैसे	ब्रजकिशोर 'नारायण'
३.	भारत-भ्रमण	डा० भगवतशरण उपाध्याय
४.	सागर की लहरों पर—(६ भागों में)	डा० भगवतशरण उपाध्याय

हिन्दी की पत्रिकाएं

आलोचना		इन्दु
आकाशवाणी प्रसारिका	—दिल्ली	कल्याण
कविवचन सुधा		कौमुदी
गृह लक्ष्मी		नया पथ

गुरुकुल कांगड़ी पत्रिका		नया समाज	
चाँद	—प्रयाग	नागरी प्रचारिणी पत्रिका	—काशी
चित्रमय जगत		बुद्धिप्रकाश	
तरुण		बालक	—पटना
धर्मयुग		मर्यादा	
विश्वमित्र		मधुकर	—टीकमगढ़
विशाल भारत	—कलकत्ता	माधुरी	—लखनऊ
साप्ताहिक हिन्दुस्तान	—दिल्ली	वीणा	—इन्दौर
सरस्वती		हिन्दी प्रदीप	
सुधा		हिन्दी विश्व-भारती	—लखनऊ

हिन्दी के समाचार-पत्र

आज	—काशी	राजपूत	
हिन्दोस्थान		नागपुर टाइम्स	

संस्कृत के ग्रन्थ

अथर्ववेद		कौषीतकि उपनिषद	
अर्थशास्त्र-कौटिल्य	—सं० २००१	कथासरितसागर	—सोमदेव
अवदान शतक	१६०२	काव्यालंकार सूत्र	—वामन
अवदान कल्पलता	क्षेमेन्द्र-कलकत्ता	कुमारसम्भव	—कालिदास
अंगुत्तर निकाय		कौटिल्य अर्थशास्त्र	
अष्टाध्यायी	पाणिनि	काव्यादर्श	—दण्डी

आवश्यक चूर्णि	काव्य-प्रकाश	
तिलक मंजरी	दिव्यावदान	
दशकुमार चरित दण्डी, गणेश जनार्दन, नागेश द्वारा संपादित		
ईशागुरुदेव पद्धति	ईशान शिव गुरुदेव मिश्र	संस्कृत सीरीज (त्रिवेन्द्रम)
एतदु आसियातीक	—	पारी-१९२५
ऐतरेय ब्राह्मण	अनन्तकृष्ण शास्त्री संपादित	भास्कर प्रेस, त्रिवेन्द्रम-१९४२
कुट्टनीमतम	श्री तनसुख राय द्वारा संपादित	बम्बई-१८७५ ई०
ध्वन्यालोक	—	—
नारद महापुराण	खेमराज श्रीकृष्णदास	वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई-१९३२
बृहत् कल्पसूत्र भाष्य		
पाणिनि सूत्र		
बौधायन धर्मसूत्र		
ब्रह्मवैवर्त पुराण		
बाल्मीकि रामायण		
भागवत्		
मनुस्मृति	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित	पुस्तक मंदिर, मथुरा-१९५२
बृहत् कथा श्लोक संग्रह मार्कण्डेयपुराण	—	भास्कर प्रेस, त्रिवेन्द्रम-१९४२
महाभारत	रामचन्द्र शास्त्री	चित्रशाला प्रेस, पूना, शाके-१८५८
मिलिन्द प्रश्न	—	—
महावस्तु		
रत्नावली	हर्ष	

महाविहंस	एल० द० ला वाले पूसॉ एवं ई० जे० टाम्स द्वारा संपादित	
ऋग्वेद	वैदिक यंत्रालय, अजमेर	वैदिक यंत्रालय अजमेर-१६४१
रघुवंश	कालिदास, सुषमा मिश्री सम्पादित	विद्या विलास प्रेस, वाराणसी-१६३१
राज तरंगिणी	कल्हण	—
श्रीमदभागवत् पुराण	अनु० मुन्नीलाल	गीता प्रेस, गोरखपुर
विक्रमांक देवचरित	जी० वुहलर द्वारा संपादित	बम्बई-१८७५
वाराह पुराण	—	त्रिवेन्द्रम-१६४२
वामन पुराण	—	वही-१६४२
वासुदेव हिन्डी	डा० बी० एल० साडेंसरा का गुजराती अनुवाद	१६४६
सुभाषित रत्न भांडागार	श्रीनाथ सिंह	—
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	संग्रहकर्ता-चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसद शर्मा	१६२८
समराइच्चकहा	—	बम्बई-१६३८
शतपथ ब्राह्मण	—	अच्चयुत ग्रंथमाला, काशी-१६३७, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
शिशुपाल वध	माघ	१६४०
शिलप्पधिकारम्	बी० आर० रामचन्द्र दीक्षित अनूदित	आक्सफोर्ड प्रेस, १६३६
हितोपदेश	—	—

अंग्रेजी के ग्रंथ

Asoka	Dr. D.R. Bhandarkar	
Aina-Akbari	Francis Gladurin	Calcutta, 1885
Awadan Satak	J.S.Spair	Saint Petersburg
A Practical Sanskrit Dictionary	Arthur Anthony Macdonell	Oxford, 1924
A hundred years of War	Cyril Falls	London, 1953
Ashoka the Buddhist Emperor of India	V.A.Smith	
Ancient India and Civilization	Masson Oursel	
A Bhakti Culture in Ancient India	Bhagwat Kumar Goswami	
Apolomoius of Tayna	Fylostratos	
Ancient India as described in Classical Literature	Mc Crindle	
Amrawati Sculptures in Madras Museum	Shiv Ram Murti	Madras, 1942
An Introduction to the Study of Literature	W.H. Hudson	London, 1954
Ancient India described by Magasthenese and Aryan	J.W.Mc Crindle	London, 1877
A history of Indian Shipping and Meritime Activity from the Earliest Times	Dr.R.K.Mukerjee	London, 1912
Bhawishayata Katha	Harmon Yakovi	Mimikh, 1913
Buddhist India	Reez Davids	
Chao Takua	Fredrick Herth and W.W. Rock Hill	Saint Petersburg, 1911
Cambridge History of India	Prof. Washworn Hopkings—	
Civilization and Climate	Elsworth Hutington	1915
Dictionary of World Literary terms	T. T. Shipley	
Dictionary of Pali proper Names	Dr. G.P.Malalasekera,	London 1938
Early Travels in India	W.Faster	London, 1921
Early History of India	V.A.Smith	
Epocraphica Indica		
Encyclopaedia Indica	Nagendra Nath Vasu	Calcutta, 192[illegible]
Encyclopaedia Britanica	University of Chicago	1946 Edition
Fahien	Beal	

Geographical and Economical Studies in Mahabharat	Dr.Moti Chand	
Gilgit Manuscripts		
Heringham	Ajanta	
History of Aryan Rule in India	E.B.Havells	Madras, 1942
Hiuen Tsangs Accounts	Thomas Watters	
Hindu Tales	Myers	
History of India as told by Its historians	Eliot & Dasan	
India	Sachau	
India of Aurangzeb	Dr. Jadunath Sarkar	Calcutta, 1901
Indian Economics	K.P.Jain	
Introduction to Philosophy	G.T.W.Patrick	
Indian Recreans	William Tenant	Edinbara, 1803
Journey through the Kingdom of Oudh	Major Sliman	
Jain Sutra		
Law Caino Buddhick and China	C.C. Bagchi	
Local Government in Ancient India	Dr. R.K. Mukerjee	
Modern Prose Style	Bonamy Dobree	Oxford, 1944
Magasthenese	Mc Crindle	London, 1928
Narrative of a Journey through The Upper Provinces of India	Reginold Heber	London, 1928
Oriental Memorres	James Forbes	London, 1834
On Yuan Chwang	Thomas Watters	Edited by T.W.R. Davids & S.W. Bushell, 1904
Railwary Transportation	Rape	
Pre Historic India	Stuart Piggott	London, 1950
Rambils and Recollections	Major Sliman	London, 1915
Railway Legislation	Myer	
Sanchi	Sir John Marshall	
Sketches of the Hindus		
Sanskrit-English Distionary	Theodore Benjey	London, 1866
Some Aspects of the Earlier Social life of India	S.C. Sarkar	
Style	F.L. Lucas	London, 1955
Style	Walter Raleigh	London, 1918
Travels of Fahien	James Legay	Oxford, 1925, London

Travels	J.B. Tavernier	London, 1925
The Tatak	E.B. Cowell	Cambridge, London, 1895
Travels	Giles Version	Do 1923
The British Railway System	Henry Grote Lewin	London, 1914
Transportation	Dr. Truman C. Bigham & Dr. Merill J. Roberts	2nd Edition London, 1952
The Rail Roads of the Confederacy	Black	
The Northern Rail Roads in the Civil War	Waber	
Types of Philosophy	Hoking	
The Regions of the World	T.H. Holdich	1904
The Commerce between Roman Empire and India	E.H. Waington	Cambridge, 1928
Travels in the Moghal Empire	Francois Bernier Revised by V.A. Smith	2nd Edition Oxford London, 1916
The Greeks in Bactria and India	W.W. Torn	Cambridge, 1938
The Cambridge History of India	Professor A.V. William	Jackson
The Indus Valley Civilization	Dr. Mekey	
Thoughts on the Effects of the British Government of the State of India	William Tenant	Adinbara, 1807
The Periplus of Arithrian Sea	W.H. Shoff	New York, 1912
The Rise and the Growth of Hindi Journalism	Dr.R.R, Bhatnagar	Allahabad, 1948
The Problem of Style	J.M. Murry	
The Encyclopaedia Americana Vol. 30		New York, 1947 Edition
The London Book of English Prose	Herbert Read Bonamy Dobree	1931
Vadic Index	Max Muller	
Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious System	R.G. Bhandarkar	
What happened in History	Garden Childe (Pelican Books).	

अंग्रेजी की पत्रिकाएँ

Indian Historical Quarterly	Volume 14	Calcutta
Journal of Bihar and Orissa Research Society		1916 & 1917
Journal of the Uttar Pradesh Historical Society	Volume 14	Lucknow

अंग्रेजी के समाचार-पत्र

Advocate	Lucknow	1 May, 1902
The Indian Mirror	Calcutta	22 April, 1902
Hindu	Madras	
Tribune	Bombay	24 February, 1952

★